मुनिवर्यजिनदत्तसूरीश्वरप्रणीत

विवेकविलास

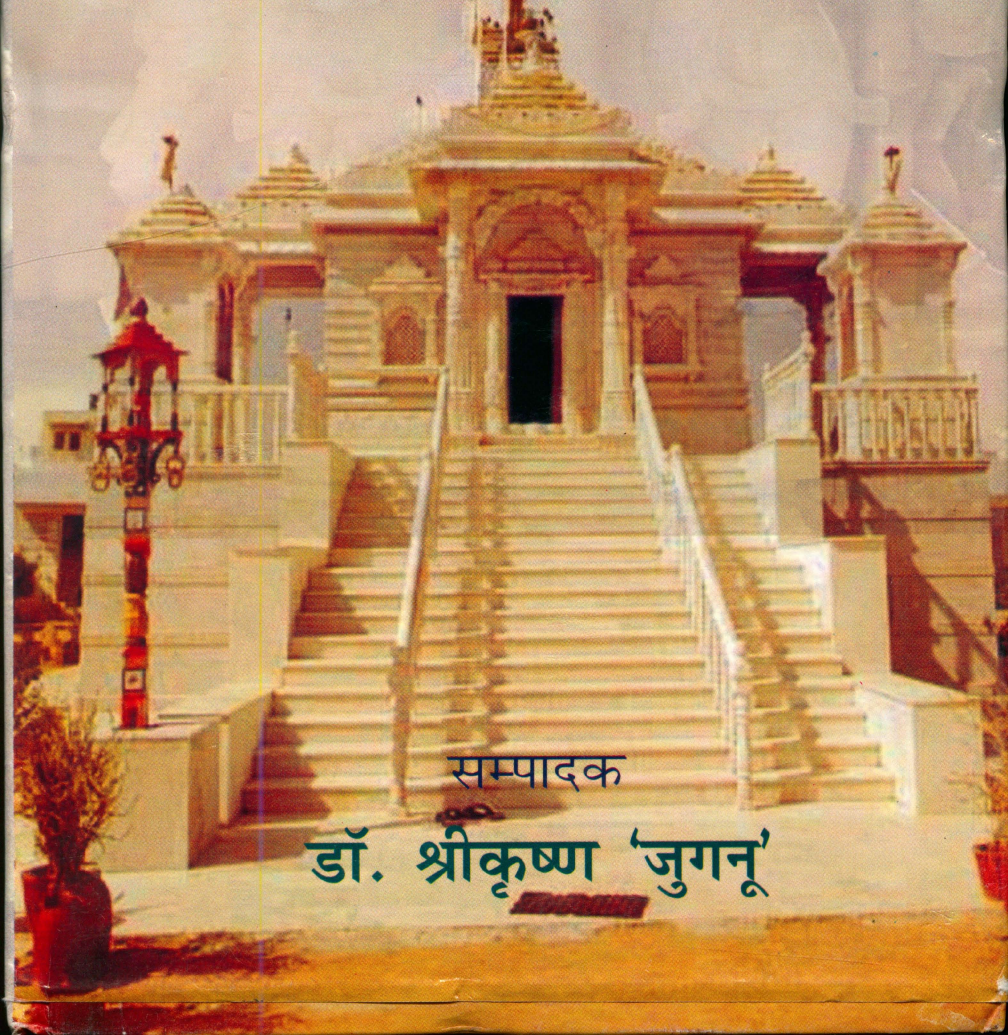

सम्पादक

डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू'

श्रीमद् जिनदत्तसूरि विरचित 'विवेकविलास' में सर्वोपयोगी, सार्वभौम सिद्धान्तों को महत्व दिया है। विवेकविलास बहुपयोगी ग्रन्थ है। इसमें 12 उल्लासों में कुछ 1327 श्लोक हैं। अनुष्टुप श्लोकों के अतिरिक्त उपसंहार के रूप में उपजाति व अन्य छन्दों का प्रयोग हुआ है। इसमें दिवस के विविध प्रहरों में करने योग्य श्रावकाचार का वर्णन हैं किन्तु स्वप्नविचार, शुद्धि-शौचाचार, प्रश्न व स्वर-नाड़ी विचार, ज्योतिष, सामुद्रिक, देवमन्दिर निर्माण, प्रतिमा लक्षण, जीर्णोद्धार, वास्तु कार्य के लिए भूमि परीक्षा, स्वामी-सेवक लक्षण, उद्यम प्रशंसा, भोजन विधि, सन्ध्याकाल विचार, शयन विधि, घटीयन्त्र, विष परीक्षा, विवाहावसर पर वर वधू लक्षण, ग्रीष्मादि षड् ऋतु वर्णन, वर्षचर्या, श्राद्ध, वास्तु और शुद्ध गृहकर्म, गृहार्थ योग्यायोग्य वृक्ष व उनके फल, शिष्यावबोध व कलाचार्य व्यवहार, सर्पदंश के सम्बन्ध में विष के परिणाम पर वार, नक्षत्र, राशि, दिशा, दूतानुसार विचार, रत्न, षड्दर्शन परिचय, देखने के योग्यायोग्य वस्तुएँ, परदेश गमन के नियम, मन्त्रणा विचार, जाति क्लेश व उसके परिणाम तथा एकात्म रहने के फल, संक्षेप में धर्मोपदेश, ध्यान-समाधि, ब्रह्मचर्य, आत्मा-जीव, तत्त्व, चार्वाकों के मतों की खण्डना, अन्तकाल में देह त्याग, समाधिमरण आदि प्रभूत वर्णन हुआ है। प्रशस्ति में वायडगच्छ एवं समकालीन नरेशादि, उपदेशश्रवणकर्ता का नामोल्लेख किया गया है। प्रत्येक उल्लास के अन्त में उपसंहार और उल्लास के विषयों की जीवन में उपयोगिता, अनुकरणीय निर्देश इस ग्रन्थ की अन्यान्य विशेषता है।

शेष अगले फ्लैप पर...

श्रीमद् जिनदत्तसूरीश्वरप्रणीत

विवेकविलास

(ज्योतिष, वास्तु-शिल्प, अङ्गविद्या, स्वरविद्या, हस्तरेखा,
षड्दर्शन, विषचिकित्सा, योग-ध्यान एवं विविध दिनचर्या
व्यवहारोपयोगी प्राचीन लक्षण-संहितात्मक ग्रन्थ)

[मोहनबोधिनीटीका सहित]

सम्पादक एवं अनुवादक
डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू'

सहयोग
अनुभूति चौहान
अनुकृति चौहान

आर्यावर्त संस्कृति संस्थान
दिल्ली-110094

ISBN : **81-903483-8-8**

© : *डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू'*

प्रकाशक : **आर्यावर्त संस्कृति संस्थान**
डी-48, गली नं. 3, दयालपुर
करावल नगर रोड,
दिल्ली-110094

मूल्य : 450.00 रुपये

द्वितीय संस्करण : 2014

शब्द-संयोजन : मुस्कान कम्प्यूटर्स
कर्दमपुरी, दिल्ली-110094

मुद्रक : बी. के. ऑफसेट
दिल्ली-110032

Shrimad Jindattasuri's

VIVEK VILAS

(Along with text & Mohanbodhini Hindi commentaries)

Edited with own sufficient Notes & translation

By

Dr. Shri Krishan "Jugnu"

Assisted-

Anubhuti chauhan

Anukriti chauhan

ARYAVARTA SANSKRITI SANSTHAN

DELHI -110094

ISBN : **81-903483-8-8**

© : *Dr. Shri Krishan "Jugnu"*

Publisher : **Aaryavarta Sanskriti Sansthan**
D-48, Gali No. 3, Dayalpur
Karawal Nagar Road,
Delhi-110094

Price Rs. : 450.00 only

Second Edition : 2014

Printer : B. K. Offset
Naveen Shahdara, Delhi-110032

दो शब्द

'विवेकविलास' एक अद्भुत ग्रन्थ है। इसमें जीवन के नानों विषयों का सम्यक् परिपाक हुआ है। गृहस्थ से लेकर साधु जीवन तक के निर्देश इस ग्रन्थ के 1327 श्लोकों में गुम्फित है। प्रहर से लेकर वर्ष और जीवनचर्या तक इसमें आ गई है। इसके सम्यक् अध्ययन के बाद यह विचार सहज ही बन जाता है कि इसमें गागर में सागर है। मुनिवर्य जिनदत्तजी के जीवन का यह सारवाक्यवत् है। इसीलिए इसे क्या जैन और क्या अजैन– लोकाश्रित और राज्याश्रित सभी छोर पर ज्ञानियों ने बहुत आदर और सम्मान दिया है।

कुछ वर्षों पूर्व जब मैं सूत्रधार मण्डन के वास्तु ग्रन्थों पर कार्य कर रहा था, वास्तुमण्डनम् में 'विवेकविलोसेपि' सङ्केत देखकर चौंक गया। सोचा कि यह कौनसा ग्रन्थ है? फिर, इसके कई सारे उद्धरण प्रभाशङ्कर ओघड़भाई सोमपुरा, भगवानदास जैन आदि ने अपने वास्तुविषयक ग्रन्थों में दिए हैं। इसके कई उद्धरण लक्षण प्रकाश में भी देखने को मिले तो इसे देखने की प्रबलतर इच्छा हुई। कई ग्रन्थालयों में इसकी खोज शुरू की। जयपुर की प्राकृत भारती और लालभवन, अजमेर स्थित दादाबाड़ी से लेकर अन्यत्र जहाँ भी इसकी सम्भावना थी, पता किया किन्तु विफलता ही हाथ लगी। 'षड्दर्शन समुच्चय' के सम्पादक की भूमिका से पता चला कि यह ग्रन्थ बहुत पहले, 1919 ई. में आगरा के बेलनगंज स्थित सरस्वती ग्रन्थमाला कार्यालय से प्रकाशित हुआ है किन्तु उक्त कार्यालय अब नहीं रहा। फिर, अहमदाबाद के कुछ मित्रों ने बताया कि यह गुजराती टीका सहित विक्रम संवत् 1954 में डायमण्ड जुबली प्रेस और केवल गुजराती में मेघजी हीरजी बुक सेलर, मुम्बई से 1923 ई. में प्रकाशित हुआ, लेकिन इन दिनों कहीं देखने में नहीं आता। वहाँ के चोपड़ी बाजार के ईश्वरभाई लालजीभाई मर्थक के पुनीतभाई मर्थक से उक्त दोनों प्राचीन पाठ सम्भव हुए। ज्यों-ज्यों अपनी खोजबीन में विलम्ब हुआ, जिज्ञासा बढ़ती ही गई।

इसी बीच, उदयपुरस्थ राजस्थान विद्यापीठ के पाण्डुलिपि विभाग में इसकी एक हस्तलिखित पाण्डुलिपि का पता लगा जो कि गुजराती टीका सहित थी और

बहुत त्रुटिपूर्ण थी। ऐसी अकेली मातृका से ग्रन्थ का सम्पादन सम्भव भी नहीं था। कुछ सन्तों से चर्चा तो कुछ से पत्राचार भी किया किन्तु अपेक्षित सफलता नहीं मिली। एक दिन मैंने कोबा (अहमदाबाद) स्थित कैलाशसागर सूरि ज्ञान मन्दिर को पत्र लिखा तो उत्तर मिला कि यह ग्रन्थ आगरा से छपा है, वहाँ से जो पता मिला, उस पर पत्र लिखा जो लौट आया। मैंने उक्त लौटा हुआ पत्र लेकर अपने एक परिचित को कोबा भेजा तो वहाँ से उक्त पाठ की छाया प्रति प्राप्त हुई–इस प्रक्रिया में लगभग चार वर्ष लग गए। इस पाठ में कई गड़बड़ियाँ थी, इसके प्रबन्धकर्ता की टिप्पणि थी 'इस ग्रन्थ में प्रेस की असावधानी तथा उस समय ग्रन्थ की छपाई का कार्य जबकि आगरे में महाभयानक संक्रामक इन्फल्यूएंजा ज्वर का प्रकोप था, प्रबन्ध में गड़बड़ हो जाने के कारण यत्र-तत्र अशुद्धियाँ रह गईं...।' इसके श्लोक तो अशुद्ध छपे ही, श्लोकों की पुनरुक्ति भी हुई, कहीं के श्लोक कहीं लग गए। कुल मिलाकर चार पाठों से इस ग्रन्थ का उद्धार सम्भव हो सका।

न जाने क्यों मैं इसके सम्पादन का सङ्कल्प कर चुका था। अज्ञात प्रेरणाओं ने बल दिया और कम्प्यूटर पर पाठ, अर्थ आदि तैयार कर इसकी भूमिका की तैयारी की तो इसके श्लोकों के साथ-साथ ही पाद टिप्पणियाँ लिखता गया। बाद में यह सोचा कि यदि टिप्पणियों को अलग निकालकर इसकी विषय-वस्तु की तुलना ही करता चला गया तो यह ग्रन्थ मूल से कहीं अधिक बृहत्काय हो जाएगा और इसमें समय भी पर्याप्त लगेगा। इसी बीच यह प्रेरणा भी मिली कि जितना और जिस रूप में हो गया, उसे लोक-करकमलों में सौंप दिया जाए, इसी रूप की आवश्यकता है...।

सच कहूँ तो मैं शुरू-शुरू में इसे केवल वास्तु-शिल्प का ग्रन्थ ही समझ रहा था किन्तु जब कार्य आरम्भ करने बैठा तो यह पूरा संहितात्मक ग्रन्थ निकला, एक नई पूरे शताधिक विषय। यह अच्छा ही था कि ज्योतिष की संहिताओं और पुराण-धर्मशास्त्र पर मेरी पूर्व में ही न्यूनाधिक रुचि थी। अर्थ के साथ-साथ सन्दर्भों का आलोक होता चला गया, जहाँ कहीं श्लोक कम लगे वहाँ अन्य ग्रन्थों से श्लोक उद्धृत किए गए– प्रस्तुत पाठ इसी श्रम की देन है। मैंने इस सन्दर्भ-श्रम की आवश्यकता इसलिए भी मानी कि इस विस्तार के अभाव में न तो जिनदत्तजी की विद्वता का मूल्याङ्कन होगा और न ही इस ग्रन्थ के गाम्भीर्य और विराट वैभव की कल्पना हो सकेगी। रचना के लगभग साढ़े छह सौ वर्षों बाद विवेकविलास को न केवल अर्थ वरन चित्र सहित नानाङ्गों से परिपूर्ण कर प्रकाशन का यह प्रयास किया जा रहा है।

एक प्रणयनकर्ता के लिए किसी कृति का सम्बन्ध पिता-पुत्रवत् होता है, मेरा इस ग्रन्थ के साथ सम्पोषक-सा नाता भर है, यह ग्रन्थ मुझे बहुत प्रिय लगा, एक-एक शब्द को मैंने पूर्व-पुकार मानकर, उसको आत्मसात् कर परिभाषित करने और व्यापक फलक देने का प्रयास किया है। इसमें मेरा कुछ भी नहीं है—*भग्नपृष्ठि कटिग्रीवा बद्धमुष्टिरधोमुखम्। कष्टेन लिखितं शास्त्रं यत्नेन परिपालयेत्॥ यादृशं पुस्तके दृष्ट्वा तादृशं लिखितं मया। यदि शुद्धमशुद्धम वा मम दोषोमदीयताम्॥* इसको प्रकाशन सहित बहुपयोगी बनाने का प्रयास मेरी प्राथमिकता में रहा है। अतएव अधिकांश श्लोकों को एकाधिक मतों के साथ विश्लेषित भी किया गया है और यत्र-तत्र सम्बन्धित विषयों के लिए अन्य उपयोगी ग्रन्थों का सङ्केत भी किया है। इस कार्य में जिन ग्रन्थों का उपयोग हुआ, वे मेरे संग्रह में हैं और उनकी सूची अन्त में दी गई है। उनके प्रकाशकों, सम्पादकों के प्रति आभार।

इसके सम्पादन-अनुवाद, टङ्कण, त्रुटिशोधन आदि कार्यों में मुझे सहधर्मिणी **पुष्पा चौहान से यथेष्ट सहायता** मिली। दोनों पुत्रियों आयुष्मती अनुभूति चौहान एवं **अनुकृति चौहान ने बहुत** श्रम किया। अनुज अरविन्द चौहान और पुत्र गौरव चौहान से भी पर्याप्त मदद मिली है। परिजनों को धन्यवाद कहना बहुत लघु लगता है, मैं सबके स्नेहाधीन हूँ। इसके प्रकाशन का दायित्व आर्यावर्त संस्कृति संस्थान के संचालक भाईश्री गोविन्दसिंहजी ने ग्रहण किया है, वे धन्यवादार्ह है। उनके निरन्तर आग्रह पर मेरा पूरा परिवार इस ग्रन्थ के उद्धार की दिशा में सचेष्ट रहा।

इसका पाठ उपलब्ध करवाने के लिए मैं विद्यापीठ और कोबा स्थित ज्ञान मन्दिर के संचालकगणों का आभारी हूँ और हाँ, यदि मुनिजी का परिचय जुटाने में प्राकृत भारती, जयपुर के सञ्चालय श्रद्धेय महामहोपाध्याय विनयसागरजी सङ्केत नहीं करते तो सफलता नहीं मिलती, उनके प्रति भी आभार...। विद्वज्जन इसका समादर करेंगे और अपनी सम्मति प्रदान करेंगे- *गच्छतः स्खलनं क्वापि भवेत्येव प्रमादतः। हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥*

विदुषां वशंवदः

श्रीकृष्ण 'जुगनू'

40-राजश्री कॉलोनी, विनायकनगर,
उदयपुर (राजस्थान)
2 अक्टूबर 2006 ई.

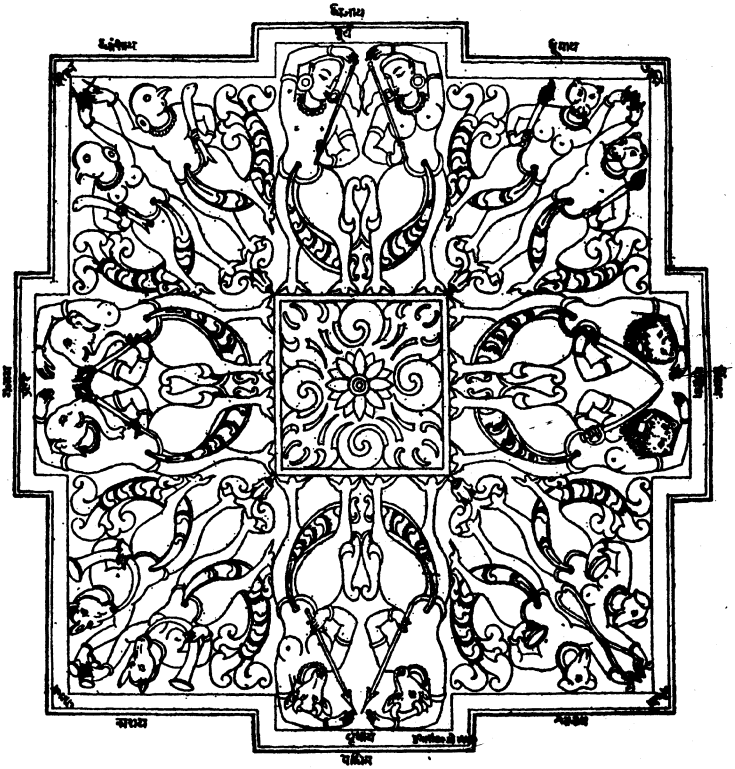

जिनदत्त सूरि और विवेकविलास

मध्यकालीन जैन महापुरुषों में आचार्य जिनदत्त सूरीश्वर का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। उनका 'विवेकविलास' सर्वविद्यानुशासन का दिग्दर्शक ग्रन्थ माना जाता है। हालांकि नाम साम्य अन्य जिनवल्लभसूरी के शिष्य आचार्य जिनदत्तजी भी प्रसिद्ध हुए हैं किन्तु विवेकविलासकार जिनदत्त सूरि का जीवन परिचय बहुत कम ही ज्ञात है। आगरा से 1919 ई. में निकले इस ग्रन्थ की संक्षिप्त भूमिका में यह जानकारी मिलती है कि अणहिलपुर पाटन के पास वायुदेवताधिष्ठित 'वायट' नामक एक महास्थान है। वहीं से 'वायट' अथवा 'वायड' गच्छ की उत्पत्ति हुई है। वायडगच्छ का मूलपुरुष कौन था, यह निश्चित तौर पर कहा नहीं जाता किन्तु वे श्रीजिनदेवसूरि हो ऐसा अनुमित किया जा सकता है क्योंकि उनके पूर्व का अपेक्षित इतिहास नहीं मिलता।

जिनदत्त सूरि : जीवनक्रमार्थ बाह्य-अन्तःसाक्ष्य –

यह प्रसिद्ध है कि श्रीराशिल्लसूरीन्द्र और जीवदेवसूरि सांसारिक अवस्था में इसी वायट में महीधर और महीपाल नामक श्रेष्ठिपुत्र थे। महीपाल ने खेल-क्रीड़ादि में समय बीता दिया, कोई उद्यम नहीं किया, इसलिए उसके पिता धर्मदेव ने उसको निकाल दिया। इसके बाद, राजगृह में दिगम्बर सन्त श्रुतकीर्ति गुरु से दीक्षा लेकर सुवर्णकीर्ति आचार्य हुआ और गुरु से 'परकाय प्रवेश और चक्रेश्वरी विद्या' को सीखा। महीधर भी उसके पिता के देहोत्सर्ग के बाद इसी वायटगच्छ के श्रीजिनदेवसूरि के सन्तान में श्रीराशिल्लसूरि हुए। राजगृह से आते हुए लोगों के मुँह से सुवर्णकीर्ति का वृत्तान्त सुनकर उसकी माता वहाँ गई और दोनों भाइयों को एक ही धर्ममार्ग के उद्देश्य से समझाकर 'वायट' में लाई जहाँ बाद रसवती प्रयोग से दोनों भाइयों की परीक्षा ली। माता के वचन को स्वीकार कर सुवर्णकीर्ति ने श्वेताम्बर दीक्षा ली और 500 शिष्यों वाला श्रीजीवदेवसूरि हुआ। उनके कुल में ग्रन्थकार श्रीजिनदत्तसूरि आचार्य वर्ग में प्रसिद्ध हुए।

बाह्य साक्ष्यों से ज्ञात होता है उनके शिष्य महाकवि अमरचन्द्रसूरि हुए जिन्होंने वैदर्भी रीति में 18 पर्वों और 44 सर्गों में लगभग सात हजार पद्यों में 'बाल

महाभारत' की रचना की।[1] अमरचन्द्र अपनी प्रतिभा तथा आशुकवित्व के लिए विद्वद्गोष्ठी में पर्याप्त रूप से विश्रुत है। वे श्वेताम्बर मतानुयायी जैन महाकवि थे। उन्होंने गुरु के रूप में जिनदत्तजी का स्मरण किया है।[2] अमरचन्द्र के ही समकालीन अरिसिंह हुए। दोनों ही कवियों में बड़ा सौहार्द था जिसके फलस्वरूप अमरचन्द्र ने 'सुकृतसङ्कीर्तन' के प्रत्येक सर्ग में चार नए पद्यों की रचना कर जोड़ा है। साहित्य-जगत में इन दोनों की सम्मिलित रचना 'कवि कल्पलता' है।

इसके अतिरिक्त अमरचन्द्र ने 'पद्मानन्द महाकाव्य' की रचना भी की है जिसमें प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव का वर्णन है। अमरचन्द्र की अलौकिक वैदुषी, आशुकवित्व तथा प्रखर तेजस्विता के अनेक आख्यान प्रभावक चरित और प्रबन्धकोष (रचनाकाल 1405 विक्रमी, 1348 ई.) में तो अमरचन्द्र के विषय में सारस्वतमन्त्र की सिद्धि बताने वाला एक स्वतन्त्र प्रबन्ध ही पाया जाता है। इनकी 'वेणीकृपाण' उपाधि रही है।[3] कवि अमरचन्द्र गुजरात के चालुक्यवंशी प्रतापी नरेश वीसलदेव के सभाकवि थे जिनका समय विक्रमी 1300-1320 (तद्नुसार 1243-1263 ईस्वी) माना जाता है। वीसलदेव के विश्रुत प्रधानामात्य वस्तुपाल भी अमरचन्द्र के उपदेशों को सुनने के लिए उनके पास जाया करते थे। ऐसे में अमरचन्द्र का समय 13वीं सदी का मध्यकाल (1220-1270 ई.) माना जा सकता है।[4]

उक्त सङ्केत से इस अनुश्रुति की प्रामाणिकता सिद्ध होती है कि अमरचन्द्र कवि, गुजरात के राजा विसलदेव के दरबार में उसके बुलाने से धोलका-गुजरात आए थे। विसलदेव ने गुजरात पर अणहिलवाड़ में रहकर संवत् 1300 से 1317 तक राज्य किया। उसके पहिले वह संवत् 1295 में धोलका की गादी पर बैठा था। विसलदेव के काल में अमर कवि धोलका आए थे और श्रीजिनदत्त सूरि उनके गुरु हुए तो तेरहवीं शताब्दी में श्रीजिनदत्तसूरि का होना निर्धारित करें तो अनुचित नहीं होगा।

---

1. काव्यमाला (निर्णयसागर, मुम्बई 1894; ग्रन्थाङ्क 45) में प्रकाशित
2. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ 210, 277 एवं 304
3. कवि ने बालभारत में वेणीकृपाण उपमा का प्रयोग किया है कि महादेव ने कामदेव को भस्मीभूत तो कर दिया किन्तु दधि मथती हुई रमणियों की वेणी को इधर-उधर घूमती देखकर यही प्रतीत होता है कि कामदेव वेणी के रूप में तलवार चला रहा है। शिवजी के द्वारा पराभूत हुए अपने बाणों को छोड़कर मदन ने यह नवीन और अधिक समर्थ व तीव्र प्रहार करने वाला आयुध धारण किया है — दधिमथनविलोलल्लोलहस्तवेणिदम्भात् अयमदयमनङ्गो विश्वविश्वैकजेता। भवपरिभवकोपत्यक्तबाणः कृपाणश्रममिव दिवसादौ वयक्तशक्तिर्व्यनक्ति॥ (बालभारत. आदिपर्व 11, 6)
4. बलदेव उपाध्याय : उपर्युक्त, पृष्ठ 252

इसके अतिरिक्त, यदि विवेकविलास के अन्तःसाक्ष्यों पर विचार करें तो ज्ञात होता है कि यह रचना जाबालिपुर (वर्तमान जालोर, राजस्थान) के दुर्ग में रची गई। उस समय जालोर का शासक सोनगरा चौहान उदयसिंह था। ग्रन्थ की पुष्पिका में आया है कि चाहुमान (चौहान) वंशरूप सागर को उल्लास देने के निमित्त चन्द्रमा के समान उदयसिंह नामक जाबालिपुर का राजा है। उक्त उदयसिंह भूपति का बहुत विश्वासपात्र और उसके भण्डार की रक्षा करने में निपुण 'देवपाल' नामक महामात्य है, जो बुद्धिरूप नन्दनवन में चन्दन जैसा अर्थात् बड़ा बुद्धिशाली है। सभी धर्मों का आधार, ज्ञानशाली लोगों में अग्रगण्य, समस्त पुण्यों का वासस्थल, समस्त सम्पदाओं का आकरस्थल– ऐसा पवित्र, बुद्धिमान, विवेक से विकास प्राप्त करने वाले मन का धारक और वायड वंश में उत्पन्न हुआ 'धनपाल' नामक देवपाल का प्रसिद्ध पुत्र हुआ। धनपाल के मन को सन्तुष्ट करने के निमित्त श्रीजिनदत्त सूरि ने इस 'विवेकविलास' ग्रन्थ की रचना की है।[1]

ऐतिहासिक साक्ष्य बताते हैं कि उदयसिंह के चार अभिलेख मिले हैं जो क्रमशः 1205 ई., 1217 ई., 1248 ई. और 1249 ई. के हैं।[2] इस आधार पर उसका समय 1205 ई. से 1249 ई. तक निर्धारित होता है किन्तु खरतरगच्छ पट्टावली के प्रकाश में आने पर उदयसिंह का काल लगभग 8 वर्ष और आगे बढ़ जाता है।[3]

डॉ. हुकुमसिंह भाटी का मत है कि यह अपने समय का शक्तिशाली शासक था। उसने चौहान वंश की खोई हुई सत्ता को पुनः अर्जित करने के लिए विस्तारवादी नीति का सहारा लिया और उत्तर-पूर्वी मारवाड़ में मुस्लिम सेनाओं पर टूट पड़ा व अपने को एक बृहद् साम्राज्य का स्वामी बना लिया। गुलामवंशीय दिल्ली का शासक इल्तुतमिश भी पूरी तरह इस चौहान शासक की शक्ति को नहीं तोड़ सका।[4]

---

1. यथा— चाहुमान्वयपोथोधि संवधर्नविधौ विधुः। श्रीमानुदयसिंहोऽस्ति श्रीजाबालिपुराधिपः॥ तस्य विश्वाससदनं कोशरक्षाविचक्षणः। देवपालो माहामात्यः प्रज्ञानन्दनचन्दनः॥ आधारः सर्वधर्माणामवधिर्ज्ञानशालिनाम्। आस्थानं सर्वपुण्यानामाकरः सर्वसम्पदाम्॥ प्रतिपन्नात्मजस्तस्य वायडान्वयसम्भवः। धनपालः शुचिर्धीमान् विवेकोल्लासिमानसः॥ तन्मनस्तोषपोषाय जिनोद्यैर्दत्तसूरिभिः। श्रीविवेकविलासाख्यो ग्रन्थोऽयं निर्ममेऽनघः॥ (विवेकविलास पुष्पिका 5-9) प्रसिद्ध विद्वान् अगरचन्द नाहटा, बीकानेर ने धनपाल का नाम धर्मपाल माना है। (शोधसाधना, सीतामऊ 1982 में प्रकाशित लेख पृष्ठ 26)
2. बॉम्बे गजेटियर भाग 1, पृष्ठ 474-476 तथा एपीग्राफिया इण्डिका 11, पृष्ठ 55-56
3. डॉ. दशरथ शर्मा : अर्ली चौहान डायनेस्टीज् पृष्ठ 167
4. सोनगरा व साञ्चोरा चौहानों का इतिहास पृष्ठ 41-42

इस काल में जालोर ज्ञान-विज्ञान का बड़ा केन्द्र था। डॉ. दशरथ शर्मा का मत है कि जालोर नरेश उदयसिंह का मन्त्री यशोवीर था जिसके साथ उसका दरबार बहुत बड़े बुद्धिजीवियों का केन्द्र था। यदि उदयसिंह स्वयं इतना उच्च कोटि का तत्त्वदर्शन, तर्कशास्त्र और महाभारत जैसे विश्व-ज्ञानकोष का विद्वान न होता तो यह केन्द्र भी एक मध्य-श्रेणी का ही होता। उदयसिंह की कीर्ति एवं यश को देखने के लिए भले ही एक हजार आँखों वाला इन्द्र न हो ओर दो हजार जिह्वाओं से गाने वाला ऐसा न हो, जैसा कि सूँधा पर्वत के अभिलेख में वर्णन हुआ है किन्तु यह अवश्य कहा जाएगा कि उसके शासनकाल में जालोर अपनी शक्ति के चरम शिखर पर था।[1]

उक्त ऐतिहासिक तथ्यों और अन्त:साक्ष्यों के आधार पर यह स्वीकारा जा सकता है कि जिनदत्त सूरि उदयसिंह के जीवनकाल में ही जालोर में बहुप्रसिद्ध थे। फिर, महाभारत जैसे कोष का उदयसिंह विद्वान् था और मुनिजी ने भी महाभारत के कतिपय नीति-मतों, गीता जैसे महाभारतोक्त ग्रन्थ के श्लोकों को विवेकविलास में किञ्चित् भेद के साथ महत्व दिया है और उनके शिष्य अमरचन्द्र ने तो महाभारत को असाम्प्रदायिक भाव से लिखा भी है, ऐसे में उनका उदयसिंह कालीन होना उचित प्रतीत होता है।

विवेकविलास : ज्ञानात्मक संहिता ग्रन्थ –

ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ में साम्प्रदायिक आग्रह की अपेक्षा सर्वोपयोगी, सार्वभौम सिद्धान्तों को महत्व दिया है। इसीलिए उन्होंने कई विषयों को दृष्टिगत रखा और उन विषयों के नाना ग्रन्थों का आलोड़न-विलोड़न किया और लिखने की दृष्टि से जालोर को ही उपयुक्त माना। प्रस्तुत ग्रन्थ में आए विषयों के साथ प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण पाद टिप्पणियों के रूप में दिए गए हैं, यद्यपि ऐसे अधिकांश मत जैन ग्रन्थों में भी मिलते हैं किन्तु अन्य ग्रन्थों में भीं इसके उदाहरण कम नहीं है, अत: अन्य ग्रन्थों के उदाहरणों की अधिकता ही है। यह आचार्यश्री की उदार दृष्टि एवं उदारचरितां व्यक्तित्व को प्रकट करने में पर्याप्त है। पाद टिप्पणियों से इस ग्रन्थ पर अन्य ग्रन्थों के प्रभाव का भी अध्ययन किया जा सकता है।

विवेकविलास बहुपयोगी ग्रन्थ है। इसमें 12 उल्लासों में कुल 1327 श्लोक हैं। अनुष्टुप श्लोकों के अतिरिक्त उपसंहार के रूप में उपजाति व अन्य छन्दों का प्रयोग हुआ है। इसमें दिवस के विविध प्रहरों में करने योग्य श्रावकाचार का वर्णन हैं किन्तु स्वर-नाड़ी विचार, ज्योतिष, सामुद्रिक, देवमन्दिर निर्माण, वास्तु कार्य के

---

1. राजस्थान थ्रू दी एजेज, पृष्ठ 638 एवं अर्ली चौहान डायनेस्टीज् पृष्ठ 175

लिए भूमि परीक्षा, स्वामी-सेवक लक्षण, उद्यम प्रशंसा, भोजन विधि, सन्ध्याकाल विचार, शयन विधि, घटीयन्त्र, विष परीक्षा, विवाहावसर पर वर-वधू लक्षण, ग्रीष्मादि षड् ऋतु वर्णन, वर्षचर्या, श्राद्ध, वास्तु और शुद्ध गृहक्रम, गृहार्थ योग्यायोग्य वृक्ष व उनके फल, शिष्यावबोध व कलाचार्य व्यवहार, सर्पदंश के सम्बन्ध में विष के परिणाम पर वार, नक्षत्र, राशि, दिशा, दूतानुसार विचार, षड्दर्शन परिचय, देखने के योग्यायोग्य वस्तुएँ, परदेश गमन के नियम, मन्त्रणा विचार, जाति क्लेश व उसके परिणाम तथा एकात्म रहने के फल, संक्षेप में धर्मोपदेश, ध्यान-समाधि, ब्रह्मचर्य, आत्मा-जीव, तत्त्व, चार्वाकों के मतों की खण्डना, अन्तकाल में देह त्याग, समाधिमरण आदि का प्रभूत वर्णन हुआ है। प्रशस्ति में वायडगच्छ एवं समकालीन नरेशादि, उपदेशश्रवणकर्ता का नामोल्लेख किया गया है। लगभग प्रत्येक उल्लास के अन्त में उपसंहार और उल्लास के विषयों की जीवन में उपयोगिता इस ग्रन्थ की अन्यान्य विशेषता है।

इस लक्षण-ज्ञानात्मक ग्रन्थ के श्लोकों की प्रामाणिकता का ही यह परिणाम है कि इसके श्लोक सायण माधवाचार्यकृत सर्वदर्शनसंग्रह (13वीं सदी), सूत्रधारमण्डन कृत वास्तुमण्डन (15वीं सदी), आचार्य वर्धमान सूरीकृत आचारदिनकर (15वीं सदी) वासुदेवदैवज्ञ कृत वास्तुप्रदीप (16वीं सदी), सूत्रधार गोविन्दकृत उद्धारधोरणी (16वीं सदी), टोडरमल्ल के निर्देश पर नीलकण्ठ द्वारा लिखित टोडरानन्द (16वीं सदी), मित्र मिश्र कृत वीर मित्रोदय के लक्षणप्रकाश (17वीं सदी) आदि में उद्धृत किए गए हैं। इसी प्रकार वास्तु, प्रतिमा सम्बन्धी कई मत ठक्कर फेरु (14वीं सदी) के लिए निर्देशक बने हैं।

इस ग्रन्थ में तत्कालीन जीवन व संस्कृति की अच्छी झलक है। इसके सारे ही विषय रचनाकाल में तो उपयोगी थे ही आज भी इनका उपयोग किसी भी दृष्टि से कम नहीं है। प्रसङ्गतः सभी विषय जीवनोपयोगी है और सभी के लिए बहुत महत्व के हैं। ग्रन्थकार का यह मत वर्तमान में धार्मिक-साम्प्रदायिक एकता का महत्व प्रतिपादित करता है– ऐसा कौन व्यक्ति है जो कि 'मेरा धर्म श्रेष्ठ है' ऐसा नहीं कहता? किन्तु जिस प्रकार दूर खड़े मनुष्य से आम अथवा नीम का भेद नहीं जाना जा सकता, वैसे ही धर्म का भेद उस मनुष्य से नहीं जाना जा सकता– श्रेष्ठो मे धर्म इत्युच्चैर्बूते कः कोऽत्र नोद्धतः। भेदो न ज्ञायते तस्य दूरस्थैराम्रनिम्बवत्॥ (10,14)

जिनदत्तसूरि का 'विवेकविलास' के अतिरिक्त अन्य कोई ग्रन्थ भी नहीं मिलता। और, लोकोक्ति भी यही है कि उनकी रचना का यह एक ही ग्रन्थ है। इस मान्यता के मूल में यह श्लोक उद्धृत किया जा सकता है कि जुगाली करने की भाँति

बहुत से ग्रन्थों की रचना से क्या लाभ है? पण्डित लोगों को तो शरीरस्थ दिव्य ज्योतिः रूप बृहद् जीवतत्त्व का विचार करना चाहिए– किं रोमन्थनिभैः कार्यं बहुभिर्ग्रन्थगुम्फनैः। विद्वद्भिस्तत्त्वमालोक्य मन्तर्ज्योतिमयं महत्॥ (11, 3)

इस प्रकार मुनिजी के निर्देश बहुत महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने इस ग्रन्थ को बहुपयोगी बनाया और धनपाल को उपदेश के रूप में जिन मतों को दिया, वे आज भी प्रासङ्गिक बने हुए हैं। सन्तों का सोच-मन्तव्य सदा काल के पार होता है। वह स्वयं कहते हैं कि कलावान मनुष्यों को इस जीवन में कोई ऐसी कला-वस्तु अवश्य हासिल करनी चाहिए कि जिससे निधनोपरान्त पवित्र जन्म निश्चयपूर्वक प्राप्त हो सके– अर्जनीयं कलावद्भिस्तत्किञ्चिज्जन्मनामुना। ध्रुवमासाद्यते येन शुद्धं जन्मान्तरं पुनः॥ निधनोपरान्त यशःकाया के निमित्त भी इस प्रकार का विचार सदैव होना चाहिए, जैसा कि महाराज भर्तृहरि ने भी कहा है–जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धा कवीश्वराः। नास्ति येषां यशः काये जरा मरणजं भयम्॥

*****

उल्लासानुसारेण विषयानुक्रमणिका

–प्रथमोल्लासः 1-62

मङ्गलाचरणमाह, गुरुदेव स्तुतिः, ग्रन्थोपलब्धिशुभाकाङ्क्षाः, ग्रन्थावश्यकत्व कथनञ्च, नित्यजीवनचर्याः, स्वप्नविचारः, स्वप्नभेदाह, स्वप्नफलपाकावधिः, स्वरोदय विचारं, तत्त्वसञ्चरणक्रमानि, तत्त्वस्य पलानि, तत्त्वानुसारेण कार्यव्यवहारः, तत्त्वचिह्नानिः, स्वरपरीक्षणविधिः, शरीरसाधनम्, प्रभाते करदर्शनं, शौचाशौचमाह, शौचाचारःप्रातः सन्ध्याकालं, शौचयोग्यस्थानानि, क्षुत्शुक्रकृन्मूत्रविचारः, व्यायामनियमः, दन्तधावनं, दन्तधावननिषेधः, दन्तकाष्ठाभावेमुखशुद्धिनिर्देशं, त्यक्तदन्तधावनफलं, पुनः दन्तधावन निषेधम्, नेत्रादि क्रियावर्णनं, उक्तं च, स्नेहनगण्डूषविधिं, केशप्रसाधनविधिं, मातृपितृ नमस्कारफलं, उक्तं च, सेवाफलं, स्नानोपरान्तपूजादीनां, गृहे देवालयस्थानं निम्नभूमौ देवालयफलं, पूजनावसरे मुखस्थितिं सफलं, पूजाकार्येपुष्पग्रहणविधिं, स्नानादीनावसरे मुखस्थितिं, जपविधिः, प्रश्न विचारः, स्थानकदिक्स्थितिं, युद्धसम्बन्धीप्रश्नं, रोगीप्रश्नमाह, सूर्यनाडीविचारं, तपाराधनाविचारं, न्यायसभासनेस्थितिं, सम्मानविचारं, निमित्तशास्त्रं, निराहारे त्याज्यपदार्थाः, सुकृत्यप्रशंसामाह, धर्मस्थलसेवनफलं, प्रतिमाधिकारः, पर्यङ्कासनं, भुज चान्यलक्षणं, सूत्रमानवर्णनं, नवतालप्रतिमानमाह, अङ्गविभागमाह, जीर्णमूर्तिः, पुनः संस्कार्य प्रतिमाः, अशुभप्रतिमालक्षणं, पीठयानादीनां खण्डितप्रतिमादोषः, अन्य दोषादीनां, प्रासादानुसारेण प्रतिमा मानप्रमाणमाह, गर्भ भित्ति प्रमाणमाह, अन्यान्य दोषादीनां, द्वार-शाखानुसारेण अर्च्चादृष्टिं, भूमिपरीक्षणं, शल्यविचारमाह, भूपरीक्षणार्थ प्रदीपविधिं, अन्य निमित्तमाह, गर्तनिवेशनं, प्रासादोदयमानमाह, कलशविस्तारं, प्रासादे ध्वजामाहात्म्यं, दण्डमानमाह, घण्टाप्रमाणमाह, जीर्णोद्धारेऽवसरे द्वारं न चालयेत्, प्रतिमार्थं काष्ठपाषाणस्य परीक्षणं, उपदेशश्रवणविधिं, गुरुदेवसम्मानं, गौरवस्पदगुरुतुल्यं किं, तथापवादं, उल्लासोप-संहरति।

–द्वितीयोल्लासः 63-86

स्नानार्थे वर्जिततिथ्यादीनां, वारानुसारेणस्नानफलं, तात्कालिकस्नान निषेधं, तैलाभ्यङ्गं, अन्य स्नानस्य विचारं, स्नानोपरान्तविकृतच्छायाफलादीनां, रोगमुक्तिस्नानं, केशकर्तनं च नखच्छेदनं, वस्त्राभूषणाधिकारः, वस्त्रधारणार्थ शुभवारं, शुभनक्षत्र-

मुहूर्तमाह, विप्रस्वाम्यादीनां आदेशोनलङ्घनं, वस्त्रस्य नवभागानुसारे दग्धादिदोषे शुभाशुभाह, ताम्बूल विचारः, ताम्बूलगुणाः, पानसंरचनाह, द्रव्योपार्जनाधिकारः, दृष्टान्तं, सुभाषितानि, कृषिकर्मप्रशंसाह, व्ययविचारं, लक्ष्मीवृद्ध्यार्थं जीवदयाकर्तव्यं, अन्न सङ्ग्रहनिर्देशं, भाण्डेषुहस्तादि संज्ञाज्ञाननिर्देशं, अङ्गुलगणितोच्चते, व्यापारव्यवहारं, अन्यव्यवहारं, तत्र प्रतिवादं, उद्यमवृत्त्याश्रयं, अग्रणी व्यवसायीलक्षणं, अन्यायीधनं नोपयोगी इत्यर्थ कथ्यते, स्वामीलक्षणं, मन्त्रिलक्षणं, सेनापतिलक्षणं, राजधर्मेऽनुजीविवृत्तं लक्षणं, प्रसन्नप्रभुलक्षणं, विरक्त स्वामीलक्षणं, उद्यम प्रशंसामाह, लाभानुसारेणभोगादीनां भागं, पुण्यपुरुषार्थ प्रशंसामाह, उद्यमवृक्षस्य फलं, उल्लासोपसंहरति।

–तृतीयोल्लासः 87-103

आगमनोपरान्तमुपविश्यादि निर्देशं, **जीवप्रभेदमाह, धर्मबाधकवस्तुनाम्माह,** दशलक्षणात्मकधर्मं, पापनाशोपायमाह, **अतिथि सत्कारं, दान माहात्म्यं,** क्षुधा-पीडितमफलं, अजीर्णेजायते त्रिदोषं, दोषस्य **भेदलक्षणं, तस्योपचारमाह, भोजनविधिं,** वर्जिताहारविचारं, भोजनकाले स्वजनानिमन्त्रिते, **भोजनकाले जलपानं, स्निग्धमधुर-**प्राक्भक्ष्यते तदर्थ निर्देशं, पश्वादीनां दुग्धोपयोगविचारमाह, **आहारात् निमित्तविचारं,** उक्तं च, भोजनव्यवहारं, तत्र शलाकानिमित्तमाह, **प्रसङ्गानुसारेण** घटिकायन्त्रलक्षणं, मेषादीनां ध्रुवाङ्कप्रमाणानुसारेण घटिकाज्ञानं, आहारकाले विशेषमाह, स्वरक्षार्थे खाद्यपेये विषलक्षणं, फलौषधादीनां परीक्षणं, माल्यास्तरणे विषलक्षणं, विषाहार-परान्तशरीरलक्षणं, विषदस्य परीक्षणं, उल्लासोपसंहरति।

–चतुर्थोल्लासः 104-106

चतुर्थप्रहारोपरान्तदिनचार्यायां, सन्ध्या आहारविचारं, सायंकाले निषिद्धकर्माह, सायंकालप्रमाणमाह, तत्रावसरे अतिथ्यादीनां आदरदान्निर्देशं, उल्लासोपसंहरति।

–पञ्चमोल्लासः 107-153

दिवसावसाने दीपदाननिर्देशं, निषिद्धदीपलक्षणं, रात्रावसरे निषिद्धकर्माह, त्याज्य शयनं, शुभाशुभशयनासनयोः, शयनस्थललक्षणं, सामुद्रिकशास्त्रानुसारेण वरलक्षण, अङ्गावयवप्रमाणमाह, गुणानुसारेण नरलक्षणं, सुधार्मिकलक्षणं, मानवयोन्योद्भूत नरलक्षणं, तिर्यञ्चयोन्योद्भूत नरलक्षणं, नरकगामी नरलक्षणं, गत्यावयवानुसारेण यानादीनां लब्धिं, देहावयवफलादीनां, यदेव शुभमशुभं वा लक्षणं बलवत्तदेवफलदं, हस्तलक्षणं, मणिबन्धलक्षणं, अङ्गुललक्षणं, कररेखालक्षणं, ऊर्ध्वरेखालक्षणसफलं, गृहिणी-बोधिनीरेखा, भ्रातृभगिनीबोधिनीरेखादीनां, यवानुसारेणविद्यादिफलं, मत्स्यमुखफलं, शुभफलदचतुर्चिह्नाः सिंहासनादिलक्ष्मफलं, छत्रचामरादिफलं, श्रीवत्सवज्र-प्रासादलक्ष्मफलं, यानादिलक्ष्मफलं, षटत्रिंशायुधफलं, जलयानफलं, हलानुसारेण-

कृषीवलाः, प्रतिरेखाधर्मरेखाश्च फलं, नख- लक्षणं, वधूलक्षणोच्यते, कन्यावयविचारं, बाल्यावस्थादृशलक्षणाः, पादाङ्गुलीलक्षणं, अन्यान्य अशुभलक्षणं, आवर्त्तलक्षणफलं, नामानुसारेणवरणविचारं, लक्षणपरीक्षायाश्च आवश्यकत्वं, विषकन्यालक्षणं, जन्मकाले वारादिस्थित्यानुसारेणविचारं, अङ्गनासह व्यवहार विचारं, त्याज्यास्त्रियाः, विवाहा-वसरेप्रतिज्ञात्वचनपालननिर्देशं, वयानुसारेण स्त्रीरञ्जन निर्देशं, पद्मिन्यादिभेदेन स्त्री चतुर्विधा तदुक्तम्, लक्षणमुक्तम्, तस्य वश्यप्रयोग विचारं, कामातुरस्त्री लक्षणं, निमित्त-विचारं, भोगकालविचारं, विरक्तस्त्रीलक्षणं, अन्तर्प्रसङ्गं अन्यजने न प्रकाशयेत्, पत्नीकर्तव्यमाह, सुपत्नीलक्षणं, निषिद्धकार्याणि, रजस्वलायां निषेधकार्याणि, ऋतुकाला-वधिं, ऋतुदिवसानुसारेण सन्तानोद्भवविचारं ,समविषमरात्रिविचारं, दिवा-निशाकाल-विचारं, किमर्थे कामाह, भोग्यावस्थामाह, सन्तानार्थे आयुविचारं, मनस्थित्यानु-सारेणजायते सन्ततिं, गर्भाधान-काले वर्जनीयनक्षत्राः, सङ्गकालाज्जातस्य पुञ्जन्मयोगं, स्त्रीपुंनपुसकयोगाश्च, वृष्यवस्तुनामाह, जीवस्य गर्भकालेस्थित्यादीनां, गर्भेजीवस्य सप्तसप्तभि अहोरात्रानुसारेण क्रमं, मासानुसार गर्भतौलप्रमाणाह, दोहदविचारं, पञ्चममासे गर्भस्थितिं, जीवस्य गर्भावासावधिं, गण्डान्ता-दीनां विचारं, मूलाश्लेषार्क्षफलं, परजात-जन्मविचारं, जारजातं, दन्तोद्भवफलं, दन्तसङ्ख्या-नुसारेणफलोच्यते, सङ्गमोपरान्त निषिद्धकर्मादीनां, निशाकाले निद्राविचारं, अतिनिद्रा अनुचितं, दिवाकाले निद्रायोग्य-कारणं, उल्लासोपसंहरति।

—षष्ठोल्लासः **154-159**

उल्लासप्रयोजनाह, षड्र्तुचर्यावर्णनं-प्रथमे वसन्तचर्यां, ग्रीष्मचर्या, वर्षर्तुचर्याः शरदृतुचर्या, हेमन्तर्तुचर्या, शिशिरर्तुचर्या, उल्लासोपसंहरति।

—सप्तमोल्लासः **160-162**

संवत्सरीयकृत्योच्यते, तदर्थे निर्देशमाह, अष्टमासानुसारेण कृत्यं, वृद्धावस्थार्थे युवावयोपयोगमाह, पुनर्जन्मार्थकलासिद्धि आवश्यकत्वं, सधर्माणधर्माचार्यश्च पूजननिर्देशं, वृद्धजनसम्मानं च तीर्थसेवननिर्देशं, पित्रादिदिवस कार्यनिर्देशं, उल्लासोपसंहरति।

—अष्टमोल्लासः **163-250**

आवासयोग्यदेशलक्षणं, निषिद्धदेशादीनां, देशविषयार्थ निमित्तन्यवलोकन निर्देशं, निमित्तक्रमे उत्पातवर्णनं, दैवोत्पात सफलमाह, मृगपक्षिवैकृत्यं सफलं, उपस्कर वैकृत्यं सफलमाह, शक्रचापानुसारेण निमित्तफलमाह, वृक्षवैकृत्यं सुफलमाह, पशुपक्षि-वैकृत्यं सफलमाह, उत्पातफलस्य स्थानाह, फलपाकावधिं च शान्त्यर्थनिर्देशं, तत्रैव विपर्ययविचारं, आग्नेयादि चतुर्नक्षत्रमण्डलं वर्णनं, मण्डलानुसारेणोत्पात फलपाक

कालं, तत्र मण्डल उत्पातमाह, दिक्कोणाश्रितेफलं, मयूरचित्रकं च ताजिकसम्मतार्धकाण्डं, रविवारविचारं, सङ्क्रान्तिविचारं, सूर्यस्य पादविचारं, रोहिणीशकटभेदं, मूसलयोगादीनां सफलं, तत्र वृष्टिविचारं, चतुर्विधमेघप्रकारमाह, आषाढदशमी रोहिणीफलं, सूर्यराश्यात्परमङ्गलफलं, रेवत्यादिगतमङ्गलफलं, गर्गमुनिवचनप्रमाणं ,वाडवमुनिप्रमाणं, सङ्क्रान्त्या सञ्चरणफलं, भौमवारेदीपोत्सवफलं, ज्येष्ठमावस्याचिह्नानुसारेणफलं, आषाढे सितेप्रतिपद्दिने पुनर्वसुविचारं, वास्तुशुद्धगृहक्रमाह, रव्यसङ्क्रान्त्यानुसारेण द्वारविचारं, योगार्क्षांशकायव्ययादीनां परीक्षणं निर्देशं, श्रीपतिमत्यानुसारेण मासफलविचारं, सूत्रपातार्थे नक्षत्राणि, आयादिपरीक्षणं, आय आनयनं, ध्वजादि नामानुसारेण दिक्स्थितिं, आयस्थानानि, मूलराश्यानयनमाह, गृहनक्षत्र आनयनमाह, व्ययानयन सफलमाह, अंशकानयनमाह, तारानयन सफलमाह, अन्यान्य गणनक्षत्राह नोदितम्, ध्रुवादिषोडशगृहाणां नामानि, प्रस्तारक्रमानुसारेण गृहपरिकल्पनं, गृहे कक्षादीनां निवेशनाह, प्राक्दिशाज्ञानार्थ परामर्शं, गृहार्थे हस्तप्रयोग विधिं, आय विपर्ययादीनां विचारं, यमांशे वर्जिताह, बहुदोषकरं तुलातालुद्वारवेधमाह, वास्तुमर्मदोषाह, नान द्वारवेधविचारं, वृक्षं च ध्वजच्छाया विचारं, वर्जनीयदेवदृष्टिदीनां, गृहश्री वृद्धिक्रम्, भवनवृद्धिर्हेतुमाह, सत्कार विचारं, त्याज्य प्रातिवेश्मिकतामाह, एषां दूरत्वे नियमः, गृहसमीपे शुभाशुभवृक्षाः, शिष्यावबोधक्रमः, विद्यारम्भार्थ वारविचारं, अक्षरारम्भ मुहूर्तं, कलाचार्य-शिक्षकलक्षणं, दुष्टचित्तगुरोर्न, सुशिष्यलक्षणं ,अथानाध्यायकालं कथ्यते सुशिष्यलक्षणं, अनध्यायकालं कथ्यते, अध्ययनविधिं, धन्यानन्यविद्यार्थीलक्षणं, इत्यमनन्तर अध्ययनयोग्यभाषायां, अध्ययनयोग्यभाषायां ,गणितशास्त्रानुस्मरणं, धर्मशास्त्रवचनप्रशंसाह, ज्योतिषशास्त्रस्वरूपमाह, आयुर्वेदविषयाः, वैद्यकशास्त्राङ्गमाह, चित्रकर्माश्वगजादीनां, स्मरकलाज्ञानार्थ वास्त्यायन च नाट्यार्थ भरतागमादीनां शास्त्रं, गुरुमन्त्रग्रहणविधिं, विषविद्याविचारमाह, किमर्थे सर्पदंशकरोति, विषनिवारकप्रशंसाह, वारविचारः, तिथिविचारः, राशिविचारः, नक्षत्र विचारः, दिग्विचारः, दंशविचारः, दूतविचार माह, दूत विचारोपरान्त मर्मविचारः, दष्टविचारः, दंशस्थानविचारः, सर्पजातिविचारःविषस्य मर्यादामाह, प्रकारान्तरमाह, अपरान्तादीनां लक्षणमाह, विषकालं व्याप्तिश्च लक्षणमाह, आग्न्येदीनां विषस्य लक्षणं, पीयूषकलावर्णनमाह, विषनाशोपाय कथ्यते, षड्दर्शन विचारक्रमः, षण्णां दर्शनानां नामान्याह, जैनमतम्, मैमांसकम्, बौद्धमतम्, बौद्धमत- मित्थंमभ्यधायि, साङ्ख्यमतम्, प्रकृत्यात्मसंयोगात्सृष्टिर्जायते अतः सृष्टिक्रममेव, शैवादिभेदेन चतुर्धा भवन्ति, नास्तिकमतम्, इत्यमनन्तर वचनव्यवहार निर्णयं, आत्मश्लाघा श्रवणान्नगर्वन्निषेधं, कार्यार्थ कथनोक्तिं, कलहनिषेधं, लोक्यानालोक्य प्रक्रमाह, निरीक्षण प्रक्रमाह, नेत्रस्वरूपम्, भूतादिपीडितस्य दृष्टिमाह, चङ्क्रमणक्रमः, गमनावसरे स्वरविचारं, न गन्तव्येकाकिनामाह, विशेषोपदेशक्रमं, अविश्वस्तजनाः,

नित्य विचारणीय प्रश्नाह, पारस्परिक, जातीयैक्यनिर्देशं, अन्य कर्तव्यमाह, अकरणीय चेष्टादीनां, स्व-आत्मोद्धारोपायं, लोकव्यवहारमाह, मनुष्येषु क्रकचक्रौञ्चश्चाह, महोद्वेगकरानामाह, उपसंहरन्नाह।

—नवमोल्लासः **251-253**

पापादीनां प्रश्नाह, पञ्चपातकं ,बन्धकपापादीनां, अधुना पापफलमाह, उपसंहरन्नाह।

—दशमोल्लासः **254-261**

धर्माचरणार्थोपदेशक्रमाह, धर्मप्रशंसामाह, धर्मस्यचतुर्प्रकारमाह, बहिर्तप, अन्तःतप, अस्यार्थे दृष्टान्तमाह, शरावसरञ्चनावज्जगत्स्वरूपमाह, उपसंहरन्नाह,।

—एकादशोल्लासः **262-278**

कायपञ्जरपालितोपदेशमाह, योगीवासस्य देहस्वरूपाह, समाधिस्थानलक्षणं, स्वस्थपुरुषलक्षणं, ध्यानयोग्यपुरुषलक्षणं, योगीजनाः कालेन भक्ष्यते, मैत्रीभावलक्षणं, प्रमोदभावलक्षणं, करुणाभावलक्षणं, मध्यस्थभावलक्षणं, बहिरात्मान्तरात्माश्चाह, परमात्म परिभाषाह, चतुर्विधध्यानमाह, वर्णक्रमे मन्त्राक्षरध्यानफलोच्यते, चञ्चल हि मनः, रूपातीत ध्यानमाह, तत्त्वमाह, क्षेत्रक्षेत्रज्ञवर्णनं, संसारमोक्षश्चाह, आत्मध्यानमाह, आत्मस्थस्थितिं, शङ्का, उत्तरम्, पुनरपि शङ्का, अन्य शङ्का, तस्योत्तरम्, अन्य शङ्का, तस्यात्तरम्, जीवस्यलक्षणं, उपसंहरन्नाह।

—द्वादशोल्लासः **279-283**

कालादिविचारमाह, अन्त्यकाल कर्तव्यं, सत्पुरुषस्वभावाह, सत्पुरुषस्वभावाह, पुनश्चक्रशोचनीयं, उपसंहरन्नाह, प्रशस्तिः।

परम श्रद्धेय पिताश्री व सद्गुरु नित्यलीलालीन

पण्डिततुल्य श्रीमद् मोहनलालजी चौहान

की पुण्यस्मृति में....

॥ श्री गणेशायनमः ॥

श्रीमद् जिनदत्तसूरीश्वरप्रणीतं

विवेकविलास

अथ दिनचर्यायां प्रथमोल्लासः ॥ 1 ॥

अथ मङ्गलाचरणमाह —

शाश्वतानन्दरूपाय तमस्तोमैक भास्वते।
सर्वज्ञाय नमस्तस्मै कस्मै चित्परमात्मने ॥ 1 ॥

शाश्वत आनन्द स्वरूप, अज्ञानरूप तिमिर का विनाश करने की दृष्टि से मध्याह्न के दैदिप्यमान सूर्य है, लोकालोक में विद्यमान सर्व वस्तुओं के पूर्णज्ञाता, किसी कथन से जिनका वर्णन सम्भव नहीं है, ऐसे अलौकिक परमात्मा को नमस्कार है।

सोमं स्वयम्भुवं बुद्धं नरकान्तकरं गुरुम्।
भास्वन्तं शङ्करं श्रीदं प्रणौमि प्रयतो जिनम् ॥ 2 ॥

सोम या चन्द्रमा, स्वयंभू या ब्रह्मा, बुद्ध, नरकासुर का अन्त करने वाले श्रीकृष्ण, बृहस्पति, स्वयं भासमान् सूर्य, शिव, सम्पदा प्रदाता कुबेर और जिनेश्वर को प्रणाम है। (ग्रन्थकार का यहाँ आशय यह भी है—पूर्णशान्ति के धारक एवं आह्लादकारी होने से जो साक्षात् सोम कहलाते हैं, बिना उपदेशक के स्वयं ज्ञान प्राप्ति से जो स्वयंभू (ब्रह्मा) कहे जाते हैं; केवल ज्ञानी होने से बुद्ध हैं; दूसरी कर्म-प्रकृतियों के साथ नरकगति का भी नाश करने वाले के लिए नरक नामक असुर को मार डालने वाले होने से जो साक्षात् विष्णु कहे जाते है, अलौकिक बुद्धिमान होने से बृहस्पति सम्भाषित होते है; केवल ज्ञान के लोकालोक को प्रकाशित करने के कारण सूर्य और आसन्न-भव्य को मुक्तिसुख प्रदान करने वाले होने से जो शिव तथा स्वर्ग, मोक्ष की लक्ष्मी के देने वाले होने से जो कुबेर कहलाते हैं—ऐसे जिनेश्वर की मैं मन-वचन-काया से पवित्र होकर स्तुति करता हूँ।)

गुरुदेव स्तुतिः

जीववत्प्रतिभा यस्य वचो मधुरिमाञ्चितम्।
देहं गेहं श्रियस्तं स्वं वन्दे सूरिवरं गुरुम्॥ 3॥

जिनकी गुरुदेव की प्रज्ञा दैवगुरु बृहस्पति के समान, वचन अमृत तुल्य और शरीर तो लक्ष्मी का आश्रय स्थान ही है, ऐसे मेरे गुरु श्रीजीवदेव सूरीश्वर की मैं वन्दना करता हूँ।

ग्रन्थोपलब्धिशुभाकाङ्क्षाः

ईप्सितार्थप्रदः सर्वव्यापत्तपघनाघनः।
अयं जागर्तु विश्वस्य हृदि श्रीधरणक्रमः॥ 4॥

जिससे अभीष्ट वस्तु की लब्धि होती है, जो समस्त संकटों का ताप निवारण करने में मेघ के समान है और जो लक्ष्मी की प्राप्ति में साधनभूत है, ऐसा यह ग्रन्थ (विवेकविलास) निखिल विश्व के हृदय में सदैव जीवन्त रहे।

चञ्चलत्वकलङ्कं ये श्रियो ददति दुर्धियः।
ते मुग्धाः स्वं न जानन्ति निर्विवेकमपुण्यकम्॥ 5॥

ऐसे लोग जो कि दुर्बुद्धि होकर लक्ष्मी पर चञ्चल होने का आरोप लगाते हैं, वे भोले लोग अपनी विवेकहीनता और पुण्य विहीनता का मूल्याङ्कन नहीं करते हैं।

लक्ष्मीकल्पलतायै यै वक्ष्यमाणोक्तिदोहदम्।
यच्छन्ति सुधियोऽवश्यं तेषामेषा फलेग्रहिः॥ 6॥

जो धीरधी व्यक्ति लक्ष्मी रूपी कल्पलता को इस ग्रन्थ में वर्णित वचन रूपी दोहद* या खाद प्रदान करते हैं अर्थात् जो लोग इस ग्रन्थ में प्रतिपादित युक्तियों से द्रव्योपार्जन का प्रयत्न करते हैं, उनको अवश्य यह कल्पलता-लक्ष्मी फलदायक सिद्ध होती है।

---

* कालिदास के प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने कहा है कि दोहद से आशय ऐसा संस्कारमय द्रव्य है जो वृक्षों में प्रसव-कारण परिलक्षित होता है- दोहदं वृक्षादीनाम् प्रसवकारणं संस्कारद्रव्यम् (एम. आर. काले सम्पादित मेघदूत, उत्तरमेघ पृष्ठ 132)। इसी बात को नैषधीयचरितम् में श्रीहर्ष (1113 ई.)ने अभिव्यक्त किया है कि दोहद ऐसे द्रव या द्रव्य का फूँक स्वीकारना चाहिए जो वृक्ष, पौधों एवं लतादि में पुष्प प्रसवित करने का सामर्थ्य प्रदान करता है- महीरुहः दोहदसेकशक्तिराकालिकं कोरकमुद्गिरन्ति (3, 21)। मल्लिनाथ टीका में तो इन विश्वासों को एक ही साथ दे दिया गया है कि कामिनी के स्पर्श से प्रियङ्गु विकसित होता है तथा बकुल वृक्ष मुखासवपान, अशोक पादाघात, तिलक दृष्टिपात, कुरबक (सदाबहार) आलिङ्गन, मन्दार मधुरवचन, चम्पक वृक्ष मृदु मुस्कान व हास्य तथा कनैल का वृक्ष नीचे नृत्य करने से पुष्पित होता है- स्त्रीणां स्पर्शात्प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्पादाघातादशोकास्तिलककुरबकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्यम्। मन्दारो नर्मवाक्यात्पटुमृदु-हसनाच्चम्पको वक्त्रवाताच्चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात् कर्णिकारः (मेघदूत 2, 18)।

कार्यः सद्भिस्ततोऽवश्यमस्यै तद्दातुमुद्यमः।
यद्दाने जायते दातुर्भुक्तिर्मुक्तिश्च निश्चला॥ 7॥

इसलिए ज्ञानियों को चाहिए कि वे लक्ष्मी रूपी कल्पलता को इस ग्रन्थ में कहे हुए वचन रूपी खाद देने का अवश्यमेव उपक्रम करें क्योंकि उससे स्वर्गादि सुखों की लब्धि और अन्त में निश्चल मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

ब्रवीमि सर्वशास्त्रेभ्यः सारमुद्धृत्य किञ्चन।
पुण्यप्रसवकृत्स्वर्गापवर्गफलपेशलम्॥ 8॥

पूर्वकाल में विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रणीत विविध विषयाधारित समस्त शास्त्रों से सार-सार* को ग्रहण कर, जिससे कि पुण्य की उत्पत्ति और स्वर्ग, मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसे कतिपय वचनों को यहाँ लिख रहा हूँ।

ग्रन्थावश्यकत्वकथनञ्च —

स्वस्यान्यस्यापि पुण्याय कुप्रवृत्तिनिवृत्तये।
श्रीविवेकविलासाख्यो ग्रन्थः प्रारभ्यते मितः॥ 9॥

अब अपने निमित्त एवं अन्य लोगों के पठन-पाठन, श्रवण के उद्देश्य से सुकृत की प्राप्ति होने के हेतु से यह 'विवेक विलास' नामक ग्रन्थ संक्षेप से प्रारम्भ करता हूँ।

प्रवृत्तावत्र यो यत्नः क्वचित्कश्चित्प्रदर्शितः।
विवेकिनादृतः सोऽपि निवृत्तौ पर्यवस्यति॥ 10॥

इस ग्रन्थ में जहाँ कहीं प्रवृत्ति मार्ग अर्थात् मनुष्य जीवनोपयोगी व्यवहार के मार्ग के प्रतिपादन का प्रयास किया गया है, विवेकी जनों को चाहिए कि वे उसका आदर करें क्योंकि वह मार्ग निवृत्ति मार्ग अर्थात् परमार्थ-पथ से ही जाकर मिलता है।

अगदः पावकः श्रीदो जगच्चक्षुः सनातनः।
एतैरन्वर्थतां यातु ग्रन्थोऽयं पाठकैः सह॥ 11॥

यह ग्रन्थ कर्म रूपी व्याधि को औषधि के समान उपचारित करने वाला; पढ़ने व सुनने वालों को पवित्र करने वाला; लक्ष्मी प्रदाता है; अज्ञानरूप तिमिर का विनाश करने में सूर्य समान होकर इस संसार में चिरकाल पर्यन्त रहे और इस ग्रन्थ का पठन करने वाले भी निरापद, निरोग, पवित्र, कुबेर जैसे समृद्धिशाली, सूर्य के समान तेजोमय और पूर्ण आयुष्य भोगने वाले हों, ऐसी अपेक्षा है।

---

* यहाँ ग्रन्थकार की यह स्वीकारोक्ति है कि वह ग्रन्थ में आए विविध विषयों को पूर्वाचार्यों के मतानुसार ग्रहण कर संक्षिप्त रूप से लिख रहा है। प्रस्तुत पाठ में यथास्थान इसका सङ्केत किया जाएगा।

आलोक इव सूर्यस्य स्वजनस्योपकारवत्।
ग्रन्थोऽयं सर्वसामान्यो मान्यो भवतु धीमताम्॥ 12॥

जिस प्रकार सूर्य का उजाला स्वयं प्रभाव न रखते हुए समस्त वस्तुओं को दैदिप्यमान करता है और सत्पुरुष पक्षपात नहीं कर सबके लिए समानतः उपकार करते हैं, वैसे ही मेरा यह ग्रन्थ सर्वसामान्य के (जातिगत आधार पर अथवा अन्य किसी भी प्रकार का भेदभाव के बिना) उपयोग में आए, विद्वज्जनों द्वारा स्वीकृत हो, ऐसी कामना है।

नित्यजीवनचर्या:

धर्मा-र्थ-काम-मोक्षाणां सिद्धयै ध्यात्वेष्टदेवताम्।
भागेऽष्टमे त्रियामाया उत्तिष्ठेदुद्यतः पुमान्॥ 13॥

आत्मार्थी, कल्याण के इच्छुक व्यक्ति को चाहिए कि वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–इस पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के लिए अपने इष्टदेव का ध्यान कर रात्रि का आठवाँ भाग (सूर्योदय पूर्व लगभग चार घड़ी) शेष रहे तब शय्या का त्याग कर दे।*

स्वप्नविचार:

सुस्वप्नं प्रेक्ष्य न स्वप्यं कथ्यमह्नि च सद्गुरोः।
दुःस्वप्नं पुनरालोक्य कार्यः प्रोक्तविपर्ययः॥ 14॥

यदि कभी शुभ स्वप्न हो तो पुनः नहीं सोना चाहिए। सूर्योदय के पश्चात् वह स्वप्न सद्गुरु को अथवा उनके अभाव में भगवान के सम्मुख अथवा गाय के कान में कहना चाहिए। यदि अशुभ स्वप्न हो तो पुनः सो जाना चाहिए और वह स्वप्न किसी के सामने नहीं कहना चाहिए।**

समधातोः प्रशान्तस्य धार्मिकस्यापि नीरुजः।
स्यातांपुंसो जिताक्षस्य स्वप्नौ सत्यौ शुभाशुभौ॥ 15॥

---

* आचारेन्दुशेखर में कहा गया है कि ब्राह्ममुहूर्त की निद्रा पुण्य का नाश करने वाली है। उस समय जो कोई शयन करता है उसे प्रायश्चित करना चाहिए—ब्राह्म मुहूर्ते या निद्रा सा पुण्यक्षयकारिणी। तां करोति द्विजो मोहात् पादकृच्छ्रेण शुद्धयति॥ (आचारेन्दु. पृष्ठ 17)

**गणपतिरावल का मत है कि दूषित स्वप्न ब्राह्मण से निवेदित कर आशीर्वाद लेना चाहिए। दुबारा नहीं सोना चाहिए न ही पुनः कथन करें। पवित्र जल से स्नान करें। मृत्युञ्जय का हवन करें, शान्ति व स्वस्त्ययनादि शुभ कार्य, पीपल एवं गाय की सुबह पूजा करें। भारतादि का श्रवण करें और बृहस्पति द्वारा रचे गए स्वप्नाध्याय का पाठ करें। इससे दूषित स्वप्न निष्फल होता है—दुष्टं त्वालोकिते स्वप्ने निवेद्य ब्राह्मणाय च। आशीर्भिस्तोषितो विप्रैः पुनः स्वप्यान्नरेश्वरः॥ न ब्रूयाच्च पुनः स्वप्नं स स्नानात् पुण्यवारिभिः। कार्यो मृत्युञ्जयो होमः शान्तिः स्वस्त्ययनादिकम्॥ सेवाश्वत्थगवां प्रातर्दानं स्वर्णादि शक्तितः। श्रवणं भारतादीनां स्वप्नदोषनिवृत्तये॥ बृहस्पतिप्रणीतञ्च स्वप्नाध्यायं पठेदपि॥ (मुहूर्तगणपति 21, 87-90)

जिसको कफ, वात, पित्त का प्रकोप नहीं हुआ हो, जिसे किसी भी प्रकार की व्याधि न हो और जिसने अपनी समस्त इन्द्रियों को वश कर रखा हो, उसी के आए हुए शुभ या अशुभ स्वप्न सत्य सिद्ध होते हैं।*

स्वप्नभेदाह —

अनुभूतः श्रुतोदृष्टः प्रकृतेश्च विकारजः।
स्वभावतः समुद्भूतश्चिन्तासन्ततिसम्भवः॥ 16॥
देवताद्युपदेशोत्थो धर्मकर्मप्रभावजः।
पापोद्रेकसमुत्थश्च स्वप्नः स्यान्नवधानृणाम्॥ 17॥

स्वप्न नौ तरह से होते हैं—1 अनुभूत बात मन में रहने से, 2. श्रवण की गई बात से, 3. प्रत्यक्ष दर्शन चित्त में रहने से, 4. अजीर्णादि विकार से, 5. स्वभाव से, 6. अनवरत चिन्ता से, 7. देवतादि के उपदेश से, 8. धर्मानुष्ठान के प्रभाव से और 9. पाप कर्म की अतिशय वृद्धि होने से स्वप्न होते हैं।

प्रकौररादिमैः षड्भिरशुभश्च शुभोऽपि च।
दृष्टो निरर्थकः स्वप्नः सत्यश्च त्रिभिरुत्तरैः॥ 18॥

पूर्वोक्त प्रकारों में से पहले छह कारणों से देखे गए शुभ अथवा अशुभ स्वप्न निरर्थक हैं अर्थात् शुभ हो तो उनका शुभ फल नहीं और अशुभ भी हो तो उनका अशुभ फल नहीं होता किन्तु अन्तिम तीनों कारणों से अर्थात् देवोपदेश से, धर्मकृत्य के प्रभाव और पाप की अभिवृद्धि से देखे गए शुभ अथवा अशुभ स्वप्न सत्य सिद्ध होते हैं।

स्वप्नफलपाकावधिः

रात्रेश्चतुर्षु यामेषु दृष्टः स्वप्नः फलप्रदः।
मासैर्द्वादशभिः षड्भिस्त्रिभिरेकेन च क्रमात्॥ 19॥
निशान्त्यघटिकायुग्मे दशाहात्फलति ध्रुवम्।
दृष्टः सूर्योदये स्वप्नः सद्यः फलति निश्चितम्॥ 20॥

अब स्वप्नदर्शन एवं स्वप्न के फल कब प्रकट होते हैं, इस विषय में कहा है

---

* केशवदैवज्ञ का मत है कि किसी प्रकार की चिन्ता के व्याप्त रहते आने वाले स्वप्न, बीमारी के दौरान होने वाले स्वप्न, अल्पावधि एवं दीर्घावधि के स्वप्न फलवान नहीं होते हैं। त्रिदोष-व्याधिजन्य स्वप्नों में, वात व्याधि होने पर व्यक्ति को साहसिक कार्यों से जुड़े स्वप्न होते हैं। पित्त व्याधि होने पर ग्रह-नक्षत्रादि से जुड़े सपने आते हैं। आग के दर्शन को त्यागकर अन्य पिङ्गल एवं रक्तवर्णीय द्रव्यादि स्वप्न में दिखाई दें तो भी पित्त व्याधि का ही परिणाम जानना चाहिए। इसी प्रकार यदि कफ विषयक व्याधि होगी तो जलस्रोतों से सम्बन्धित स्वप्न आने लगते हैं—चिन्तारुग्जाल्पदीर्घं विफलमनिलतः साहसोड्डीनपूर्वं पित्तात्तेजोग्निपीतारुणमपि कफतोम्ब्वाशयादीनि पश्येत्॥ (मुहूर्ततत्त्वं 17, 3)

कि रात्रि के प्रथम पहर में देखा हुआ स्वप्न अगले एक वर्ष में, दूसरे पहर में देखा हुआ छह मास में, तीसरे पहर में देखा हुआ तीन माह में एवं चौथे पहर में देखा हुआ स्वप्न अविलम्ब फल देने वाला होता है।*

मालास्वप्नोऽह्नि दृष्टश्च तथाधिव्याधिसम्भवः।
मलमूत्रादिपीडोत्थः स्वप्नः सर्वो निरर्थकः॥ 21॥

एक स्वप्न के उपरान्त दूसरा स्वप्न–इस क्रम से देखे हुए अनेक स्वप्न, दिन में दृष्ट हुआ, मनकी चिन्ता अथवा शरीर की व्याधि से उत्पन्न और मल-मूत्र का वेग रोकने से उत्पन्न पीड़ा के कारण देखा गया स्वप्न– ये समस्त स्वप्न निरर्थक हैं।

अशुभः प्राक् शुभः पश्चात् शुभो वा प्रागथाशुभः।
पाश्चात्यः फलदः सर्वो दुःस्वप्ने शान्तिरिष्यते॥ 22॥

पूर्व में अशुभ और पश्चात् शुभ अथवा पहले शुभ एवं बाद में अशुभ स्वप्न दिखाई दे तो पीछे वाले स्वप्न को ही शुभ या अशुभ फल देने वाला समझना चाहिए। कदाचित् दुस्स्वप्न हो तो जप, पूजादि शान्ति के उपाय करने चाहिए।**

स्वरोदयविचारमाह —

प्रविशत्पवनापूर्णं नासिकापक्षमाश्रितम्।
पादं शय्यास्थितो दद्यात् प्रथमं पृथिवीतले॥ 23॥

नासिका के दाहिने अथवा बायें जिस छिद्र से पवन प्रवेश करता हो, उसी भाग का पैर उठाकर शय्या छोड़ते समय पहले पृथ्वी पर रखना चाहिए।

अम्भोभूतत्त्वयोर्निद्रा विच्छेदः शुभहेतवे।
व्योमवाय्वग्नितत्वेषु स पुनर्दुःखदायकः॥ 24॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश– ये पाँच आधारभूत तत्त्व श्वासोच्छ्वास के दौरान आते-जाते रहते हैं। इनका ध्यान लगाकर जब पृथ्वी या आपतत्त्व श्वासोच्छ्वास

---

* केशवदैवज्ञ का मत है कि जो स्वप्न रात्रि के प्रथम पहर में दिखाई देते हैं, वे एक वर्ष में; दूसरे प्रहर में दिखाई देने वाले स्वप्न छह मास; तीसरे प्रहर में दिखने वाले स्वप्न तीन मास और चतुर्थ प्रहर के स्वप्न आगामी एक मास में अपना फल प्रदान करते हैं। तड़के या प्रभातवेला में आए स्वप्न का फल आसन्न होता है (दिवास्वप्न वृथा कहे गए हैं)। स्वप्न पर विचार कर पुनः सो जाने से फल गौण हो जाता है। यदि शुभ स्वप्न हो तो अपने से बड़ों को दिन में बताना चाहिए, रात्रि में नहीं। इसी प्रकार अशुभ स्वप्न का कथन नहीं करें—अब्दा$_{12}$ र्धा$_{6}$ ड्ध्ये$_{3}$ कमासैः$_{1}$ फलतिधरणैर्निप्रश्युषस्यैवसद्यः स्वप्नान्निद्रा फलप्रच्याह्निगुरुषु कथयेत्स्वत्वसत्रैव वाच्यम्। (मुहूर्ततत्त्वं 17, 3)

** अद्भुतसागर में ऐसी शान्तियाँ दी गई हैं। केशवदैवज्ञ का मत है कि यदि बुरा स्वप्न हुआ तो फल के निवारण के उद्देश्य से अश्वत्थ का पूजन करें। गाय की सेवा करें। देवताओं का यजन करें और 'यज्जाग्रतो.' इत्यादि छह ऋचाओं का पाठ करें। देवी पीठ भी किया जाना चाहिए—दुःस्वप्नेश्वत्थ गोभक्तिसुरयजन यज्जाग्रदेवीजपैः सत्॥ (मुहूर्ततत्त्वं 17, 5)

में बहते हों, उस समय जागृत हो जाना शुभकारी समझना चाहिए। तेज, वायु और आकाश तत्त्व जब प्रवाहित हों उस समय जागृत होना अशुभ समझना चाहिए।*

शुक्ल प्रतिपदो वायुश्चन्द्रेऽथार्के त्र्यहं त्र्यहम्।
वहन् शस्तोऽनया रीत्या विपर्यासे तु दुःखदः॥ 25॥

सामान्यतया शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा तिथि से लेकर प्रथम तीन दिन चन्द्रनाड़ी में वायु तत्त्व, तदोपरान्त दूसरे तीन दिन सूर्य नाड़ी में वायु तत्त्व– ऐसे पखवाड़ा पूर्ण होता है वहाँ तक चलें तो शुभ जानना चाहिए। इसके विपरीत अर्थात् पहले तीन दिन सूर्य नाड़ी में वायु तत्त्व और बाद के तीन दिन चन्द्रनाड़ी में वायु तत्त्व हो तो अशुभ समझना चाहिए।

सार्धं घटीद्वयं नाडिरेकैकार्कोदयाद्वहेत्।
अरघट्टघटी भ्रान्ति न्यायान्नाड्यः पुनः पुनः॥ 26॥

जिस प्रकार जलोत्थान के लिए चलने वाले रहट की माला की घटिकाएँ एक के एक बाद एक अनुक्रम से पानी से भर जाती हैं और खाली होती जाती हैं, वैसे ही सूर्योदय से लेकर चन्द्रनाड़ी और सूर्यनाड़ी ढाई-ढाई घड़ी तक प्रवाहमान होती है।

शतानि तत्र जायन्ते निश्वासोच्छ्वासयोर्नव।
ख ख षट् कु कैरः सङ्ख्याहारात्रे सकले पुनः॥ 27॥

इस प्रकार श्वास की घटी-माला में नौ सौ श्वासोच्छ्वास चलते हैं और सम्पूर्ण अहोरात्र अर्थात् साठ घड़ी में इक्कीस हजार छह सौ (21600) श्वासोच्छ्वास सञ्चालित होते हैं।

षट्त्रिंशद्गुरु वर्णानां या वेला भणने लगेत्।
सावेला मरुता नाड्यानाड्यां सञ्चरतो लगेत्॥ 28॥

कालानुसार गणना के अनुसार छत्तीस गुरु या दीर्घ अक्षरों के उच्चारण करने में जितना समय लगता हैं उतना ही समय वायु को एक नाड़ी को त्यागकर दूसरी नाड़ी में प्रवेश करने में लगता है।

तत्त्वसञ्चरणक्रमानि —

प्रत्येकं पञ्चतत्त्वानी नाड्योश्च वहमानयोः।
वहन्त्यहर्निशं तानि ज्ञातव्यानि जितात्मभिः॥ 29॥

प्रवहमान सूर्यनाड़ी और चन्द्रनाड़ी में पृथ्वी आदि पाँचों ही तत्त्व रात-दिन

---

* पवनविजयस्वरोदय, गरुड़पुराणादि में तत्त्वों के प्रवाह को जानने की विधियाँ वर्णित हैं।

प्रवहमान रहते हैं, ज्ञानियों को ऐसा जानना चाहिए।

ऊर्ध्वं वह्निरधौ वारि तिरश्चीनः समीरणः।
भूमिर्मध्यपुटे व्योम सर्वगं वहते पुनः॥ 30॥

अग्नि तत्त्व की प्रकृति ऊर्ध्व चलने की है जबकि जल तत्त्व नीचे चलता है। वायु तत्त्व बायाँ या तिर्यक् चलता है। भूमि तत्त्व नासिका के मध्य में ही चलता है और आकाश तत्त्व सर्वत्र या दोनों में ही प्रवहमान रहता है।*

वायोर्वह्नेरपां पृथ्व्या व्योम्नस्तत्त्वं क्रमाद्वहेत्।
वहन्त्योरुभयोर्नाड्योर्ज्ञातव्योऽयं क्रमः सदा॥ 31॥

सूर्य और चन्द्र इन दोनों नाड़ियों में प्रथम वायु और तदोपरान्त क्रमशः अग्नि, जल, पृथ्वी और आकाश तत्त्व अनुक्रम से प्रवहमान होते हैं। यह अनुक्रम हमेशा का समझना चाहिए।

तत्त्वस्य पलानि :—

पृथ्व्याः पलानि पञ्चाश च्चत्वारिंशत्तथाम्भसः।
अग्नेस्त्रिंशत्पुनर्वायोर्विंशति र्नभसो दश॥ 32॥

सञ्चरण के अनुसार पृथ्वी तत्त्व पचास पल, जल तत्त्व चालीस पल, अग्नि तत्त्व, तीस पल, वायु तत्त्व बीस पल और आकाश तत्त्व दस पल के अनुसार बहता है।

प्रवाहकालसङ्ख्येयं हेतुर्बह्वल्पयोरथ।
पृथ्वी पञ्चगुणा तोयं चतुर्गुणमथानलः॥ 33॥
त्रिगुणो द्विगुणा वायुर्विंयदेकगुणं भवेत्।
गुणं प्रति दश पलान्युर्व्यापञ्चाशदित्यतः॥ 34॥
एकैकहानिस्तोयादेस्ते च पञ्चगुणाः क्षितौ।
गन्धो रसश्च रूपं च स्पर्शः शब्दः क्रमादमी॥ 35॥

इस प्रकार पूर्व में पाँचों तत्त्व कितने समय तक बहते हैं, कहा गया है। अब पाँचों ही तत्त्वों की स्थिति न्यूनाधिक क्यों है, इस सम्बन्ध में कहा जा रहा है कि पृथ्वी तत्त्व के गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द– ये पाँच गुण हैं। जल तत्त्व के रस, रूप, स्पर्श और शब्द– ये चार गुण हैं। अग्नि तत्त्व के रूप, स्पर्श, और शब्द– ये

---

* पवनविजयस्वरोदय में भी कहा है कि पृथ्वीतत्त्व से युक्त स्वर मध्य में, जलतत्त्वयुक्त स्वर नीचे की ओर, तेजतत्त्वमिश्रित स्वर ऊर्ध्व, वायुतत्त्व से युक्त स्वर तिरछा एवं आकाशतत्त्व से मिश्रित स्वर दो स्वरों के प्रवाह के रूप में चलता है— मध्ये पृथ्वी ह्यधश्चापश्चोर्ध्वं वहति चानलः। तिर्यग्वायुप्रवाहश्च नभो वहति सक्रमः॥ (स्वरोदय 154)

तीन गुण हैं। वायु तत्त्व के स्पर्श और शब्द–ये दो गुण हैं और आकाश तत्त्व का शब्द संज्ञक एक ही गुण है। प्रत्येक गुण की दस पल की स्थिति है। इस प्रकार पाँच गुणों से पृथ्वी तत्त्व की स्थिति 50 पल की है जबकि दूसरे तत्त्वों में अनुक्रम से एक-एक गुण कम होने से दस-दस पल कम होते जाएँगे। अतः जल तत्त्व की स्थिति 40 पल, अग्नि तत्त्व की 30, वायु तत्त्व की 20 और आकाश तत्त्व की 10 पल की स्थिति होती है।

तत्त्वानुसारेण कार्यव्यवहारः

तत्त्वाभ्यां भूजलाभ्यांस्याच्छान्ते कार्ये फलोन्नतिः।
दीप्तास्थिरादिके कृत्ये तेजो वाय्वम्बरैः शुभम्॥ 36॥

जब कोई सौम्य या शान्त कार्य करना हो तो पृथ्वी तत्त्व या जल तत्त्व ग्रहण किया जाना चाहिए। इससे फल प्रशस्त और उन्नतिप्रद रहता है। क्रूर तथा अस्थिर कार्य करना हो तो अग्नि, वायु अथवा आकाश तत्त्व लेने से शुभ फल मिलता है।

तत्त्वचिह्नानिः

पृथ्व्यप्तेजोमरुद्व्योमतत्त्वानां चिह्नमुच्यते।
आद्ये स्थैर्यं स्वचित्तस्य शैत्यकामोद्भवौपरे॥ 37॥
तृतीये कोपसन्तापौ तुर्येऽथ चञ्चलात्मता।
पञ्चमे शून्यतैव स्यादथवा धर्मवासना॥ 38॥

इसके बाद, पृथ्वी आदि पाँच तत्त्वों में से कौनसा तत्व शरीर में विचारकाल में है, यह जानने के लिए पाँचों तत्त्वों के लक्षण कहे जा रहे हैं। जब पृथ्वी तत्त्व का शरीर में संचरण हो तो चित्त स्थिर रहता है। जल तत्त्व हो तो शीतलता और काम विकार की उत्पत्ति होती है। अग्नि तत्त्व हो तो क्रोध एवं सन्ताप व्याप्त होता है। वायु तत्व हो तो चित्त की चञ्चल प्रवृत्ति होती है और आकाश तत्त्व हो तो मन में शून्यता परिव्याप्त रहती है अर्थात् धर्म-वासना की प्रवृत्ति होती है।

स्वरपरीक्षणविधिः

श्रुत्योरङ्गुष्ठकौ मध्याङ्गुल्यौ नासापुटद्वये।
सृक्किणोः प्रान्त्यकोपान्त्याङ्गुली शेषे दृगन्तयोः॥ 39॥
न्यस्यान्तर्भूपृथ्व्यादि तत्त्वज्ञानं भवेत्क्रमात्।
पीतश्वेतारुणश्यामैर्विन्दुभिर्निरुपाधिकम्॥ 40॥

स्वरानुसार वर्ण परीक्षण की विधि कही जा रही है। अपने कान में दोनों अँगूठे, नाक के दोनों छिद्रों में दोनों हाथों की मध्य की अङ्गुलियाँ, आँख पर अँगूठे के पास की दोनों हाथों की अङ्गुलियाँ और ओष्ठ के पार्श्व पर दोनों हाथ की अन्तिम

अङ्गुलियाँ और उनके पास की दो अङ्गुलियाँ रखकर भ्रकुटी के अन्दर देखने से पाँचों तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार पण्मुखीमुद्रा से यदि पीला वर्ण दिखाई देता हो तो पृथ्वी तत्त्व, श्वेत दिखाई तो जल तत्त्व, लाल दिखाई दे तो अग्नि तत्त्व, काला वर्ण दिखाई दे तो वायु तत्त्व और कुछ भी न दिखाई दे तो आकाश तत्त्व जानना चाहिए।*

पीतः कार्यस्य संसिद्धिं विन्दुः श्वेतः सुखं पुनः।
भयं सन्ध्यारुणो ब्रूते हानिं भृङ्गसमद्युतिः॥ 41॥

उपर्युक्त वर्णानुसार देखते हुए यदि पीला बिन्दु दिखाई दे तो अभीष्ट कार्य की सिद्धि होगी, ऐसा जाने और यदि श्वेत दिखाई दे तो सुख प्राप्ति, लाल दिखाई दे तो भय की उत्पत्ति और भ्रमर जैसा श्याम वर्ण दिखाई दे तो हानि होगी, ऐसा जानना चाहिए।

जीवितव्ये जये लाभे सस्योत्पत्तौ च वर्षणे।
पुत्रार्थे युद्धपृच्छायां गमनागमने तथा॥ 42॥
पृथ्व्यप्तत्त्वे शुभे स्यातां बह्निवातौ च नो शुभौ।
अर्थसिद्धिः स्थिराव्यां तु शीघ्रमम्भसि निर्दिशेत्॥ 43॥

व्यक्ति को अपनी आजीविका, विजय, इष्ट लाभ, धान्य की उत्पत्ति, वृष्टि, पुत्रैच्छा, युद्ध सम्बन्धी प्रश्न, गमन और आगमन आदि कार्यों में पृथ्वी तत्त्व और जल तत्त्व को प्रशस्त जानना चाहिए। अग्नि और वायु तत्त्व उपर्युक्त कार्यों में शुभफलप्रदाता नहीं हैं। पृथ्वी तत्त्व शनैः शनैः और जल तत्त्व शीघ्र शुभफल देता है।

अथ शरीरसाधनं —

निष्ठीवनेन दद्रुवादेस्ततः कुर्यान्निघर्षणम्।
अङ्गदार्ढ्याय पाणिभ्यां वज्रीकरणमाचरेत्॥ 44॥

(प्रातःकालीन दिनचर्या के प्रसङ्ग में ही कहा जा रहा है कि यदि) शरीर पर

---

* पवनविजयस्वरोदय में तत्त्वों के प्रवाह को जानने के लिए कहा गया है कि सुबह से ही प्रयास कर स्वरों के प्रवाह का निरीक्षण करना चाहिए। योगी लोग इसीलिए काल को ठगने के लिए यह अभ्यास करते हैं। दोनों हाथों के अङ्गूठों को दोनों कानों में, दोनों बीच की अङ्गुलियों को नाक के छेदों में, मुख पर अनामिका और कनिष्ठिका अङ्गुलियों को और आँखों पर तर्जनी अङ्गुलियों को रखना चाहिए। इस प्रकार कार्य करने से पृथ्वी, जल आदि पाँचों तत्त्वों का ज्ञान क्रम से होता है— निरीक्षितव्यं यत्नेन सदा प्रत्यूषकालतः। कालस्य वञ्चनार्थाय कर्म कुर्वन्ति योगिनः॥ श्रुत्योरङ्गुष्ठकौ मध्याङ्गुल्यौ नासापुटद्वये। वदनप्रान्तके चान्याङ्गुलिर्दद्याच्च नेत्रयोः॥ अस्या तनु पृथिव्यादि तत्त्वज्ञानं भवेत् क्रमात्। पीतश्वेतारुणश्यामैर्विन्दुभिर्निरुपाधिकम्॥ (स्वरोदय 149-151)

**तुलनीय— जीवितव्ये जये लाभे कृष्यां च धनकर्मणि। मन्त्रार्थे युद्धप्रश्ने च गमनागमने तथा॥ (स्वरोदय 178)

कोई दाद-खाज, एग्जिमा हो तो उस पर बासी मुँह के थूक को रगड़ना चाहिए और शरीर के वज्रीकरण के लिए दोनों हाथों से मसाज करनी चाहिए।

वज्रनामकमाकण्ठं पातव्यमथवा पयः।
अम्भसः प्रसृतीरष्टौ पेयाः केचिद्वदन्त्यपि॥ 45॥

प्रातःकाल जलपान बहुत लाभदायक होता है। इस कारण जल को वज्र कहा जाता है। अतः 'वज्र' संज्ञक पानी को आकण्ठ या भरपेट पीना चाहिए। कई विद्वानों ने तो आठ पसली पानी पीने को कहा है।*

न स्वप्यान्नान्यमायासं कुर्यात्पीत्वा जलं सुधीः।
आसीनो हृदि शास्त्रार्थान् दिनकृत्यानि च स्मरेत्॥ 46॥

कभी जलपान करके पुनः नहीं सोना चाहिए और थकावट करने वाला काम भी नहीं करना चाहिए किन्तु, हृदय में स्थित होकर शास्त्रों में वर्णित मतों पर विचार करना चाहिए अथवा उस दिन जो भी शुभकृत्य निश्चित किया गया हो, उसका चिन्तन करना चाहिए।

प्रभाते करदर्शनं —

प्रातः प्रथममेवाथ स्वपाणिं दक्षिणं पुमान्।
पश्येद्वामं च वामाक्षी निजपुण्यप्रकाशकम्॥ 47॥

सुबह उठते ही करदर्शन करना चाहिए। पुरुष को चाहिए कि वह अपने पुण्य को प्रकाशित करने वाले दाहिने हाथ को देखे और स्त्री को बायाँ हाथ देखना चाहिए।

शौचाशौचमाह —

मौनी वस्त्रावृतः कुर्याद्दिने सन्ध्याद्वयेऽपि च।
उदङ्मुखः शकृन्मूत्रे रात्रौ याम्याननः पुनः॥ 48॥

इसके बाद उचित वस्त्रादि धारण कर, दिन को अथवा प्रभात या सन्ध्या हो तो उत्तर दिशा में और रात्रि हो तो दक्षिण दिशा की ओर मुँह रखकर मौनावस्था में मल-मूत्र का विसर्जन करना चाहिए।**

---

* अष्टाङ्गसंग्रह सूत्रस्थान में कहा गया है कि जल का उचित रूप से ही प्रयोग किया जाना चाहिए— केवलं सौषधं पक्वममुष्णं हितं च तत्। समीक्ष्य मात्रया युक्तममृतं विषमन्यथा॥ अतियोगेन सलिलं तृष्यतोऽपि प्रयोजितम्। प्रयाति पित्तश्लेष्मत्वं ज्वरितस्य विशेषतः॥ वर्धयत्यामतृण्निद्रा-तन्द्राऽऽध्मानाङ्गगौरवम्। कासाग्निसादहल्लास प्रसेकश्वासपीनसान्॥ (अष्टाङ्गसंग्रह. 6, 32-34)

**महाभारत में कहा है कि दिन में उत्तर व रात में दक्षिण की ओर मुख करके मल-मूत्र का त्याग करना चाहिए, इससे आयु क्षीण नहीं होती है— उभे मूत्रपुरीषे तु दिवा कुर्यादुदङ्मुखः। दक्षिणाभिमुखो रात्रौ तथा ह्यायुर्न रिष्यते॥ (अनुशासन पर्व 104, 76 तुलनीय मनुस्मृति 4, 50)

प्रातःसन्ध्याकालमाह —

नक्षत्रेषु समस्तेष भ्रष्टतेजस्सु भास्वतः।
यावदर्धोदयस्तावत् प्रातःसन्ध्याभिधीयते॥ 49॥

जब सभी नक्षत्र निस्तेज अर्थात् दिखाई देना बन्द हो जाते हैं और सूर्यबिम्ब का आधा भाग उदित हुआ दिखाई देता है तब प्रातः सन्ध्या का समय हो गया है, ऐसा कहा जाता है।*

शौचयोग्यस्थानानि —

भस्मगोमयगोस्थानवल्मीकशकृदादिमत्।
उत्तम द्रुमसप्तार्चिर्मार्गनीराश्रयादि च॥ 50॥
स्थानं चितादिविकृतं तथाकूलं कषातटम्।
वर्जनीयं प्रयत्नेन वेगाभावेऽन्यथा नतु॥ 51॥

ऐसा स्थान जहाँ पर कि भस्म या राख पड़ी हो, जहाँ बैल, घोड़े और गायें चरती हों या बाँधी जाती हों, जहाँ वल्मीक (बाँबी), मलादि मलीन वस्तु, उत्तम वृक्ष या अग्नि हो, जो आवा-जाही का मार्ग हो, पानी का स्थान या विश्रान्ति लेने की जगह हो और श्मशान अथवा नदी का किनारा हो– ऐसे स्थानों पर यदि बहुत उतावल न हो तो मल-मूत्रोत्सर्ग नहीं करना चाहिए।**

वेगान्न धारयेद्वातविण्मूत्रतृट्क्षुतक्षुधाम्।
निद्राकासश्रमश्वासजृम्भा श्रुच्छर्दिरेतसाम्॥ 52॥

यदि अधोवायु, मल, मूत्र, तृष्णा, छींक, डकार, निद्रा, खाँसी, श्रम करने से बढ़ा हुआ श्वासोच्छ्वास (हाँपना), जम्हाई, अश्रु, वमन और वीर्य– ये स्वभाव से होते हों तो इसकी गति को रोकने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

इत्यमनन्तर शौचाचारः

गन्धवाहप्रवाहस्य निजं पृष्ठमनपर्यन्।
स्त्रीपूज्यागोचरे लोष्टद्वायन्यस्तपदः सुधीः॥ 53॥

---

* विश्वामित्रस्मृति में कहा गया है कि सूर्योदय से पूर्व जबकि आकाश में तारे भरे हुए हों, उस समय की सन्ध्या उत्तम, ताराओं के छिपने से सूर्योदय तक मध्यम और सूर्योदय के बाद की सन्ध्या अधम होती है— उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका। अधमा सूर्यसहिता प्रातःसन्ध्या त्रिधा स्मृता॥ (विश्वामित्र. 1, 22)

**तुलनीय— न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे। न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते। न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन॥ न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः। न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके॥ (मनुस्मृति 4, 45-47 कूर्मपुराण उपरीभाग 13, 36-40, नारदपुराण पूर्व. 27, 5-7 एवं ब्रह्मवैवर्तपुराण ब्रह्म. 26, 19-24)

मन्दं मन्दं ततः कृत्वा निरोधस्य विमोचनम्।
निःशल्यादुष्टमृत्पिण्डे नोन्मृज्यं च गुदान्तरम्॥ 54॥

समझदार पुरुष को चाहिए कि मल-मूत्र करने के लिए बैठते समय वायु का प्रवाह जिस ओर से हो उस ओर अपनी पीठ न रखे। स्त्रियों अथवा अपने पूज्य पुरुषों की दृष्टि नहीं पड़ने दे। पत्थर पर दोनों पैर रखते हुए इस तरह बैठकर धीरे-धीरे मल-मूत्र का त्याग करने के बाद ऐसी मिट्टी जिसमें कण्टक व कङ्कड़ नहीं हो, लेकर अपने मलद्वार की शुद्धि करनी चाहिए।*

अथ क्षुत्शुक्रकृन्मूत्रविचारः

क्षुतशुक्रशकृन्मूत्रं जायते युगपद्यदि।
तत्र मासे दिने तत्र वत्सरान्ते मृतिर्भवेत्॥ 55॥

यदि किसी को छींक, धातुक्षय, मल और मूत्र– ये चारों ही एक साथ हों तो एक वर्ष के अन्त में उसी मास और उसी दिन में उस मनुष्य की मृत्यु जाननी चाहिए।

विमुच्यान्याः क्रियाः सर्वा जलशौचपरायणः।
गुदं लिङ्गं च पाणी च पूतया शोधयेन्मृदा॥ 56॥

जलशुद्धि की ओर ध्यान रखने वाले पुरुषों को चाहिए कि वे अन्य समस्त कार्य छोड़कर पहले मलद्वार, जननेन्द्रिय और हाथ शुद्ध मिट्टी से साफ करे।

व्यायामनियमः

श्लेष्माधिकेन कर्तव्यो व्यायामस्तद्विनाशकः।
ज्वलिते जाठरेऽग्नौ च न कार्यो हितमिच्छता॥ 57॥

जिसके शरीर में श्लेष्माधिक्य या कफ की अधिकता हो, उसको कफ के विनाश करने हेतु व्यायाम (कसरत) करना चाहिए। यदि पेट में जठराग्नि प्रदीप्त हुई हो अर्थात् बहुत भूख लगी हो तो व्यायाम कदापि नहीं करना चाहिए।

गतिशक्त्यर्धमेवासौ क्रियमाणः सुखावहः।
गात्रस्वेदाधिकस्त्वत्र सोऽश्वानामिव नोचितः॥ 58॥

जितनी अपनी चलने की शक्ति हो, उससे आधा ही व्यायाम करना सुखदायक है। यदि व्यायाम करते हुए अश्व की भाँति शरीर में पसीना होता हो तो व्यायाम करना उचित नहीं है।

---

* यथा— वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः। न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम्॥ प्रत्यग्निं प्रतिसूर्यं च प्रतिसोमदोकद्विजान्। प्रतिगां प्रतिवातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः॥ एकलिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश। उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता॥ (मनु. 4, 48 एवं 52 तथा 5, 136)

गजाद्यैर्वाहनैर्यस्तु व्यायामो दिवसोदये।
अमृतोपम एवासौ भवेयुस्ते च शिक्षिताः॥

दिन के उदयकाल में गजसवारी और अश्वसवारी करना उचित है, इसी दौरान व्यायाम करना अमृत के समान प्रशस्त है क्योंकि इससे गज-अश्वादि को भी सञ्चरण की उचित शिक्षा प्राप्त होती है।

अथ दन्तधावनं —

दन्तदार्ढ्याय तर्जन्या घर्षयेद्दन्तपीठिकाम्।
आदावतः परं कुर्याद्दन्तधावनमादरात्॥ 60॥

व्यक्ति को अपने दाँत सुदृढ़ करने के लिए पहले तर्जनी अङ्गुली से दाँत की पेढ़ियाँ घिसनी चाहिए। इसके बाद, सम्भल कर दाँत घिसे।

यद्याद्यवारिगण्डूषाद्बिन्दुरेकः प्रधावति।
कण्ठे तदा नरैर्ज्ञेयं शीघ्रं भोजनमुत्तमम्॥ 61॥

जब दन्तधावन किया जा रहा हो तब कुल्ले एक बिन्दु भी कण्ठ में उतर जाए तो व्यक्ति को यह जानना चाहिए कि आज अतिशीघ्र और उत्तम भोजन मिलेगा।

दन्तधावनकाष्ठलक्षणः

अवक्राग्रन्थिसत्कूर्चं सूक्ष्माग्रं द्वादशाङ्गुलम्।
कनिष्ठाग्रसमस्थौल्यं ज्ञातवृक्षं सुभूमिजन्॥ 62॥

दाँतों की सफाई के लिए काष्ठ कैसा हो, इसके लिए कहा जा रहा है कि सीधा, बिना गाँठ वाला, जिसका गुच्छा अच्छा बन्ध जाए, अग्र भाग कोमल हो ऐसा काष्ठ लेना चाहिए। वह बारह अङ्गुल लम्बा और तर्जनी के आकार जैसा मोटा हो। अपनी परिचित, उत्तम भूमि में उत्पन्न हुए वृक्ष का दन्तकाष्ठ (दातुन) लेना चाहिए।*

कनिष्ठिकानमिकयोरन्तरं दन्तधावनम्।
आदाय दक्षिणां दंष्ट्रां वामां वा संस्पृशस्तले॥ 63॥
तल्लीनमानसः स्वस्थो दन्तमांसमपीडयन्।

सर्वप्रथम दातुन को तर्जनी और उसके पास की अङ्गुली के बीच में पकड़

---

* स्मृतियों में कहा गया है— सर्वे कण्टकिनः पुण्याः क्षीरिणश्च यशस्विनः। दूध वाले और काँटे वाले वृक्ष दातुन के लिए पवित्र माने गए हैं। (लघुहारीतस्मृति 4, 9)
उत्तम वृक्षों के लिए कहा है— खदिरश्च करञ्जश्च कदम्बश्च वटस्तथा। वेणुश्च तिन्तिडीप्लक्षा वाम्रनिम्बे तथैव च। अपामार्गश्च बिल्वश्च अर्कश्चौदुम्बरस्तथा। एते प्रशस्ताः कथिता दन्तधावनकर्मणि॥ (विश्वामित्रस्मृति 1, 61-62) दाँतुन के प्रमाण के लिए कहा है— कनिष्ठाग्रपरीमाणं सत्वचं निर्व्रणारुजम्। द्वादशाङ्गुलमानं च सार्द्रं स्याद्दन्त धावनम्॥ (स्कन्द. ब्रह्म. धर्मारण्य. 5, 59 एवं तुलनीय—वसिष्ठस्मृति 2, 6, 18)

कर दाहिनी या बायीं दाढ़ पर घिसना चाहिए। दाँत घिसते समय स्वस्थ चित्त होकर घिसने में ही बराबर ध्यान रखना चाहिए। दाँत के आस-पास के मांस को पीड़ा न हो, उसे इसी तरह घिसते जाना चाहिए।

उत्तराभिमुखः प्राची मुखो वा निश्चलासनः॥ 64॥
दन्तान्मौनपरस्तेन घर्षयेद्वर्जयेत् पुनः।
दुर्गन्धं शुषिरं शुष्कं स्वाद्वम्लं लवणं च तत्॥ 65॥

दातुन करते समय उत्तर या पूर्व दिशा की ओर मुँह रख कर निश्चल बैठना चाहिए और मौन रहना चाहिए।* बतियाते हुए दातुन नहीं करें। ऐसा काष्ठ जिससे दुर्गन्ध आती हो, जो भीतर से खोखला हो, सूखा, मीठा, खट्टा या क्षारीय स्वाद वाला काष्ठ दातुन के लिए वर्ज्य समझना चाहिए।**

दन्तधावननिषेधः

व्यतीपाते रवेर्वारे सङ्क्रान्तौग्रहणे न तु।
दन्तकाष्ठं नवाष्टैकभूतपक्षान्तषट्द्युषु॥ 66॥

कब दन्तधावन का निषेध है, इस सम्बन्ध में कहा है कि जिस दिन व्यतीपात हो, रविवार, संक्रान्ति, ग्रहण दिवस, नवमी, अष्टमी, प्रतिपदा, चतुर्दशी, पूर्णिमा, षष्ठी और अमावस्या– इन दिनों में दातुन नहीं करना चाहिए।卐

दन्तकाष्ठाभावेमुखशुद्धिनिर्देशं —

अभावे दन्तकाष्ठस्य मुखशुद्धिविधिः पुनः।
कार्यो द्वादशगण्डूषैर्जिह्वोल्लेखस्तु सर्वदा॥ 67॥

यदि कभी दाँतुन के लिए काष्ठ न मिले या निषिद्ध दिवस हो तब विधि यह है कि उस दिन बारह कुल्ले कर मुँह को शुद्ध करना चाहिए। जिह्वा का मैल तो घिसकर सर्वदा उतारना ही चाहिए।◊

---

* वराहमिहिर ने कहा है— उदङ्मुखः प्राङ्मुख एव वाब्दं कामं यथेष्टं हृदये निवेश्य। अद्यादनिन्दन् च सुखोपविष्टः...। (बृहत्संहिता 85, 8)
इसी प्रकार स्मृतियों में कहा है— न दक्षिणाभिमुखः। अद्याच्चोदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा॥ (विष्णुस्मृति 61 एवं वृद्धहारीतस्मृति 4, 24)

**स्कन्दपुराणकार का मत है— न पाटितं समश्नीयाद्दन्तकाष्ठं न सव्रणम्। च चोर्द्धशुष्कं वक्रं वा नैव च त्वग्विवर्जितम्॥ (स्कन्द. प्रभासखण्ड 17, 13)

卐 स्मृतियों का मत है— प्रतिपत्पर्वषष्ठीषु नवम्याञ्चैव सत्तमाः। दन्तानां काष्ठसंयोगाद्हत्यासप्तमं कुलम्॥ (लघुहारीत स्मृति 4, 10)
इसी प्रकार पुराणकारों का कहना है— अमावस्यां तथा षष्ठ्यां नवम्यां प्रतिपद्यपि। वर्जयेद्दन्तकाष्ठन्तु तथैवार्कस्य वासरे॥ (आचारकाण्ड 205, 51)

◊ लघुहारीतस्मृति में भी आया है–अभावे दन्तकाष्ठानां प्रतिषिद्धदिनेषु च। अपां द्वादशगण्डूषैर्मुखशुद्धिं समाचरेत्॥ (4, 11; तुलनीय–वाधूलस्मृति 37, नरसिंहपुराण 58, 51-52 एवं देवीभागवत 11,2,39)

विलिख्य रसनां जिह्वा निर्लेखिन्या शनैः शनैः।
शुचिप्रदेशे प्रक्षाल्य दन्तकाष्ठं पुनस्त्यजेत्॥ 68॥

हमेशा दन्तधावन के बाद दातुन को चीरकर उसके टुकड़े से शनै-शनै जिह्वा पर जमा हुआ मैल उतारना चाहिए। इसके बाद दातुन को धोकर किसी शुद्ध स्थान में डाल दिया जाना चाहिए।*

त्यक्तदन्तधावनफलं —

सम्मुखं पतितं स्वस्य शान्तानां ककुभां च यत्।
ऊर्ध्वस्थं सुखदं तत्स्यादन्यथा दुःखहेतवे॥ 69॥
ऊर्ध्वं स्थित्वा क्षणं पश्चात्पतत्येव यदा पुनः।
मिष्टाहारस्तदादिष्टस्तद्दिने शास्त्रकोविदैः॥ 70॥

दातुन करने के बाद फेंका गया काष्ठ यदि अपने सामने पड़े, शान्त दिशा में पड़े अथवा औंधे मुख पड़े तो सुख देता है। विपरीत रीति से पड़े तो दुःखकारक समझना चाहिए। यदि वह थोड़ी देर ऊँचा रहकर नीचे पड़े तो उस दिन मिष्टान्न की प्राप्ति होती है, ऐसा शास्त्रवेत्ताओं का मत है।**

पुनः दन्तधावननिषेधमाह —

कासश्वासज्वराजीर्ण शोथतृष्णास्यपाकयुक्।
न च कुर्याच्छिरोनेत्रहृत्कर्णामयवानपि॥ 71॥

ऐसे व्यक्ति यदि दातुन नहीं करे तो विचारणीय नहीं है जिनको खाँसी हो, श्वास या अस्थमा की परेशानी हो, ज्वर, अजीर्ण, सूजन, तृष्णा, मुख में छाले हो अथवा मस्तक, नेत्र, हृदय, और कान की पीड़ा हो।

अथ नेत्यादि क्रियावर्णनं —

प्रातः शनैः शनैर्नस्यो रोगहृच्छुद्धवारिणा।
गृह्णन्तो नासया तोयं गजा गर्जन्ति नीरुजः॥ 72॥

सुबह उठकर धीरे-धीरे नाक के रास्ते शुद्ध जल पीना चाहिए। इससे रोगों का विनाश होता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि हस्ती नाक से पानी पीते हैं जिससे वे निरोगी होकर चिङ्घाड़ते हैं।

---

* तुलनीय — प्रक्षाल्य जह्याच्च शुचिप्रदेशे। (बृहत्संहिता 85, 8 एवं कूर्मपुराण उ. 18, 21)

**उक्त श्लोक वराहमिहिर के मत से तुलनीय है कि जिस ओर से भक्षण किए थे, उसी ओर से प्रशान्त दिशा में जाकर दन्तकाष्ठ गिरे तो शुभ है। यदि खड़ा हों जाए तो अतिशुभ और इससे उलटा गिरे तो अशुभ होता है। खड़ा होकर गिर जाए तो मिष्ठान्न का लाभ करता है— अभिमुखपतितं प्रशान्तदिक्स्थं शुभमतिशोभनमूर्ध्वसंस्थितं यत्। अशुभकरमतोऽन्यथा प्रदिष्टं स्थितपतितं च करोति मृष्टमन्नम्॥ (बृहत्संहिता दन्तकाष्ठलक्षणाध्याय 85, 9)

उक्तं च —

सुगन्धवदनाः स्निग्धनिस्वना विमलेन्द्रियाः।
निर्वलीपलितव्यङ्गा जायन्ते नस्यशीलिनः॥ 73॥

ऐसी वैद्यक शास्त्रों की उक्ति है कि जो पुरुष नस्य-द्रव्य का प्रयोग करते हैं, उनके मुख में सुगन्ध का वास होता है, स्वर मृदु होते हैं, इन्द्रियाँ निर्मल रहती हैं और शरीर पर दाग-चाठें आदि नहीं पड़ते हैं।

स्नेहनगण्डूषविधिं —

आस्यशोषाधरस्फोट स्वरभङ्गनिवृत्तये।
पारुष्यदन्तरुक्छित्त्यै स्नेहगण्डूषमुद्वहेत्॥ 74॥

यदि मुख सूखता जाता हो, ओठ फट गए हों, स्वर बैठ गए हों, चमड़ी चीठ हो गई हो, दन्तपीड़ा होती हो, तो उसे मिटाने के लिए सम्बद्ध रोगी को घृत अथवा तेल के कुल्ले करने चाहिए, इससे लाभ मिलता है।

केशप्रसाधनविधिं —

केशप्रसादनं नित्यं कारयेदथ निश्चलः।
कराभ्यां युगपत्कुर्यात्स्वोत्तमाङ्गे स्वयं न तत्॥ 75॥

केश प्रसाधन में यह ज्ञात रहे कि पीछे स्थिर बैठ कर किसी दूसरे से अपने शिर के बाल साफ कराने चाहिए। अपने ही सिर के केश अपने हाथ से साफ करने हो तो दोनों हाथ से एक साथ साफ नहीं करने चाहिए।

तिलकं द्रष्टुमादर्शे मङ्गलाय च वीक्ष्यते।
दृष्टे देहे शिरोहीने मृत्युः पञ्चदशेऽहनि॥ 76॥

अब मुकुर में स्वदर्शन के सम्बन्ध में कहा जा रहा है कि अपना तिलक देखने के लिए या माङ्गलिक के हेतु काँच में देखना चाहिए। इस दौरान यदि सिर विहीन केवल अपना धड़ ही दिखाई दे तो उस दिन से पन्द्रहवें दिन अपनी मृत्यु जाने।

मातृपितृनमस्कारफलं —

मातृप्रभृतिवृद्धानां नमस्कारं करोति यः।
तीर्थयात्राफलं तस्य तत्कार्योऽसौ दिने दिने॥ 77॥

जो अपने माता-पिता आदि वृद्धजनों को प्रणाम करता है, उसे तीर्थयात्रा का फल प्राप्त होता है। इसलिए उनको सदैव ही नमस्कार करना चाहिए।*

---

* मनु ने कहा है कि नित्यवृद्धजनों को प्रणाम करने से तथा उनकी सेवा करने से मनुष्य की आयु, विद्या, यश और बल की अभिवृद्धि होती है— अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम्॥ (मनु. 2, 121)

उक्तं च —

मातापित्रोरभरकः क्रियामुद्दिश्य याचकः।
मृतशय्या प्रतिग्राही न भूयः पुरुषो भवेत्॥ 78॥

ऐसा कहा भी गया है कि जो व्यक्ति अपने माता-पिता का पालन नहीं करे, कोई धर्मक्रिया के हेतु अर्थात् अमुक धर्मकृत्य करना है– ऐसा कहकर भी याचकवृत्ति अपनाए और मृतक का शय्यादान ले, उसको पुनः मनुष्य जन्म का मिलना दुर्लभ है।

वृद्धौ च मातृपितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः।
अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत्॥ 79॥

अपने वृद्ध माता-पिता, शीलवती स्त्री, और अज्ञानी पुत्र– इनका पोषण सैकड़ों अकार्य करके भी करना चाहिए– ऐसा मनु का कथन है।

सेवाफलं —

अनुपासितवृद्धानामसेवितमहीभुजाम्।
अवारमुख्यासुहृदां दूरे धर्मार्थतुष्टयः॥ 80॥

जो व्यक्ति स्थविर की सेवा नहीं करते हैं उनसे धर्म दूर रहता है; जो राज्य की सेवा नहीं करते उनसे द्रव्य दूर रहता है और जो वेश्या की मैत्री नहीं रखते अर्थात् उन्हें देखकर वैराग्यवान् होने में सन्तुष्ट नहीं होते, उनसे विषय सन्तोष दूर रहता है।

स्नानोपरान्तपूजादीनां —

ततः स्नात्वा शिरःकण्ठावयवेषु यथोचितम्।
पवित्रयितुमात्मानं जलैर्मन्त्रक्रमेण वा॥ 81॥

सामान्यतया देश-काल और अपनी प्रकृति को उचित लगे, वैसी ही बाह्यशुद्धि के हेतु शिरःस्नान (आमस्तक स्नान), कण्ठस्नान (आकण्ठ स्नान), अवयव स्नान (हाथ-पाँव इत्यादि की सफाई) करना चाहिए– ऐसा नियम है किन्तु ऐसे में यदि कोई पीड़ा हो तो मन्त्रस्नान भी किया जा सकता है।

वस्त्रशुद्धिमनः शुद्धिः कृत्वा त्यक्त्वा च दूरतः।
नास्तिकादीनधः क्षिप्त्वा पुष्पं पूजागृहान्तरे॥ 82॥
आश्रयन्दक्षिणां शाखामर्चयन्नथ देहलीम्।
तामस्पृशन्प्रविश्यान्तदक्षिणनाङ्घ्रिणा ततः॥ 83॥

इस प्रकार स्नानादि के बाद शुद्धवस्त्र धारणकर मन शुद्ध करके और नास्तिक, व्यसनी इत्यादि लोगों की दृष्टि से दूर रहकर पूजास्थल पर पुष्प इत्यादि सामग्री से द्वार की दाहिनी ओर खड़े रहकर उक्त पूजागृह की चौखट का पूजन करना चाहिए। इसके बाद चौखट को पाँव से स्पर्श नहीं करते हुए दाहिना पाँव आगे बढ़ाकर भीतर

प्रवेश करना चाहिए।

सुगन्धमधुरैर्द्रव्यैः प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः।
वामनाड्यां प्रवृत्तायां मौनवान्देवमर्चयेत्॥ 84॥

इस दौरान स्वर-प्रवाह पर विचार करें। चन्द्र नाड़ी अर्थात् बायीं नासिका के चलते समय पूर्व या उत्तर की ओर मुँह रखकर मौन रहते हुए सुगन्धित पदार्थ और मिष्ठान्न से (धूप-नैवेद्यपूर्वक) देवपूजन करना चाहिए।

गृहे देवालयस्थानं —

गृहे प्रविशता वामभागे सुस्थान संस्थितम्।
देवतायतनं कुर्यात्सार्द्धहस्तोर्ध्वभूमिषु॥ 85॥

अपने गृह में देवपूजन स्थल कहाँ हो, इस सम्बन्ध में कहा जा रहा है कि प्रवेश करते समय बायीं ओर देवमन्दिर रखना चाहिए और घर की भूमि से उक्त मन्दिर की भूमि डेढ़ हाथ ऊँची होनी चाहिए।

निम्नभूमौदेवालयफलं —

नीचैर्भूमिस्थितं कुर्याद्देवतावसथं यदि।
नीचैनीचैस्ततौऽवश्यं सन्तत्यादि तदाभवेत्॥ 86॥

यदि अपने गृह में नीची भूमि पर देव मन्दिर बनाया जाएगा तो उस पुरुष की सन्तति इत्यादि नीच अवस्था में ही रहती है अर्थात् वे पतनोन्मुख होती हैं।

पूजनावसरे मुखस्थितिं सफलं —

पूजनः स्यादथो पूर्वमुखो वाप्युत्तरामुखः।
दक्षिणदिदिशा वर्ज्या विदिग्वर्जनमेव च॥ 87॥

पूजा करने वाले पुरुष को पूर्व या उत्तर दिशोन्मुख होकर बैठना चाहिए। दक्षिण, पश्चिम, आग्नेय (पूर्व-दक्षिण), नैर्ऋत्य (दक्षिण-पश्चिम), वायव्य (पश्चिम-उत्तर) और ईशान (उत्तर-पूर्व)— ये छह दिशाएँ पूजन में वर्जित जाननी चाहिए।

पश्चिमाभिमुखः पूजां जिनमूर्ते करोति चेत्।
चतुर्थसन्ततिच्छेदो दक्षिणस्याम सन्ततिः॥ 88॥

पश्चिम दिशा की ओर मुँह रखकर जो कोई जिन प्रतिमा का पूजन करता है, तो उसकी सन्तति का चौथी पीढ़ी में विच्छेद हो जाता है, ऐसा जानना चाहिए। इसी प्रकार दक्षिण में मुँह रखकर पूजन करें तो सन्तति कभी नहीं बढ़ती है।

आग्नेय्यां च यदा पूजा धनहानिर्दिनेदिने।
वायव्यां सन्ततिर्नैव नैर्ऋत्यां च कुलक्षयः॥ 89॥
ईशान्यां कुर्वतां पूजां संस्थितिर्नोपजायते।

आग्नेय कोण में मुँह रखकर पूजन करे तो दिन-प्रतिदिन द्रव्य की हानि होती रहती है। वायव्य कोण में मुँह रखने से सन्तान का अभाव और नैर्ऋत्य कोण में मुँह रखने से कुल का क्षय जानना चाहिए। इसी प्रकार ईशान कोण में मुँह रखकर पूजा करने वाले की स्थिति अच्छी नहीं रहती।

अङ्घ्रिजानुकरांसेषु मूर्धि पूजा यथाक्रमम्॥ 90॥
श्रीचन्दनं विना पूजा नैव कार्या जिनेशितुः।
भाले कण्ठे हृदम्भोजे उदरे तिलकं क्रमात्॥ 91॥

पूजा करने वाले को सर्वप्रथम दोनों पाँव तदोपरान्त क्रमशः दोनों जङ्घा, दोनों हाथ, दोनों स्कन्ध और मस्तक पर पूजन करना चाहिए। केसर-चन्दन के अभाव में जिन प्रतिमा का पूजन किसी भी काल में नहीं करना चाहिए। कपाल, कण्ठ, हृदय, उदर इत्यादि स्थान पर क्रम से तिलक करने चाहिए।

नवभिस्तिलकैः पूजा करणीया निरन्तरम्।
प्रभाते प्रथमं वासपूजा कार्या विचक्षणैः॥ 92॥

पूजनार्थी को चाहिए कि वह सदैव नौ तिलक करके जिन प्रतिमा का पूजन करे। विधिकारों, पूजा विज्ञों को प्रातःकाल में पहले वास-पूजा करनी चाहिए।

मध्याह्ने कुसुमैः पूजा सन्ध्यायां धूपदीपतः।
अर्हतो दक्षिण भागे दीपस्याथ निवेशनम्॥ 93॥

जिनदेव की प्रतिमा का मध्याह्न में सुगन्धित पुष्पों से पूजन करना चाहिए और सन्ध्या काल में धूप-दीप से पूजा करे। जिन प्रतिमा के दक्षिण में दीपक निवेश करने या रखने का स्थान बनाना चाहिए।

वामांशे धूपदहनमग्रे कूरं तु सम्मुखम्।
ध्यानं तु दक्षिणे भागे चैत्यानां वन्दनं तथा॥ 94॥

भगवान् की बायीं ओर धूपदान और आगे नैवेद्य रखना चाहिए। सदा प्रतिमा के सामने बैठकर ध्यान करना चाहिए। चैत्यवन्दन दक्षिण भाग में करना चाहिए।

पूजाकार्येपुष्पग्रहणविधिं —

गन्ध धूपाक्षतैः सद्भिः प्रदीपैर्बलिवारिभिः।
शान्तौ श्वेतं तथा पीतं लाभे श्यामं पराभवे॥ 95॥
मङ्गलार्थे तथा रक्तं पञ्चवर्ण तु सिद्धये।
पञ्चामृते तथा शान्तौ दीपः स्याच्च गुडैर्घृतैः॥ 96॥

पूजनार्थियों को चन्दन, अक्षत, धूप, दीप, बलि एवं जल– इन वस्तुओं से भगवान् का पूजन करना चाहिए। पुष्प के वर्ण के प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि

श्वेतपुष्प शान्तिकारक है, पीतपुष्प लाभदायक, श्यामपुष्प पराभव करने वाला, रक्तपुष्प माङ्गलिक है और इनके अतिरिक्त पाँचों ही वर्ण वाला कोई पुष्प हो तो वह सिद्धिदाता जानना चाहिए। पञ्चामृत पूजा अथवा शान्ति कार्य हो तो गुड़ व घृत का दीपक जलाना चाहिए।

पद्मासनसमासीनो नासाग्रन्यस्तलोचनः।
मौनी वस्त्रावृतास्योऽयं पूजां कुर्याज्जिनेशितुः॥ 97॥

पूजनार्थियों को पद्मासन लगाकर नासिका के भाग पर दृष्टि रखते हुए मौन रखकर और शुद्धवस्त्र से मुख कोश बाँधकर जिनेश्वर का पूजन करना चाहिए।

स्नानादीनावसरे मुखस्थितिं —

स्नानं पूर्वमुखीभूय प्रतीच्यां दन्तधावनम्।
उदीच्यां श्वेतवासांसि पूजा पूर्वोत्तरामुखी॥ 98॥

इति पूजाविधिः।

पूर्व दिशा में मुँह रखकर स्नान करना चाहिए। पश्चिम दिशा में मुँह रखकर दाँत साफ करें और उत्तर दिशा की ओर मुख रखकर देवपूजन करना चाहिए।

अथ जप विधिः

सङ्कुलाद्विजने भव्यः सशब्दान्मौनवाञ्शुभः।
मौनजान्मानसः श्रेष्ठो जपः श्लाघ्यः परः परः॥ 99॥

जप के सम्बन्ध में यह जानना चाहिए कि सामूहिक रूप से मन्त्र जाप करने की अपेक्षा वैयक्तिक, एकान्तिक जाप करना उत्तम है। जप के अक्षर लोग सुने, ऐसे कहने से, मौन रहकर गणना करना अच्छा है। मौन रखकर गिनने से, मन में ही मन्त्राक्षरों की पंक्ति का अर्थ सहित चिन्तन करना अत्युत्तम है। उपर्युक्त तीन प्रकार के जप में पहले से दूसरा और दूसरे से तृतीय श्रेष्ठ समझना चाहिए।

अथ प्रश्न विचारः

पूजाद्रव्यार्जनोद्वाहे दुर्गादिसरिदाक्रमे।
गमागमे जीवित च गृहक्षेत्रादिसङ्ग्रहे॥ 100॥
क्रयाविक्रयणे वृष्टौ सेवाकृषिविषे जये।
विद्यापट्टाभिषेकादौ शुभेऽर्थे च शुभः शशी॥ 101॥

(यहाँ स्वरशास्त्र के अनुसार विविध प्रश्नों पर विचार किया जा रहा है) पूजा कार्य, द्रव्योपार्जन करना, दुर्ग पर आरोहण, नदी पार करना, कहीं जाना-आना, जीवन सम्बन्धी कार्य, गृहार्थ क्षेत्र इत्यादि ग्रहण करना, किसी वस्तु का क्रय-विक्रय, वृष्टि के लिए कोई अनुष्ठान, सेवा करना, कृषि सम्बन्धी कार्य करना, विष

विषयक कोई कार्य करना, किसी पर विजय, विद्यारम्भ करना, राजा-युवराजादि का पट्टाभिषेक, मन्त्री पदारोहण-शपथ लेना इत्यादि कार्यों में अथवा किसी भी शुभ-माङ्गलिक कार्य में चन्द्रनाड़ी को प्रशस्त जानना चाहिए।

स्थानकदिक्स्थितिं —

अग्रस्थो वामगो वाऽपि ज्ञेयः सोमदिशि स्थितः।
पृष्ठस्थो दक्षिणस्थश्च विज्ञेयः सूर्यभागभाक्॥ 102॥

अपने आगे अथवा वाम भाग में खड़ा कोई व्यक्ति चन्द्र-दिशा में और पीछे या दक्षिण भाग में खड़ा हुआ व्यक्ति सूर्य दिशा में है, ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न प्रारम्भणे वाऽपि कार्याणां वामनासिका।
पूर्णा वायोः प्रवेशश्चेत्तदासिद्धिरसंशयम्॥ 103॥

जब कभी किसी कर्म का प्रश्न या आरम्भ करते समय बायीं नासिका में पूर्ण वायु प्रवेश करता हो या बायाँ स्वर प्रवहमान हो तो कार्य की निश्चित ही सिद्धि जाननी चाहिए।

युद्धसम्बन्धीप्रश्नं —

योद्धा समाक्षराह्वाश्चेद्दूतो वामावहः स्थितः।
तदा जयो विपर्यासे व्यत्ययं मतिमान् वदेत्॥ 104॥

युद्ध सम्बन्धी प्रश्न* में योद्धा के अक्षर दो, चार आदि सम संख्या में हो और प्रश्नकर्त्ता दूत की चन्द्रनाड़ी बहती हो तो युद्ध में विजय कहनी चाहिए। यदि संग्रामकर्ता के नाम के तीन, पाँच इत्यादि विषमाक्षर हो और दूत की सूर्यनाड़ी चलती हो तो युद्ध में पराभव होगा, ऐसा कहना चाहिए।

प्रवाहो यदि वार्केन्द्वोः कथं चिद्युगपद्भवेत्।
विजयादीनि कार्याणि समान्येव तदादिशत्॥ 105॥

यदि सूर्यनाड़ी और चन्द्रनाड़ी साथ-साथ प्रवाहित हो तो विजयादि कार्य सामान्य कहना चाहिए अर्थात् किसी भी पक्ष की हार या जीत न होते हुए दोनों पक्ष बराबर रहेंगे– ऐसा कहना चाहिए।

मुद्गलाद्यैर्गृही तस्य विषार्तस्याथ रोगिणः।
प्रश्ने समाक्षराह्वश्चेदित्यादि प्राग्वदादिशत्॥ 106॥

मुद्गल वाले (जिसके हाथ में मुद्गल हो ऐसे अखाड़ा-पहलवान) मनुष्य अथवा विष-विकार से पीड़ित रोगी का प्रश्न हो तो उपर्युक्त रीति के अनुसार नाम

---

* वराहमिहिर कृत योगयात्रा, बृहद्यात्रा, लघुटिक्कणिका, नरपति कृत जयचर्या, रामवाजपेयी कृत समरसार आदि में यह विषय विस्तार से आया है।

की सम-विषम संख्या से या प्रश्नकर्त्ता के स्वर से शुभाशुभ का फल कहना चाहिए।

नामग्राहं द्वयोः प्रश्ने जयाजयाविधौ वदेत्।
पूर्वोक्तस्य जयः पूर्णः पक्षे रिक्ते परस्य च॥ 107॥

जब कभी वादी-प्रतिवादी दोनों व्यक्तियों के नाम लेकर उनके जय-पराजय का कोई प्रश्न करे तो प्रश्नकर्ता मनुष्य जिस ओर खड़ा हो, उस ओर का अपना स्वर बहता हो तो पहले जिसका नाम लिया हो, उसकी विजय होता है और यदि वह पार्श्व रिक्त हो तो पीछे से जिसका नाम लिया हो, उसकी विजय होगी– ऐसा कहना चाहिए।

रोगीप्रश्नमाह —

रोगिप्रश्ने च गृह्णीयात्पूर्वं ज्ञान्यभिधां यदि।
पश्चाद्व्याधिमतो नाम तज्जीवति स नान्यथा॥ 108॥

जब कोई व्याधि पीड़ित के सम्बन्ध में प्रश्न करे और उसमें पहले जिससे प्रश्न करना हो उस निमित्ति का नाम उच्चारण करता हो तथा बाद में रोगी का नाम लेता रोगी जीवित रहता है, अन्यथा नहीं।

सूर्यनाडीविचारं —

बद्धानां रोगितानां च प्रभ्रष्टानां निजात्पदात्।
प्रश्ने युद्धविधौ वैरि सङ्गमे सहसा भये॥ 109॥
स्नाने पानेऽशने नष्टान्वेषे पुत्रार्थमैथुने।
विवाहे दारुणेऽर्थे च सूर्यनाडी प्रशस्यते॥ 110॥

कारागार में पड़ा हुआ, रोग से ग्रस्त और अपने अधिकार से भ्रष्ट– इन तीनों में से किसी के भी सम्बन्ध में प्रश्न करना हो; युद्ध करना हो, शत्रु से भेंट करनी हो, अचानक आपदा आ पड़ी हो, स्नान करना, खाना-पीना चोरी या खोई हुई वस्तु को ढूँढ़ना हो, पुत्र प्राप्ति के लिए स्त्रीसङ्ग करना, विवाह और कोई भी सुकर्म करना हो तो सूर्यनाड़ी को प्रशस्त जानना चाहिए।

नासायां दक्षिणायां तु पूर्णायामपि वायुना।
प्रश्नाः शुभस्य कार्यस्य निष्फलाः सकला अपि॥ 111॥

इति प्रश्नोपयोगी स्वरविचारः।

प्रश्नकर्ता की जो पूर्ण नासिका प्रवाहित होती हो, उस समय शुभ कार्य के निमित्त किए गए सब प्रश्न निष्फल होते हैं, ऐसा जानना चाहिए।

अथ तपाराधनाविचारं —

यथाशक्ति ततश्चिन्त्यं तपो नित्यं तदाग्रतः।
यस्य प्रभावतः सर्वाः सम्भवन्ति विभूतयः॥ 112॥

पूजादि सुकृत्य कर चुकने के बाद अपने सामर्थ्य के अनुसार यदि कोई तपश्चर्या करनी हो तो उसका विचार जिन प्रतिमा के सम्मुख करना चाहिए क्योंकि तपस्या के प्रभाव से समस्त सम्पदाओं की प्राप्ति होती है।

अन्यदप्याह —

धर्मशोकभयाहारनिद्राकामकलिक्रुद्धः।
यावन्मात्रा विधीयन्ते तावन्मात्रा भवन्त्यमी॥ 113॥

धर्म, शोक, भय, आहार, निद्रा, काम, कलह और क्रोध– ये आठ बातें जितनी बढ़ाएँ, उतनी बढ़ती है और जितनी घटाएँ, उतनी घटती हैं।

अपत्योत्पादने स्वामिसेवायां पोष्यपोषणे।
धर्मकृत्ये च नो कर्तुं युज्यन्ते प्रतिहस्तकाः॥ 114॥

अपनी स्त्री से पुत्रोत्पन्न करना, अपने स्वामी की सेवा करना, माता-पिता, स्त्री- पुत्रादि का पोषण और धर्मकृत्य– इन चारों कार्यों में किसी अन्य प्रतिनिधि की आवश्यकता नहीं वरन् ये कार्य तो स्वयं ही करने चाहिए।

न्यायसभासनेस्थितिं —

संवृताङ्गः समज्यायां प्रायः पूर्वोत्तराननः।
स्थिरासने समासीत संवृत्य चतुरोऽञ्चलान्॥ 115॥

यदि कभी पञ्चायत या न्याय सभा में बैठना हो तो अच्छे वस्त्र पहनने चाहिए। सभा में जाकर स्थिर आसन पर प्रायः पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुँह रखकर और वस्त्र के चारों पल्लुओं को समेट कर बैठना चाहिए।

अधमर्णारिचौराद्या विग्रहोत्पतिनोऽपि च।
शून्याङ्गे स्वस्य कर्तव्याः सुखलाभजयार्थिभिः॥ 116॥

सुखाभिलाषा, लाभ एवं जयार्थी पुरुषों को न्याय सभा में, अपने लेनदार को, शत्रु को, चोर को, अपने पर आरोप लगाने वाले को और दूसरे को– ऐसे ही अन्य पुरुषों को अपने शून्य पार्श्व अथवा जिस भाग की नासिका न बहती हो या बन्द हो, उस ओर रखना चाहिए।

स्वजनस्वामिगुर्वाद्या ये चान्ये हितचिन्तकाः।
जीवाङ्गे ते ध्रुवं कार्या वाञ्छितार्थं विधित्सुभिः॥ 117॥

अपना इच्छित कार्य करने वाले लोगों को अपने स्वजन को, स्वामी या गुरु को और दूसरे भी जो अपने शुभचिन्तक हों, उन सब मनुष्यों को अपनी जिस ओर

की नासिका पूर्ण बहती हो, उस ओर स्थान देना चाहिए।

सम्मानविचारं —

आचार्याणां यतीनां च पण्डितानां कलाभृताम्।
समुत्पाद्यः सदानन्दः कुलीनेन यथायथम्॥ 118॥

सम्भ्रान्त मनुष्यों को चाहिए कि आचार्य, यति, पण्डित और कलाविदों को उनकी योग्यता के अनुसार आदर-सम्मान प्रदान कर प्रसन्न रखें।

अथ निमित्तशास्त्रं —

विशेषज्ञानमधुना कलिकालवशाद्गतम्।
नित्यमेव ततश्चिन्त्यं बुधैश्चन्द्रबलादिकम्॥ 119॥

ऋषियों द्वारा विचारित भविष्य के सम्बन्ध में जो ज्ञान पूर्व में था, वह कलिकाल के प्रभाव से गत हो गया है अतः ज्ञानियों को अपने कार्यों की सिद्धि के लिए चन्द्रबल, ताराबलादि पर विचार करना चाहिए।

न निमित्तद्विषां क्षेमं नायुर्वैद्यकविद्विषाम्।
न श्रीर्नीतिद्विषामेकमपि धर्माद्विषां नहि॥ 120॥

ज्योतिष, सामुद्रिक, शकुन, स्वर, अङ्गविद्या, लग्नादि आठ प्रकार के निमित्तशास्त्रों से जो द्वेष करते हैं, उनका कभी कल्याण नहीं होता है। वैद्यकशास्त्र से द्वेष करने पर लक्ष्मी से वञ्चित हो जाना पड़ता है। धर्म से द्वेष करे तो वह व्यक्ति कल्याण, दीर्घायुष्य और लक्ष्मी– इन तीनो में से किसी एक को भी नहीं पाता है।

निराहारे त्याज्यपदार्थाः

निरन्नैर्मैथुनं निद्रां वारिपानार्कसेवनम्।
एतानि विषतुल्यानि वर्जनीयानि यत्नतः॥ 121॥

निराहार या खाली पेट हो तब मनुष्यों को स्त्रीसङ्ग, निद्रा, जलपान और धूप सेवन– इतनी बातों को यत्नपूर्वक त्याग देना चाहिए। इसका कारण यह है कि उस समय ये विष तुल्य हैं।

सुकृत्यप्रशंसामाह —

सुकृताय न तृप्यन्ति सन्तः सन्ततमप्यहो।
विस्मर्तव्या न धर्मस्य समुपास्तिस्ततः क्वचित्॥ 122॥

सन्तपुरुष नित्यप्रति सुकृत्य करें तो भी वे कभी इन कार्यों से अघाते या तृप्त नहीं होते हैं। इसलिए धर्म की सेवा करना किसी भी समय भूलना नहीं चाहिए।

धर्मस्थलसेवनफलं —

धर्मस्थाने ततो गम्यं श्रीमद्भिः कृतभूषणैः।
प्राक्पुण्यं दर्श्यतेऽन्येषां स्वयं नव्यं ह्युपार्ज्यते॥ 123॥

ऐसे सुखी पुरुषों को चाहिए कि वे वस्त्राभरण धारणकर धर्मस्थल पर जाएँ।

यह अपने पूर्वजन्म का पुण्योदय होता है जो दिखाई देता है और वैसे ही नए पुण्य का उपार्जन भी होता है।

नित्यं देवगुरुस्थाने गन्तव्यं पूर्णपाणिभिः।
विधेयस्तत्र चापूर्वज्ञानाभ्यासो विवेकिभिः॥ 124॥

अपने हाथ में फल-फूल, चावल आदि कोई भी भेंट योग्य वस्तु लेकर नित्य धर्मस्थल पर जाना चाहिए। यदि वहाँ से कोई ज्ञानलब्धि नहीं भी हो तो उसको ज्ञानियों से प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

आजन्म गुरुदेवानामर्जनं युज्यते सताम्।
रोगादिभिः पुर्ननस्याद्यदि तन्नैव दोषकृत्॥ 125॥

आजीवन सद्पुरुषों को देवपूजा और गुरुभक्ति सदैव ही करना उचित है तथापि यदि व्याधि-रोगादि के चलते ऐसा नहीं हो सके तो कुछ दोष नहीं जानना चाहिए।

कुप्रवृतिं त्रिधा त्यक्त्वा दत्त्वा तिस्त्रः प्रदक्षिणाः।
देवस्यार्चां त्रिधा कृत्वां तध्यायेत्सिद्धिदं सुधीः॥ 126॥

यह कर्तव्य है कि मन, वचन, काया से समस्त कुप्रवृत्तियों का त्याग करें। देवालय पहुँचकर प्रतिमा की तीन प्रदक्षिणा करें और मनसा-वाचा-काया पूजन करें। इसी प्रकार देवार्चा या प्रतिमा-स्वरूप का ध्यान करना चाहिए।

मिथ्यादृष्टिभिरग्राह्यो विश्वतिशयभासुरः।
निःसंसारविकारश्च यो देवः स सतां मतः॥ 127॥

जो लोग मिथ्या दृष्टि रखते हैं, उनको उस देवसत्ता का ज्ञान नहीं होता जबकि वह सत्ता सर्व अतिशयों से विराजित है और सांसारिक विकारों से सर्वथा रहित है।

अथ प्रतिमाधिकारः

उपविष्टस्य देवस्योर्ध्वस्य वा प्रतिमा भवेत्।
द्विविधापि युवावस्था पर्यङ्कासनगादिमा॥ 128॥

(अब देवार्चा-प्रतिमा के लक्षणों के विषय में कहा जा रहा है) भगवान् की आसनस्थ या स्थानक दोनों ही प्रकार की प्रतिमाएँ यौवनावस्था वाली होनी चाहिए। यदि आसनस्थ प्रतिमा हो तो उसको पर्यङ्कासन रखना चाहिए।*

---

* देवी-देवताओं की प्रतिमाओं के लक्षण प्रधानतः अगस्त्यकृत सकलाधिकार, वराहमिहिर कृत बृहत्संहिता, मयमतं, मानसार, ज्ञानप्रकाशदीपार्णव, चतुर्वग्गचिन्तामणि, आचारदिनकर, मत्स्यपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, सूत्रधारमण्डन कृत देवतामूर्तिप्रकरणं, रूपमण्डनं, सूत्रधार नाथा कृत वास्तुमञ्जरी आदि में आए हैं।

पर्यङ्कासनं —

वामो दक्षिणजङ्घोर्वोरुपार्यङ्घ्रिः करोऽपि च।
दक्षिणो वामजङ्घोर्वोस्तत्पर्यङ्कासनं मतम्॥ 129॥

आसनस्थ प्रतिमा में दाहिनी जङ्घा और पिण्डी के ऊपर बायाँ पाँव और बायाँ हाथ स्थापित करें। इसके बाद बायीं जङ्घा और बायीं पिण्डी के ऊपर दाहिना चरण और दाहिना हाथ रखना चाहिए– इस आसन को विद्वानों ने पर्यङ्कासन कहा है।

भुज चान्यलक्षणं —

देवस्योर्ध्वस्य चर्चास्याज्जानुलाम्बिभुजद्वया।
श्रीवत्सोष्णषियुक्ते द्वे छत्रादिपरिवारिते॥ 130॥

भगवान् की प्रतिमा स्थानक हो तो उसकी दोनों भुजाएँ आजानुबाहू या घुटने तक लम्बी होनी चाहिए। स्थानक या आसनस्थ दोनों प्रतिमाएँ श्रीवत्स, उष्णीष या पगड़ी, दो छत्रादि और परिकर से युक्त होनी चाहिए।*

छत्रत्रयं च नासाग्रोत्तारि सर्वोत्तम भवेत्।
नासाभालान्तयोर्मध्ये कपोलवेधकृत्पुनः॥ 131॥

नासिका के अग्रभाग के ऊपर तीन छत्र के अग्रभाग की सम रेखा आए, तो ये तीनों सर्वोतम जानने चाहिए। इसी प्रकार नासिका और कपाल के मध्य भाग में तिर्यक्, आड़ी रेखा से कपाल-वेध होना चाहिए।

रक्षितव्यः परीवारे दृष्टाहां वर्णसङ्करः।
न समाङ्गुलसङ्ख्येष्टा प्रतिमा मानकर्मणि॥ 132॥

प्रतिमा के परिकर में पत्थर यदि वर्णसङ्कर हो उसकी सम्भाल रखनी चाहिए। ऐसे ही प्रतिमा का प्रमाण भी दो, चार, छह, आठ अङ्गुलादि में समसंख्यक हो तो इष्ट नहीं समझना चाहिए।

सूत्रमानवर्णनं —

अन्योन्यजानुस्कन्धान्तस्तिर्यक् सूत्रनिपातनात्।
केशान्ताञ्चलयोश्चान्तः सूत्रैक्याच्चतुरस्रता॥ 133॥

एक से दूसरी पैंदी तक आड़ा एक सूत्र, दाहिनी पैंदी से बायें कन्धे तक

---

* देवतामूर्तिप्रकरणं में मण्डन ने कहा है कि तीर्थंकर पद प्राप्त करने वाले जिन देवताओं के लिए कैलाश समोशरण, सिद्धावर्ती व सदाशिव नामक सिंहासन बनाए जाएं। सिंहासनों को धर्मचक्र व परिकर में तीन पत्रों व छत्रों से अलंकृत करें। साथ ही लाञ्छन, श्रीवत्स, अशोक, वृष, वृश्चिक, दुन्दुभि से भी सजाएं— कैलाश समोशरणाब्जसिद्धावर्तिसदाशिवम्। सिंहासनं धर्मचक्रमुपरीह छत्रत्रयम्॥ श्रीवत्सं च तथाऽशोकं वृषां वृश्चिक दुन्दुभिः॥ (देवता. 7, 69-70 तथा रूपमण्डनम् 6, 27)

दूसरा सूत्र, बायीं पैंदी से दाहिने कन्धे तक तीसरा सूत्र और नीचे से मस्तक तक चौथा सूत्र– इन चारों सूत्रों का प्रमाण एक जैसा आए तो वह प्रतिमा समचतुस्र कहलाती है।

सूत्रं जानुद्वये तिर्यक् दद्यान्नाभौ च कम्बिकाम्।
प्रतिमायाः प्रतिसरो भवेदष्टादशाङ्गुलः॥ 134॥

दो पैंदियों के मध्य में एक तिर्यक् या तिरछा सूत्र देना और सूत्र से नाभि तक एक कम्बिका (एक गज प्रमाण) रखना, इस तरह करते हुए नाभि से सूत्र तक 18 अङ्गुल का प्रमाण होना चाहिए।

नवतालप्रतिमानमाह —

नवतालं भवेद्रूपं तालश्च द्वादशाङ्गुलः।
अङ्गुलानि न कम्बायाः किं तु रूपस्य तस्य हि॥ 135॥

सामान्यतया प्रतिमा की ऊँचाई का प्रमाण नवताल से रखना चाहिए। बारह अङ्गुल का एक ताल होता है। यहाँ अङ्गुलियों का प्रमाण कम्बासूत्र (गज के अङ्गुल) से ग्रहण न करते हुए प्रतिमा का ही ग्रहण करना चाहिए।[1]

अङ्गविभागमाह —

ऊर्ध्वस्थप्रतिमामानमष्टौत्तरशतांशतः।
आसीनप्रतिमामानं षट्ञ्चाशद्विभागतः॥ 136॥

यदि स्थानक प्रतिमा हो तो उसका प्रमाण 108 अंश का और आसनस्थ प्रतिमा का प्रमाण 56 अंश का जानना चाहिए।

---

1. नवताल प्रतिमाओं के लक्षण चित्रसूत्र, शुक्रनीति, काश्यपशिल्प, प्रतिमामानप्रमाण या आत्रेयतिलक, मयशास्त्र, देवतामूर्तिप्रकरण, वास्तुमञ्जरी आदि में आए हैं। शुक्रनीति में (4, 4, 93-97) विस्तार से स्पष्ट किया गया है— नवतालं प्रमाणे तु मुखं तालमितं स्मृतम्। चतुरङ्गुल भवेद् ग्रीवा तालेन हृदयं पुनः॥ नाभ्यास्तमादधः कार्या तालनैकेन शोभिता। नाभ्याघश्च भवेनमेन्द्र भागमेकेन वा पुनः॥ द्वितालौह्यायतागुरु जानुवी चतुरङ्गुलम्। जङ्घे उरुसमे कार्या गुल्फाब्धश्चतुरङ्गुलम्॥ नवतालात्मकमिदं केशान्त त्र्यङ्गुलः कार्यमानात्। शिखावधि तु केशान्त त्र्यङ्गुलः कार्यमानत्। दिशावया विभजेत्सप्ताष्ट दशतालिका॥
   मण्डन ने देवतामूर्तिप्रकरणम् में नवताल के मान से देहावयवों का मान निर्धारित किया है। इसके अनुसार मस्तक तीन अङ्गुल, मुख एक ताल या 12 अङ्गुल, ग्रीवा 3 अङ्गुल, हृदय या छाती 10अङ्गुल, छाती से नाभि तक 12 अङ्गुल, नाभि से उदर तक 4 अङ्गुल, उदर से मेढ्र तक 8 अङ्गुल, मेढ्र से घुटना तक ऊरु 24 अङ्गुल अङ्गुल, घुटना 4 अङ्गुल, घुटना से पैर की गाँठ तक जङ्घा 24 अङ्गुल तथा गाँठ से पदतल के भाग तक 4 अङ्गुल- इस प्रकार 108 अङ्गुल का मान प्रतिमा में ऊँचाई का स्वीकार्य है- नवतालं प्रवक्ष्यामि ब्रह्माद्या देवता तथा। केशान्त च त्रिमात्रं तु कर्त्तव्यं देवरूपकम्॥ यावन्मानो भवेत्तालो विभजेद् रविभागकैः। सूर्य राम दशार्काब्धि वसु जैन युगार्हताः। वेदा वक्त्रगलौ वक्षो नाभिस्तूदरगुह्यकम्। तथोरू जानुनी जङ्घे चरणौ च यथाक्रमम्॥ (देवतामूर्तिप्रकरणं 2, 27-29)

भालानासाहनुग्रीवाह्यन्नाभीगुह्यमूरुकौ।
जानुजङ्घाङ्घ्रि चेत्येकादशाङ्क स्थानकानि तु॥ 137॥

प्रतिमाओं में क्रमशः 1. कपाल, 2. नासिका, 3. ग्रीवा, 4. गला, 5. हृदय, 6.नाभि, 7. गुह्य, 8. उरू, 9. जानु, 10. जङ्घा और 11.पाँव– ये ग्यारह स्थान अङ्गविभाग के कहे गए हैं।

चतुः पञ्च चतुर्वह्नि सूर्यार्काक जिनाब्धयः।
जिनाब्धयश्च मानाङ्का ऊर्ध्वा ऊर्ध्व स्वरूपके॥ 138॥

प्रमाणानुसार उक्त अंशों में कपाल के 4 अंश, नासिका के 5, ग्रीवा के 4, कण्ठ के 3, हृदय के 12, नाभि के 12, गुह्य के 12, उरू के 24, जानु के 4, जङ्घा के 24 और पाँव के 4 इस प्रकार से स्थानक प्रतिमा के 108 अंश ऊँचाई के कहे गए हैं।

भालानासाहनुग्रीवाहन्नाभीगुह्यजानु च।
अष्टावासीनबिम्बस्याङ्गानां स्थानानि पूर्ववत्॥ 139॥

इसी प्रकार स्थानक प्रतिमा में कपाल के 4, नासिका के 5, ग्रीवा के 4, कण्ठ के 3, हृदय के 12, नाभि पर 12, गुह्याङ्ग के 12 और उरू के 4 इस प्रकार आसनस्थ मूर्ति के आठ स्थान और 56 अंश कहे गए हैं।

अथ जीर्णमूर्तिः

अतीताब्दशतं यत्स्याद्यच्च स्थापितमुत्तमः।
तद्व्यङ्गमपि पूज्यं स्याद्बिम्बं तन्निष्फलं न हि॥ 140॥

ऐसी प्रतिमा जिसकी प्रतिष्ठा शताब्दी पूर्व हुई हो अथवा किसी उत्तम आचार्य के हाथों स्थापित की गई हो, तो वह प्रतिमा भङ्ग होने के बावजूद भी पूजा योग्य है। उसका पूजन निष्फल नहीं जाता है।

पुनः संस्कार्य प्रतिमाः

धातुलेपादिजं बिम्बं व्यङ्गं संस्कारमर्हति।
काष्ठपाषाणानिष्पन्नं संस्कारार्हं पुनर्नहि॥ 141॥*

---

* रूपमण्डनं में उक्त दोनों श्लोकों का मत इन शब्दों में है— अतीतब्दः शता मूर्तिः पूज्या स्यान्महत्तमैः। खण्डिता स्फुटिताऽप्यर्च्या अन्यथा दुःखदायका॥ धातुरत्नविलेपोत्था व्यङ्गाः संस्कारयोग्यका। काष्ठपाषाणजा भग्नाः संस्कारार्हा न देवताः॥ (रूप. 1, 11-12)

तुलनीय आचारदिनकर— धातुलेप्यमयं सर्वं व्यङ्गं संस्कारमर्हति। काष्ठपाषाण निष्पन्नं संस्कारार्हं पुनर्नहि॥ (आचार. 23वाँ उदय)

अपराजितपृच्छा में प्रतिमा के जीर्णोद्धार के लिए कहा गया है— जीर्णोद्धार क्रमयुक्तिं प्रतिष्ठादिभिराचरेत्। प्रतिष्ठानन्तरे प्राज्ञः कुर्यादष्टमहोत्सवान्॥ याः खण्डिताश्च दग्धाश्च विशीर्णाः स्फुटितास्तथा। न तासां मन्त्रसंस्कारो गतासुस्तत्र देवता॥ परे वर्ष शतादेवाः स्थापिताश्च महत्तरैः। सान्निध्यं सर्वकालं तु व्यङ्गितानपि न त्यजेत्॥ पतनाद् व्यङ्गिता देवास्तेषां दुरितमुद्धरेत्। स्नपनोत्सवयात्रासु पुनारूपाणि चाचरेत्॥ नवैरेवापि जीर्णै र्वा ह्यर्चा या चाऽपि शोभना। परिष्कारेऽपरिष्कारे तत्रदोषो न विद्यते॥ (अपराजित. 215, 16-20)

यदि किसी कारण से धातु निर्मित, लेपित की हुई अथवा दूसरी ऐसी ही कोई प्रतिमा खण्डित हो जाए तो उसका पुनर्संस्कार हो सकता है किन्तु काष्ठअथवा पाषाण की प्रतिमा खण्डित हो तो उसका पुनर्संस्कार नहीं होता है।

अशुभप्रतिमालक्षणं —

नखाङ्गुलीबाहूनासाङ्घ्रीणां भङ्गेष्वनुक्रमात्।
शत्रुभिर्देशभङ्गश्च बन्धः कुलधनक्षयः॥ 142॥

यदि किसी प्रतिमा के नख खण्डित हो जाए तो शत्रु से भय होता है। अङ्गुली खण्डित हो तो देश भङ्ग, बाहु खण्डित हो तो बन्धन, नासिका खण्डित हो तो कुल का क्षय और पाँव खण्डित हो तो धन-हानि होती है।

पीठयानादीनां खण्डितप्रतिमादोषः

पीठ-यान-परीवार-ध्वङ्से सति यथाक्रमम्।
स्थानवाहनभृत्यानां नाशो भवति निश्चितम्॥ 143॥

प्रतिमा की पीठ या सिंहासन खण्डित हो तो स्थान का नाश होता है। वाहन खण्डित हो तो यान-वाहन का विनाश और प्रतिमा का परिवार खण्डित हो तो भृत्य-सेवकों का विनाश होता है।

आरभ्यैकाङ्गुलादूर्ध्वं पर्यन्तैकादशाङ्गुलम्।
गृहेषु प्रतिमा पूज्या तस्योपरि सुरालये॥ 144॥*

एक अङ्गुल से लेकर ग्यारह अङ्गुल तक ऊँची प्रतिमा घर में पूजनी चाहिए किन्तु इससे ज्यादा ऊँची हो तो मन्दिर में रखकर ही पूजनी चाहिए।

प्रतिमा काष्ठ-लेपाश्म दन्तचित्रायसां गृहे।
मानाधिका परीवार रहिता नैव पूज्यते॥ 145॥

काष्ट की, लेप की हुई पाषाण की, दाँत की बनाई, चित्रित अथवा लौहादि धातु की प्रतिमा यदि शास्त्रोक्त मान से अधिक हो और अपने परिवार से रहित हो तो घर में नहीं पूजना चाहिए।**

अन्य दोषादीनां —

---

* प्रकाशित पाठ में यह श्लोक नहीं है। उक्त मत वत्थुसारपयरणं में भी आया है— इक्कांगुलाइ पडिमा इक्कारस जाव गेहि पूइज्जा। उड्ढं पासाइ पुणो इअ भणियं पुव्वसूरीहिं॥ (वत्थुसारपयरणं 2, 43) देवतामूर्तिप्रकरणं में कहा गया है— आरभ्यैकाङ्गुलादूर्ध्वं पर्यन्तद्वादशाङ्गुलम्। गृहेषु प्रतिमा पूज्या नाधिका शस्यते ततः॥ तदूर्ध्वान्त्रवहस्तान्ता पूजनीया सुरालये। दशहस्तादितो यार्चा प्रासादेन विनार्च्चयेत्॥ (1, 20-21)

**तुलनीय देवतामूर्तिप्रकरणं (1, 37)

रौद्रा निहन्ति कर्तारमधिकाङ्गा तु शिल्पिनम्।
कृशा द्रव्यविनाशाय दुर्भिक्षाय शशोदरा॥ 146॥

यदि प्रतिमा रौद्र स्वरूप वाली हो तो वह अपने कर्ता की विनाशकारक होती है। अधिकाङ्गा हो तो शिल्पी का विनाश करती है। परिमाण से कृशकाय हो तो द्रव्य का नाश होता है और शशोदरा हो तो दुर्भिक्ष या अकालकारक होती है।

वक्रनासातिदुखाय ह्रस्वाङ्गा क्षयकारिणी।
अनेत्रा नेत्रनाशाय स्वल्पास्या भोगवर्जिता॥ 147॥

यदि वक्र नासिका वाली प्रतिमा हो तो बहुत दुःख उत्पन्न करती है और ह्रस्व अवयव की हो तो क्षयकारी होती है। यदि प्रतिमा में नेत्र नहीं बनाए गए हो तो वह कर्ता के नेत्रों का विनाश करती है और छोटा मुँह हो भोग से वञ्चित कर देती है।

जायते प्रतिमा हीनकटिराचार्यघातिनी।
जङ्घाहीना भवेद् भ्रातृपुत्रमित्रविनाशनी॥ 148॥
पाणिपादविहीना तु धनक्षयविनाशनी।
चिरपर्युषिता या तु नादर्तव्या यतस्ततः॥ 149॥

यदि प्रतिमा हीन कटि वाली हो तो आचार्य, गुरु का विनाश करती है। जङ्घा विहीन हो जाए तो भाइयों, पुत्र, मित्र का विनाश करती है। हाथ और पाँव से विहीन प्रतिमा धन का क्षय करने वाली और विनाशक होती है। यदि बिना ही पूजा के कोई प्रतिमा दीर्घकाल तक पड़ी हो और इधर-उधर से ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

अर्थहृत्प्रतिमोत्ताना चिन्ताहेतुरधोमुखी।
आधिप्रदातिरश्चीना नीचोच्चस्था विदेशदा॥ 150॥

यदि प्रतिमा उन्मुख हो तो द्रव्य-सम्पदा की दृष्टि से विनाशकारी होती है। अधोमुख प्रतिमा चिन्ता उत्पन्न करने वाली होती है। टेढ़ी-मेढ़ी हो तो मन में दुःखादि उत्पन्न करने वाली और निम्नोच्च हो तो परदेश गमन करवाने वाली होती है।

अन्यायद्रव्यनिष्पन्ना परवास्तुदलोद्भवा।
हीनाधिकाङ्गी प्रतिमा स्वपरोन्नतिनाशिनी॥ 151॥

जो प्रतिमा अन्याय से कमाए गए द्रव्य से बनाई हो; अन्य किसी गृह कार्य के लिए लाए गए पत्थर की तैयार की गई हो अथवा न्यूनाधिक अवयव वाली हो तो उसकी पूजादि से अपनी उन्नति की और प्रतिष्ठापक की इष्ट वस्तु से होने वाली उन्नति के भी विनाश की आशंका रहती है।

प्रासादानुसारेण प्रतिमा मानप्रमाणमाह —

प्रासादर्तुयभागस्य समाना प्रतिमा मता।
उत्तमायकृते सा तु कार्यैकोनाधिकाङ्गुला॥ 152॥

जो मन्दिर हो, उसके चतुर्थ भाग के बराबर प्रतिमा बनानी चाहिए किन्तु उत्तम लाभ प्राप्ति के लिए उक्त चतुर्थ भाग में एकाङ्गुल न्यूनाधिक मान रखना चाहिए।

अथवा स्वदशांशेन हीनस्याप्याधिकस्य वा।
कार्या प्रासादपादस्य शिल्पिभिः प्रतिमा समा॥ 153॥

अथवा देवालय के चतुर्थ भाग के दस भाग करें और उक्त दशमांश में से एक भाग प्रासाद के चतुर्थ भाग में से कम करके अथवा उसमें एक दशमांश भाग जोड़कर उतने प्रमाण की प्रतिमा भी बनाई जा सकती है।

सर्वेषामपि धातुनां रत्नस्फटिकयोरपि।
प्रवालस्य च बिम्बेषु चैत्यमानं यदृच्छया॥ 154॥

यदि सर्वधातु (अष्ट धात्वात्मक) निर्मित, रत्न, स्फटिक या प्रवालादि की प्रतिमा हो तो वहाँ प्रतिमा के प्रमाण के लिए प्रासाद के प्रमाण की अपेक्षा इच्छानुसार प्रतिमा का मान रखा जा सकता है।

गर्भ भित्ति प्रमाणमाह —

प्रसादगर्भगेहार्द्धे भित्तितःपञ्चधाकृते।
यक्षाद्याः प्रथमे भागे देव्यःसर्वा द्वितीयके॥ 155॥
जिनार्कस्कन्दकृष्णानां प्रतिमाः स्युस्तृतीयके।
ब्रह्मा तु तुर्यभागे स्याल्लिङ्गमीशस्य पञ्चमे॥ 156॥

देवालय में गर्भार्द्ध के पाँच भाग के अनुसार भित्ति से प्रतिमा स्थापना हो सकती है। उक्त भाग के अनुसार प्रथम भाग में यक्षादि की स्थापना करें, दूसरे भाग में समस्त देवियों की, तीसरे भाग में जिन, सूर्य, कार्तिकेय और कृष्ण की प्रतिमा स्थापित करनी चाहिए। इसी प्रकार चतुर्थ भाग में ब्रह्मा की प्रतिमा और पाँचवें भाग में शिवलिङ्ग की स्थापना करनी चाहिए।

तथा चान्य दोषादीनां —

ऊर्ध्वदृग्द्रव्यनाशाय तिर्यग्दृग्भोगहानये।
दुःखदा स्तब्धदृष्टिश्चाधोमुखी कुलनाशिनी॥ 157॥

यदि प्रतिमा की दृष्टि ऊँची हो तो द्रव्य का नाश करती है। तिरछी हो तो भोग का नाश होता है। यदि स्तब्ध दिखाई देती हो तो वह दुखद होती है और अधोदृष्टि हो तो कुलनाश करती है।

द्वारशाखानुसारेण अर्च्चादृष्टिं —

द्वारशाखाष्टभिर्भागैरधःपक्षाद्विर्धायते।
मुक्त्वाष्टमविभागं च यो भागः सप्तमः पुनः॥ 158॥
तस्यापि सप्तमे भागे गजांशस्तत्र सम्भवेत्।
प्रासादे प्रतिमादृष्टिर्नियोज्या तत्र शिल्पिभिः॥ 159॥

देवालय में सम्मुख द्वार की शाखा के नीचे से 8 भाग कर उसमें आठवाँ भाग सबके ऊपर आया हुआ त्याग दें और उसके नीचे का जो सातवाँ भाग हो उसके नीचे के पुनः सात भाग करें और उन सातों में से नीचे के भागों को छोड़ दें और ऊपर का जो सातवाँ भाग रहे उसमें अष्टमांश सम्भव है। उस अंश में प्रासाद के अन्दर रही हुई प्रतिमा की दृष्टि शिल्पियों को रखनी चाहिए।

अर्च्चा विधानोपरान्त भूमिपरीक्षणं —

अवृत्ता भूरदिग्मूढा चतुरस्रा शुभाकृतिः।
त्र्यहबीजोद्गमा धन्या पूर्वेशानोत्तरप्लवा॥ 160॥

जिस स्थापन पर देवालय का निर्माण करना हो, भूमि वृत्ताकार या दिशा भ्रम करने वाली नहीं होनी चाहिए। ऐसी भूमि जो चतुरस्र या चौकोर, अन्य शुभाकृति वाली वपन किए गए बीजों को तीन दिवस में अङ्कुरित करने वाली हो और पूर्व, उत्तर अथवा ईशान कोण की ओर झुकी हुई हो तो वह श्रेष्ठ जाननी चाहिए।

व्याधिं वल्मीकिनी नैःस्व्यं सुषिरा स्फुटिता मृतिम्।
दत्ते भूःशल्ययुरदुखं शल्यज्ञानमथोच्यते॥ 161॥

यदि भूमि वल्मीक या दीमक लगी हो तो वह व्याधिकारक होती है, पोली या सुषीर भूमि हो तो दारिद्र्य करती है, कटी-फटी हो तो मृत्यु तुल्य कष्ट देती है और जिस भूमि में अस्थि, कोयला आदि दबे हुए हों तो वह दुःख दायिनी होती है। आगे मैं शल्य ज्ञात करने की विधि बताता हूँ।

अथ शल्यविचारमाह —

बकचतैहसपयान् क्रमाद्वर्णानिमान्नव।
नवकोष्ठीकृते भूमि भागे प्राच्यादिता लिखेत्॥ 162॥

जिस भूमि पर भवन, देवालय बनवाना हो, उस पर एक चतुष्कोण शल्योद्धार यन्त्र की रचना करें और उसमें नौ कोष्ठक बनाएँ। चतुष्कोण के इसमें पूर्व से लगाकर प्रदक्षिण क्रम से ईशान तक आठों दिशा व कोणों को लिखें और मध्य के

नौ कोष्ठकों में पूर्वादि अनुक्रम से ब, क, च, त, ए, ह, स, प और मध्य में य अक्षर लिखें।* यथा–

म फ ष भ म ईशान	अ ई उ ऋ ऌ पूर्व	क ष ग घ ङ आग्नेय
श ष स ह उत्तर	य र ल व मध्य	च छ ज झ ज दक्षिण
त थ द ध न वायव्य	ए ऐ ओ औ पश्चिम	ट ढ ड ठ ण नैर्ऋत्य

प्रश्न बः स्याद्यदि प्राच्यां नरशल्यं तदादिशेत्।
सार्धहस्तप्रमाणेन तच्च मानुषमृत्यवे॥ 163॥

इस यन्त्र के बाद शल्य है अथवा नहीं? ऐसा प्रश्न करने यदि प्रश्नकर्ता के वाक्य में 'ब' अक्षर आए तो पूर्व दिशा में भूमि में डेढ़ हाथ की गहराई पर मनुष्य की हड्डी होगी, इससे मृत्यु की आशङ्का जाननी चाहिए।

अग्नेर्दिशि तु कः प्रश्ने खरशल्यं करद्वये।
राजदण्डो भवेत्तस्मिन् भयं नैव निवर्तते॥ 164॥

प्रश्न में यदि 'क' आए तो अग्निकोण में भूमि में दो हाथ नीचे गर्दभ शल्य मिलेगा। यह शल्य राजदण्ड प्रदायक होता है और इस भय का निवारण नहीं होता।

याम्यायां दिशि चः प्रश्ने नरशल्यमधौ भवेत्।
तद्गृहस्वामिनो मृत्युं करोत्याकटिसंस्थितम्॥ 165॥

प्रश्न में यदि 'च' आए तो दक्षिण में भूमि के अन्दर कटिपर्यन्त मनुष्य का शल्य है, ऐसा समझना चाहिए। इससे गृहस्वामी की मृत्यु की आशङ्का होती है।

नैर्ऋत्यां दिशि तः प्रश्ने सार्धहस्तादधस्तले।
शुनोऽस्थि जायते तच्च डिम्भानां जनयेन्मृतिम्॥ 166॥

प्रश्न में यदि 'त' अक्षर आए तो नैर्ऋत्य कोण में भूमि में डेढ़ हाथ नीचे कुत्ते की हड्डी होती है, यह शल्य बालकों के लिए मृत्युप्रद जानना चाहिए।

ए प्रश्ने पश्चिमायां च शिशोःशल्यं प्रजायते।
सार्धहस्त प्रवासाय सदनस्वामिनः पुनः॥ 167॥

---

* वत्थुसारपयरणं में यही मत आया है— बकचतएहसपज्जा इअ नव वण्णा कमेण लिहियव्वा। पुव्वाइदिसासु तहा भूमिं काऊण नव भाए॥ अहिमंतिऊण खडियं विहिपुव्वं कन्नाया करे दाओ। आणाविज्जई पण्हं पण्हा इम अक्खरे सल्लं॥ (1, 11-12)

प्रश्न में यदि 'ए' आए तो पश्चिम दिशा में भूमि के अन्दर डेढ़ हाथ नीचे बालक का शल्य होता है, ऐसा जानना चाहिए, इससे गृहस्वामी अपना क्षेत्र त्यागकर विदेश चला जाता है।

वायव्यां दिशि हः प्रश्ने नराङ्गाराश्चतुः करे।
कुर्वन्ति मित्रनाशं ते दुःस्वप्नस्य प्रदर्शनात्॥ 168॥

प्रश्न में 'ह' आए तो वायव्य दिशा में भूमि के अन्दर चार हाथ नीचे मनुष्य के श्मशान के अङ्गारे दबे होंगे, ऐसा जाने। इससे मैत्री पर सङ्कट जानना चाहिए और बुरे सपने आते हैं।

उदीच्यां दिशि सः प्रश्ने विप्रशल्यं कटेरधः।
तच्छीघ्रं निर्धनत्वाय प्रायो धनवतोऽप्यदः॥ 169॥

यदि प्रश्न करते समय 'स' अक्षर आए तो उत्तर दिशा में भूमि में कटिपर्यन्त विप्र का शल्य होता है, ऐसा जानना चाहिए। इससे धनाढ्य गृहस्वामी भी प्रायः निर्धन हो जाता है।

ऐशान्यां दिशि पः प्रश्ने गोशल्यं सार्धहस्ततः।
तद्गोधनस्य नाशाय जायते गृहमेधिनाम्॥ 170॥

इसी प्रकार से यदि प्रश्न में 'प' अक्षर पहले आए तो ईशान कोण में भूमि के अन्दर डेढ़ हाथ नीचे गोशल्य इत्यादि होगा। इससे वहाँ बन्धने वाले चौपाये, गृहस्वामी के गोधन का नाश होता है।

मध्यकोष्ठे च यः प्रश्ने वक्षोमात्रे तदाह्यधः।
केशाः कपालं मर्त्यस्य भस्मलोहे च मृत्यवे॥ 171॥

इति शल्यविचारं।

इसके अनन्तर मध्य के कोष्ठक में जो 'य' अक्षर है यदि उसका अक्षर आए तो भूमि के मध्य भाग में वक्ष के बराबर गहराई पर मनुष्य के केश, कपाल, भस्म और लोहे का टुकड़ा आदि दबा है– ऐसा जाने। इसका फल मृत्युकारक होता है। (ऐसे में भूमि को शल्य विहीन कर ही निर्माणार्थ ग्रहण किया जाना चाहिए)।*

---

* उक्त श्लोक (163-171) चन्द्राङ्गज फेरू के मत से तुलनीय है— व प्यन्हे नरसल्लं सङ्कुरे मिच्चुकारगं पुव्वे। क प्यन्हे खरसल्लं अग्गि दुहत्थेहि निवदण्डं॥ दाहिण च प्यण्हेणं नरसल्लं कडितलंमि मिच्चुकरं। त प्यन्हिसाण नेरइ डिंभाण य मिच्चु सङ्कुरे॥ ए पन्हे अवरदिसे सिसुसल्लं सङ्कुहत्थि परदेसं। वायवि ह पन्हि चउकरि अंगारा मित्तनासयरा॥ स प्यन्हि उत्तरेण य दय वरसल्लं कडीइ रोरकरं। प प्यण्हे गोसल्लं सङ्कुरीसाणि धणनासं॥ य प्यन्हि मज्झकुट्ठे केसं छारं कवाल अइसल्ला। वच्छत्थलप्पमाणा मिच्चुकरा होंति नायप्पा॥ इय एवमाइ अन्निवि जे पुव्वगयांइ होंति सल्लाइं। (वत्थुसारपयरणं 1, 13-18) यही मत बृहत्संहिता के वास्तुविद्याध्याय 60-62 में आया है।

भूपरीक्षणार्थ प्रदीपविधिं —

श्वभ्रस्थिताममृत्पात्रे कृते दीपचतुष्टये।
यद्दिग्दीपश्चिरं दीप्रं सा तद्वर्णस्य भूः शुभा॥ 172॥*

(गृहार्थ भूमि परीक्षा के लिए वहाँ खड्डा खोदें और उसमें) खदान की मिट्टी का दीपपात्र तैयार कर उसमें चार बत्तियाँ जलाएँ और देखें कि (उत्तरादि के क्रम से विप्रादि वर्णों की परिकल्पना कर) जिस दिशा का दीपक दीर्घावधि पर्यन्त प्रज्वलित रहे, वह भूमि उक्त वर्ण के लिए प्रशस्त होती है।

तथा चान्यनिमित्तमाह —

सूत्रच्छेदे च मृत्युः स्यात्कीले चाबाड्मुखे रुजा।
स्मृतिनश्यति कुम्भस्य पुनः पतनभङ्गयोः॥ 173॥

यदि कार्यारम्भ अवसर पर, भूमि का नाप करते समय सूत्र भङ्ग हो जाए तो गृहस्वामी का मरण जानना चाहिए। वहाँ पर कील ठोकते हुए बल खा जाए तो बीमारी होती है और यदि जलपूर्ण कलश लाते समय गिर जाए अथवा टूट जाए तो

---

* यह गर्गाचार्य का मत है। आमे वा मृन्मये पात्रे दीपवर्तिचतुष्टयम्। यस्यां दिशि प्रज्वलति चिरं तस्यैव सा शुभा॥ (सविवृत्तिबृहत्संहिता 52, 95 पर उद्धृत) वराहमिहिर ने भी इसे उद्धृत किया है और कहा है कि चार बत्तियों वाला दीपक तैयार कर उसे मिट्टी के कच्चे बर्तन में रखें। उक्त बत्तियों के उत्तरादि क्रम से ब्राह्मणादि वर्णों की कल्पना करें। इस बर्तन को एक गड्ढे में डालें और देखें कि जिस दिशा की बत्ती देर तक जलती रहे, उस दिशा के वर्ण के लिए वह भूमि शुभ मानी जाती है— आमे वा मृत्पात्रे श्वभ्रस्थे दीपवर्तिरभ्यधिकम्। ज्वलति दिशि यस्य शस्ता सा भूमिस्तस्य वर्णस्य॥ (बृहत्संहिता 52, 94)

वराहमिहिर अन्य विधियाँ भी बताई हैं। एक विधि के अनुसार निश्चित क्षेत्र के बीच एक हाथ चौड़ा, लम्बा और गहरा गड्ढा खोदकर निकाली गई मिट्टी से पुनः उसे भरें। इस दौरान देखें कि गड्ढा पूरा भर जाए और यदि मिट्ट बच जाए तो उस भूमि को सर्वथा उत्तम माने। बराबर होने पर सम और मिट्टी के घट जाने पर वह स्थान अशुभकारी होगा, ऐसा जानें। एक अन्य विधि के अनुसार गड्ढे में पानी भरें और समान गति से सौ कदम जाएँ तथा लौटकर देखें कि यदि थोड़ा बहुत भी पानी बचता हो, तो वह भूमि धन्य है अथवा भूमि से निकली मिट्टी यदि चौंसठ आढ़क हो तो भी शुभ जानना चाहिए— गृहमध्ये हस्तमितं खात्वा परिपूरितं पुनः श्वभ्रम्। यद्यूनमनिष्टं तत् समे समं धन्यमधिकं यत्॥ श्वभ्रमथवाम्बुपूर्णं पदशतमित्वागतस्य यदि नोनम्। तद्धन्यं यच्च भवेत् पलान्यपामाढकं चतुष्षष्टिः॥ (वही 52, 92-93)

इसी प्रकार सायंकाल ब्राह्मणादि वर्ण-तुल्य पुष्पों यथा— श्वेत, लाल, पीत व काले फूलों को लेकर गड्ढे में डाल दें। दूसरे दिन सुबह उन पुष्पों को निकालकर देखें कि जिस वर्ण का पुष्प मुरझाया नहीं हो, उस वर्ण के लिए वह भूमि उत्तम होती है अथवा अपना मन जहाँ पर भी रम जाए, वहाँ निवास कर लेना चाहिए— श्वभ्रोषितं न कुसुमं यस्य प्रम्लायतेऽनुवर्णसमम्। तत् तस्य भवति शुभदं यस्य च यस्मिन् मनो रमते॥ (वही 52, 95)

स्थपति या गृहस्वामी के लिए स्मृतिभ्रंश जानना चाहिए।*

गर्तनिवेशनं —

प्रासादगर्तापुरोऽम्बुग्रावकर्करकाङ्कतः।
विधिना तत्र सौवर्णीं वास्तुमूर्तिं नियोजयेत्॥ 174॥

नींव खोदते समय वहाँ से पानी, पत्थर, कङ्कड़ आदि निकाल लें और आधार पर विधिपूर्वक स्वर्ण निर्मित वास्तुदेव की प्रतिमा का निवेश करना चाहिए।

अथ प्रासादोदयमानमाह —

उदयस्त्रिगुणः प्रोक्तः प्रासादस्य स्वमानतः।
प्रासादोच्छ्रयविस्तारा जगती तस्य चोत्तमा॥ 175॥

प्रासाद का उदयमान (ऊँचाई) स्वकीय प्रमाण से तीन गुना करना चाहिए और प्रासाद की जितनी ऊँचाई हो उतने विस्तार प्रमाण उसकी जगती रखना उत्तम है।

मूलकोष्ठे चतुःकोणे बहिर्यः कुम्भकः स्थिरः।
प्रासादहस्तसङ्ख्यानं तस्य कोणद्वयात्पुनः॥ 176॥

प्रासाद में मूलकोष्ठक को चतुरस्र बनाएँ और उसके बाहर जो कुम्भी होती है, उसके दो कोनों से प्रासाद की हस्त संख्या जाननी चाहिए।

कलशविस्तारं —

यः कोणो मूलरेखाया विस्तरस्तत्पृथुत्वतः।
कलशे विस्तरादैर्घ्यं पादोनं द्विगुणं पुनः॥ 177॥

प्रासाद में मूल रेखा के कोने में जितनी गहराई हो, उसका प्रमाण परिकल्पित करें और तद्नुसार कलश की गहराई ग्रहण करें और उक्त गहराई से लम्बाई पौने दो गुनी जाननी चाहिए।

प्रासादे ध्वजामाहात्म्यं —

प्रासादे ध्वजनिर्मुक्ते पूजाहोमजपादिकम्।
सर्वं विलुप्यते यस्मात्तस्मात् कार्यो ध्वजोच्छ्रयः॥
एकाहमपि प्रासादं ध्वजहीनं न धारयेत्॥ 178॥

जिस प्रासाद पर ध्वजा न चढ़ी हुई हो, तो वहाँ किया गया समस्त पूजन, होम, जपादि समस्त धर्मकृत्य निष्फल होते हैं। इसलिए अवश्य ध्वजारोहण करना

---

* यह मत वराहमिहिर से तुलनीय है— सूत्रच्छेदे मृत्युः कीले चावाङ्मुखे महान् रोगः। गृहनाथस्थपतीनां स्मृतिलोपे मृत्युरादेश्यः॥ स्कन्धाच्च्युते शिरोरुक् कुलोपसर्गोऽपवर्जिते कुम्भे। भग्नेऽपि च कर्मिवधश्युते करादृगृहपतेर्मृत्युः॥ (वही 52, 110-111)

चाहिए। देवप्रासाद को कभी ध्वज के बिना नहीं रखना चाहिए।*

दण्डमानमाह —

दण्डः प्रकाशे प्रासादे प्रासादकरसङ्ख्यया।
सान्धकारे पुनः कार्यो मध्यप्रासादमानतः॥ 179॥

शिल्पियों को चाहिए कि प्रकाशित प्रासाद पर ध्वजा का दण्ड प्रासाद की हस्त संख्या के अनुसार रखें और अन्धकार सहित प्रासाद पर मध्य प्रासाद के प्रमाणानुसार ध्वजा का दण्डमान रखना चाहिए।**

घण्टाप्रमाणमाह —

---

1. पुराणों में कहा गया है कि देवालय बनते ही कर्ता को वहाँ पर ध्वजारोहण करना चाहिए। जिस देवालय पर ध्वजा नहीं होती, वहाँ पर असुरों का निवास हो जाता है। ध्वजा से समस्त पापों का विनाश होता है। इसलिए हरसम्भव देवालय पर ध्वजारोहण करना चाहिए। इससे समृद्धि की प्राप्ति होती है अतः विधानपूर्वक ध्वजारोहण करना चाहिए— ततो ध्वजस्य विन्यासः कर्तव्यः पृथिवीपते। असुरा वासमिच्छन्ति ध्वजहीन सुरालये॥ ध्वजेन सकलं पापं जनस्य च विनश्यति। तत्मात्सर्वप्रयत्नेन दद्याद्देवकुले ध्वजम्॥ एवं कृते देवगृहे वृद्धिस्सदा स्यात्र हि संशयोऽत्र। तस्मात्प्रयत्नेन विधानयुक्तं देवालयं कार्यमदीनसत्त्व॥ (विष्णुधर्मोत्तर. 3, 94, 45-47)
इसी प्रकार ज्ञानप्रकाशदीपार्णव (9, 104) व क्षीरार्णव (113, 76) में भी यह वर्णन आता है।
प्रासादमण्डनं में कहा गया है कि पुर, नगर-कोट, रथ और राजगृह सहित बावड़ी, कूप, जलाशयादि को ध्वजाओं से शोभायमान करना चाहिए। जब प्रासाद बन कर तैयार हो जाए तथा शिखर का कार्य सम्पन्न हो जाए तो उसे ध्वजा रहित नहीं रखना चाहिए। यदि देवालय को ध्वजाविहीन रख जाए तो वहाँ असुर, प्रेतादि निवास करने की आकांक्षा करने लगते हैं। देवालय पर विधिपूर्वक ध्वजारोहण करने से देव तथा पितर सन्तुष्ट होते हैं। दशाश्वमेध यज्ञकर्म के सम्पादन तथा पृथ्वी के विविध तीर्थों की यात्रा से जो पुण्य अर्जित होता है, वही पुण्य किसी देवायतन पर ध्वजारोहण करने से सुभग होता है, अनेक पुण्य मिलते हैं। ध्वजारोहणकर्ता के वंश में पूर्व की पचास तथा भविष्य की पचास और एक अपनी स्वयं की, इस प्रकार कुल 101 पीढ़ी के पितरों को नरकरूपी समुद्र से यह ध्वजा जहाजतुल्य पार लगा देती है, उनका उद्धार कर देती है— पुरे च नगरे कोटे: रथे राजगृहेस्तथा। वापी-कूप-तडागेषु ध्वजाः कार्याः सुशोभनाः॥ निष्पन्नं शिखरं दृष्ट्वा ध्वजहीनं न कारयेत्। असुरा वासमिच्छन्ति ध्वजहीने सुरालये॥ ध्वजोच्छ्रायेण तुष्यन्ति देवाश्च पितरस्तथा। दशाश्वमेधिकं पुण्यं सर्वतीर्थधरादिकम्॥ पञ्चाशत् पूर्वतः पश्चादात्मानं च तथाधिकम्। शतमेकोत्तरं सोऽपि तारयेन्नरकार्णवात्॥ (प्रासाद. 4, 45-48)
तुलनीय—ध्वजोदये तु तुष्यन्ति देवाश्च पितरास्तथा। सदा सा कुलसन्तानसुपुष्ट्यायुष्करी भवेत्॥ ध्वजारोपे कृतं पुण्यं दशाश्वमेधिकं भवेत्। सर्वपृथ्वीतीर्थपुण्यं ते व्रजन्ति शिवालयम्॥ (अपराजित. 146, 12-13)

**अपराजितपृच्छा में कहा गया है कि देवालय में शिखर पर स्थापेय ध्वजदण्ड के लिए प्रासाद की खरशिला से लेकर कलश के अग्र भाग की ऊँचाई तक के तीन भाग करें और उसके एक भाग की लम्बाई का ध्वजदण्ड रखना चाहिए। यह ज्येष्ठ मान का ध्वजदण्ड होता है। इसमें से अष्टम और चतुर्थ भाग का ध्वजदण्ड बनाए जो क्रमशः मध्यमान और कनिष्ठमान का ध्वजदण्ड कहा जाता है। आदिशिलाद्भवं मानं ऊर्ध्वे च कलशान्तिके। तृतीयांशे प्रकर्तव्यो ध्वजादण्डः प्रमाणतः॥ अष्टमांशे ततो हीने मध्यमं शुभलक्षणम्। कनिष्ठं तद्भवेद्दण्डं ज्येष्ठतः पादवर्जितम्॥ (अपराजित. 144, 4-5)

समाना शुकनासस्य घण्टिका गूढमण्डपे।
एन्तमानैव रङ्गाख्ये मण्डपे च बलाणके॥ 180॥

देवालय में घण्टा का प्रमाण सामान्यतः भूतल में, गूढ़ अथवा रङ्गमण्डप में शुकनास के समान ही जानना चाहिए।

जीर्णोद्धारेऽवसरे द्वारं न चालयेत् —

गृहे देवगृहे वाऽपि जीर्णे चोद्धर्तुमीप्सिते।
प्राग्वद्द्वारं प्रमाणं च वास्तुत्पादोऽन्यथाकृते॥ 181॥

जब किसी भवन या देवालय का जीर्णोद्धार करना हो तो उसका द्वार और मान प्रमाण यथावत रखा हो तो नवीन वास्तुविधान की आवश्यकता नहीं होती है किन्तु यदि कोई बदलाव हुआ तो नया वास्तु करवाना चाहिए।

अन्यदप्याह —

स्तम्भपट्टादिवेधवस्तु यः प्राक्तो गृहशालके।
प्रासादेष्वपि स ज्ञेयः सम्प्रदायाच्च शिल्पिनाम्॥ 182॥

स्तम्भ* और पट्ट** आदि का प्रमाण और वेध# विषयक विचार पूर्व के वास्तुशास्त्रों में कहा गया है, शिल्पियों के सम्प्रदाय प्रमाण या शैली के अनुसार वे विचार ग्रहण करने चाहिए।

अथ प्रतिमार्थं काष्ठपाषाणस्य परीक्षणं —

निर्मलेनारनालेन पिष्टया श्रीफलत्वचा।
विलिप्तेऽश्मनि काष्ठे वा प्रकटं मण्डलं भवेत्॥ 183॥

(जब प्रतिमादि का निर्माण करना हो तो पाषाण की शुभाशुभता पर विचार किया जाना चाहिए। पत्थर में कोई दाग, मण्डल या अन्य दोष है अथवा नहीं इसके लिए) निर्मल काँजी के साथ बिल्व के फल की छाल पीसकर पाषाण या काष्ठ पर लेप करने से उसका मण्डल (दाग) प्रकट हो जाता है।

मधुभस्मगुडव्योम कपोतसदृशप्रभैः।
माञ्जिष्ठैररुणैः पीतैः कपिलैः श्यामलैरपि॥ 184॥
चित्रैश्च मण्डलैरेभिरन्तर्ज्ञेया यथाक्रमम्।
खद्योतो वालुका रक्तभेकोऽम्बुगृहगोधिका॥ 185॥

---

* स्तम्भादि के लिए मयमतम्, राजवल्लभ आदि में विस्तार से वर्णन आया है।

**पट्ट या पाटियों, पटरों के सम्बन्ध में प्रमाणमञ्जरी आदि में विवरण आया है।

वेध विचार मत्स्यपुराण, समराङ्गणसूत्रधार, अपराजितपृच्छा और उद्धारधोरणी में विस्तार से प्राप्त होता है।

दर्दुरः कृकलासश्च गोधाखुसर्पवृश्चिकाः।
सन्तानविभवप्राण राज्योच्छेदश्च तत्फलम्॥ 186॥

जिस पाषाण या काष्ठ की प्रतिमा बनानी हो उस पर पूर्वोक्त रीति से लेप करने के बाद यदि पाषाण में स्वाभाविक रूप से मधु जैसा मण्डल दृष्टिगोचर हो तो उसमें जुगनू पाया जाएगा; यदि भस्म जैसा मण्डल दिखाई दे तो रेत होगी; गुड़ के सदृश मण्डल प्रतीत हो तो भीतर लाल मेंढ़क, आकाशवर्ण जैसा मण्डल हो तो पानी; कपोत के वर्ण जैसा मण्डल हो तो छिपकली; मञ्जीष्ठ जैसा वर्ण हो तो मेंढ़क; रक्त वर्ण का मण्डल हो तो गिरगिट; पीले वर्ण का मण्डल दीख पड़े तो गोह; कपिल वर्ण का मण्डल हो तो चूहा; काले वर्ण का मण्डल हो तो सर्प तथा चित्र-विचित्र मण्डल दृष्टिगोचर हो तो भीतर बिच्छू है– ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार के मण्डल वाले पाषाण या काष्ठ की प्रतिमादि बनाने से कर्ता के सन्तान, लक्ष्मी, प्राण और राज्य का विनाश होता है।*

कीलिकाछिद्रसुषिर त्रसजालकसन्धयः।
मण्डलानि च गारश्च महादूषणहेतवे॥ 187॥

उक्त काष्ठ अथवा पाषाण में कील, छिद्र, पोलापन, जीव-जन्तुओं के जाले, सन्धियाँ, मण्डलाकार रेखा अथवा कीचड़-गार हो तो बड़ा दोष समझना चाहिए।

प्रतिमायां दवरका भवेयुश्च कथञ्चन।
सदृग्वर्णा न दुष्यन्ति वर्णान्यत्वेऽतिदूषिताः॥ 188॥

इति प्रासाद प्रतिमाद्यधिकारः।

प्रतिमा के काष्ठ अथवा पाषाण में किसी भी प्रकार की रेखा पड़ी हुई दिखाई दे, वह यदि अपने मूल वस्तु के रङ्ग की जैसी ही हो तो दोष नहीं है किन्तु मूल वस्तु

---

* इसी प्रकार की मान्यता सर्वप्रथम विष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी आई है। तुलनीय है— सगर्भां तां विजानीयाद् यत्नेन च विवर्जयेत्। माञ्जिष्ठवर्ण संकाशे गर्भे भवति दर्दुरः॥ पीतके मण्डले गोधा कृष्ण विद्याद्भुजङ्गमम्। कपिले मूषकं विद्यात् कृकलासं तथारुणै॥ गुडवर्णे तु पाषाणं कापोते गृहगोधिका। आपो निस्त्रिंशवर्णाभे भस्मे वर्णे तु वालुका॥ (विष्णुधर्मोत्तर. 3, 90, 11-13)
'शिल्परत्नम्' के रचयिता श्रीकुमार के अनुसार वच्छनाग, हीराकसीस (हराथोथा) और गेरू (हिरमिच) ये तीनों समान भाग लेकर दूध में पीसें। इस लेप को पाषाण पर डालें और एक रात्रि रहने दें। धोने के बाद दोष युक्त पाषाण पर दाग, चिह्नादि उभार आते हैं— तुल्यांश क्षीरिपिष्टैस्तु विषकासीस गैरिकै:। दृषदालिप्य निः शेषमेकरात्रोषितं ततः॥ प्राक्षालमगर्भात् दोषांश मण्डलैस्तत्र दक्षयेत्। (शिल्परत्नं, पाषाणपरीक्षम्)

के रङ्ग से विपरीत दिखाई देती हो तो अति दोषकारक समझना चाहिए।*

---

* शिल्परत्नम् में कहा गया है कि पाषाणादि में नन्द्यावर्त, शेषनाग, अश्व, श्रीवत्स, कूर्म, शङ्ख, स्वस्तिक, गज, गौ, वृषभ, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, छत्र, माला, ध्वजा, शिवलिङ्ग, तोरण, हरिण, प्रासाद, कमल, वज्र, गरुड अथवा शिव की जटा के सदृश रेखाएँ हो तो शुभ जानना चाहिए— नन्द्यावर्तवसुन्धराधरहय श्रीवत्सकूर्मोपरमाः शङ्खस्वस्तिक हस्तिगोवृषनिभाः शक्रेनदुसूर्योपमाः। छत्रस्रग्ध्वजलिङ्गतोरण-मृगप्रासादपद्मोपमा वज्राभा गरुडोपमाश्च शुभदा रेखाः कपर्दोपमाः॥ (शिल्परत्नं, पाषाण परीक्षम्)
'समराङ्गण सूत्रधार' में धारा नरेश भोजराज ने शुभ शिलाओं की सूची दी है, जो विचारणीय है। आवास आदि के समय और प्रतिमादि के लिए प्रयोगकाल में इस पर गौर किया जाना श्रेयस्कर है— 1. कुम्भ, 2. अङ्कुश, 3. ध्वज, 4. छत्र, 5. मत्स्य, 6. चामर, 7. तोरण, 8. दूर्वा, 9. नागफल (नारियल), 10. उष्णीष, 11. पुष्प, 12. स्वस्तिक, 13. वेदिका, 14. चामर, 15. नन्द्यावर्त, 16. कूर्म, 17. पद्म और 18. चन्द्रमा। मनुष्यों और पशुओं में अश्वों के पदचिह्नों वाली शिलाएँ मङ्गलकारी होती हैं। (समराङ्गणसूत्रधार वनसम्प्रेषणाध्याय)
विष्णुधर्मोत्तरकार ने कोमल, सिकताहीन, प्रिय, गुणयुक्त, सरिता के जल से धूपित, पवित्र वृक्ष की छाया में छुपी रहने वाली, तीर्थाश्रय में रही शिला को भी ग्राह्य कहा है। श्वेत, पद्मवर्ण, कुसुम व औसतुल्य, पाण्डु, मुद्गवर्ण, कपोत च भौंरें के वर्ण जैसी— ये आठ वर्ण वाली शिलाएँ प्रशस्त हैं। कृष्णवर्णी शिला को छोड़ समुद्री झाग जैसी सफेद, हीरा जैसी, हीरक तुल्य आभावाली शिलाएँ लक्ष्मीवर्धक, पुत्र पौत्रवर्द्धक होती है। सितवर्णा या कृष्णवर्ण में हीरक आभा जैसी शिला बल प्रदायक वाली है। कृष्ण शिला जो लाल हीरे जैसी आभा दे, वह बहुदोषकारक है। सभी वर्णों के लिए सफेद शिला ही प्रशस्त है, जिसमें हीरक आभा हो— एकवर्णां समां स्निग्धां निमग्तां च तथा क्षितौ। घातातिमात्रस्फुटनां दृढ़ा मृद्वीं मनोरमाम्॥ कोमलां सिकताहीनां प्रियां दृङ्मनसोरपि। सरित्सलिलनिर्धूतां पवित्रा तु जलोषिताम्॥ द्रुमच्छायोपगूढ़ां च तीर्थाश्रमसमान्विताम्। आयाम-परिणाहाढ्या ग्राह्यां प्राहुर्मनीषिणः॥ श्वेतश्च पद्मवर्णश्च कुसुमोषरसान्निभम्। पाण्डुरा मुद्गवर्णश्च कापोतो भृङ्गसन्निभः॥ ज्ञेयाः प्रशस्ताः पाषाणाः अष्टावेते न संशयः। कृष्णवर्णाशिला या तु शुक्ला हीरकसंयुता॥ सा शिला श्रीकरी ज्ञेया पुत्र पौत्र विवर्धिनी। सितवर्णा तु या कृष्णैः हीरकैः शबलीकृता॥ बहुदोषकरी सा तु कृष्णा वा रक्त हीरकैः। सर्ववर्णेषु शुक्लेषु प्रशस्तं हीरकं स्मृतम्॥ (विष्णुधर्मोत्तर. 3, 90, 3-5 व 21-24)

अथोपदेशश्रवणविधिं —

कृतदेवादिकृत्यः सन्नुपदेशं नवं शुभम्।
श्रोतुकामो गुरोः पार्श्वेगच्छे दच्छाशयः पुमान्॥ 189॥

आत्मोद्धार की इच्छा से विधिपूर्वक स्नानादि से निवृत्त होकर, पूजनादि कृत्यों के बाद मन में शुभाकांक्षा रखते हुए सदुपदेश श्रवण करने के लिए गुरु की सन्निधि में जाना चाहिए।

गुरुदेवसम्मानं —

कदाचित्कार्यतस्तस्य पार्श्वमेति यदा गुरुः।
पर्युपास्तिस्तदा कर्तुमेवं शिष्यस्य युज्यते॥ 190॥

कदाचित् किसी कार्य प्रयोजन से गुरु अपने शिष्य के पास आए तो शिष्य को चाहिए कि वह गुरु की शुश्रुषा, सम्मान निम्नानुसार करें–

अभ्युत्तिष्ठेद्गुरो दृष्टेऽभिगच्छेत्तं तदागमे।
उत्तमाङ्गेऽञ्जलिं न्यस्य ढौकयेत्स्वयमासनम्॥ 191॥

गुरुदेव को देखते ही खड़े होना, अभिवादन के लिए सम्मुख जाना, मस्तक पर अञ्जलि करना और स्वयं ही आगे बढ़कर उनको आसन देना चाहिए।

नमस्कुर्यात्ततो भक्त्या पर्युपासीत चादरात्।
तद्याने त्वतुयायाच्च क्रमोऽयं गुरुसेवने॥ 192॥

इसके अनन्तर गुरु को भक्तिपूर्वक नमस्कार करना चाहिए। आदर से उनकी सेवा करनी चाहिए और जब पदार्पण करें तो उनका अनुगमन करते हुए पीछे चलना चाहिए। गुरु की सेवा यह क्रम कहा गया है।

गौरवस्पदगुरुतुल्यं किं —

शुद्धप्ररूपको ज्ञानी क्रियावानुपकारकः।
धर्मविच्छेदरक्षी च गुरुर्गौरवमर्हति॥ 193॥

ज्ञान की शुद्ध प्ररूपणा करने वाले, ज्ञानस्वरूप, क्रियापात्र, जीवमात्र पर उपकार करने वाले और धर्म-विच्छेद हो तो उसका रक्षण करने वाले गुरु सर्वथा पूजा योग्य हैं।

तथापवादश्चाह—

विचारावसरे मौनी लिप्सुर्धिप्सुश्च केवलम्।
सर्वत्र चाटुवादी च गुरुर्मुक्तिपुरार्गला॥ 194॥

जब भी कोई प्रश्न करें उस समय विचार पूर्वक प्रत्युत्तर देने की अपेक्षा मौन धारणकर बैठे रहने वाले, केवल द्रव्य के लोभी और पाखण्डी गुरु मुक्तिपुरी की अर्गला या ताले ही जानने चाहिए अर्थात् ऐसे जनों का सङ्ग नहीं करना ही उचित है।

उल्लासोपसंहरति —

इत्थं मया ब्राह्ममुहूर्तमादौ कृत्वाभ्यधायि प्रहरस्यकृत्यम्।
यस्य प्रकाशेन खेरिवोच्चै भवेर्देवश्यं कमलावबोधः॥ 195॥

(प्रथमोल्लास के उपसंहार के रूप में ग्रन्थकार ने कहा है कि) इस प्रकार ब्रह्ममुहूर्त्त से लगाकर दिवस के प्रथम प्रहर तक के कृत्य मैंने कहे हैं। जिस तरह सूर्य के प्रकाश से कमल का विकास होता है, उस तरह इस कृत्य के प्रकाशन और अनुकरण मात्र से कमला (लक्ष्मी) का बोधन होता है।

इतिश्रीजिनदत्तसूरि विरचित विवेकविलासे दिनचर्यायां प्रथमोल्लासः॥ 1॥

इस प्रकार श्रीजिनदत्तसूरि विरचित 'विवेक विलास' में दिनचर्या संज्ञक प्रथम उल्लास पूर्ण हुआ।

अथ दिनचर्या नामाख्यं
द्वितीयोल्लासः ॥ 2 ॥

अथ स्नानार्थे वर्जिततिथ्यादीनां—

द्वितीया वर्जिता स्नाने दशमी चाष्टमी तथा।
त्रयोदशीचतुर्दश्यो षष्ठी पञ्चदशी कुहूः ॥ 1 ॥

(इस द्वितीय उल्लास में भी दिनचर्या का वर्णन है। इसमें ज्योतिष की मान्यताओं के अनुसार कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया हैं) सामान्यतया द्वितीया, दशमी, अष्टमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, षष्ठी, पूर्णिमा और अमावस्या– ये तिथियाँ स्नान में वर्जित रखनी चाहिए।

वारानुसारेणस्नानफलं —

अदित्यादिषु वारेषु तापः कान्तिर्मृतिर्धनम्।
दारिद्र्यं दुर्भगत्वं च कामाप्ति स्नानतः क्रमात्॥ 2 ॥

रविवार, सोम, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र और शनिवार– इन सातों वारों में स्नान करें तो क्रमशः ताप, कान्ति, मृत्यु, द्रव्य, दारिद्र्य, दुर्भाग्य और मनैच्छित वस्तु की प्राप्ति होती है।*

तात्कालिकस्नान निषेधं —

नग्नार्तप्रोषितायातः सुचैलो भुक्तभूषितः।
नैव स्नायादनुव्रज्य बन्धून्कृत्वा च मङ्गलम्॥ 3 ॥

निर्वस्त्र, रोगी और यात्रा से आया हुआ, सुन्दर वस्त्राभरण धारण किया हुआ, भोजन किया हुआ, अपने स्नेहीं कुटुम्बी जनों को पहुँचा कर आया हुआ और कोई भी माङ्गलिक कार्य हुआ हो तो उसको तत्काल स्नान नहीं करना चाहिए।

---

* नारदसंहिता में आया है— अभ्यक्तो भानुवारे यः स नरः क्लेशवान्भवेत्॥ ऋक्षेशे कान्तिभाग्भौमे व्याधिसौभाग्यमिन्दुजे जीवे नैस्वं सिते हानिर्मन्दे सर्वसमृद्धयः॥ (नारदसंहिता 5, 9-10 एवं नारदपुराण पूर्व. 56, 157-158)

तैलाभ्यङ्गं —

न पर्वसु न तीर्थेषु न सङ्क्रान्तौ न वैधृतौ।
न विष्टौ न व्यतीपाते तैलाभ्यङ्गः प्रशस्यते॥ 4॥

पर्व दिवस तीर्थ में, सक्रान्ति के दिन और वैधृति, विष्टिकरण और व्यतिपात– इन तीन दिनों में उबटन (या तेल की मालिश) नहीं करनी चाहिए।*

स्नानं शुद्धाम्भसा यत्तन्न कदाचिन्निषिध्यते।
न विष्टौ न व्यतीपाते तैलाभ्यङ्गे तदीक्ष्यते॥ 5॥

शुद्ध पानी से नित्य स्नान करने के लिए कोई निषेध नहीं किन्तु तैलाभ्यङ्ग के प्रसङ्ग में वार, तिथ्यादि को देखना चाहिए और विष्टिपात, व्यतिपात आदि को त्यागना चाहिए।

तथा चान्य स्नानस्य विचारं —

गर्भाशयामृतुमतीं गत्वा स्नायात्परेऽहनि।
अनृतुस्त्रीगमे शौचं मूत्रोत्सर्गवदाचरेत्॥ 6॥

गर्भवती अथवा रजस्वला स्त्री से गमन किया हो तो दूसरे दिन स्नान करना चाहिए और ऋतुकाल नहीं होते हुए स्त्रीसङ्ग किया हो तो मूत्र करने के बाद जैसे शुद्धि की जाती है, वैसी ही शुद्धि अपेक्षित है।

रात्रौ स्नानं न शास्त्रीयं केचिदिच्छन्ति पर्वणि।
तीर्थे स्नात्वान्यतीर्थानां कुर्यान्निन्दास्तुतिर्न च॥ 7॥

कभी रात्रि में स्नान करने के लिए शास्त्र में नहीं कहा है किन्तु कितने ही धर्मप्राण मनुष्य पर्व हो तो रात्रि को भी स्नान करना चाहिए, ऐसा कहते हैं।** एक तीर्थ में स्नान कर वहाँ दूसरे तीर्थ की निन्दा या स्तुति नहीं करना चाहिए।

अज्ञाते दुःप्रवेशे च चाण्डालैर्दूषितेऽथवा।
तरुच्छन्ने सशैवाले न स्नानं युज्यते जले॥ 8॥

अज्ञात जलाशय, विषम मार्ग वाले स्रोत, चाण्डालों से दूषित, वृक्षों से आच्छन्न हुए और शैवाल-कांई वाले पानी में स्नान करना उचित नहीं माना जाता है।

अन्यदप्याह —

---

* विष्णुपुराण में कहा गया है— चतुर्दश्यष्टमी चैव तथामा चाथ पूर्णिमा। पर्वाण्येतानि राजेन्द्र रविसङ्क्रान्तिरेव च॥ तैलस्त्रीसम्भोगी सर्वेष्वेतेषु वै पुमान्। विण्मूत्रभोजनं नाम प्रयाति नरकं मृतः॥ (अंश 3, 11, 118-119)

**तुलनीय— निशायां चैव न स्नायात्सन्ध्यायां ग्रहणं विना। (स्कन्दपुराण ब्रह्म. चातुर्मास्य. 1, 29) तथा— भास्करस्य करैः पूतं दिवा स्नानं प्रशस्यते। अप्रशस्तं निशि स्नानं राहेरन्यत्र दर्शनात्॥ (पाराशरस्मृति, 12, 20)

स्नानं कृत्वा जलैः शीतैर्भोक्तुमुष्णं न युज्यते।
जलैरुष्णैस्तथा शीतं तैलाभ्यङ्गश्च सर्वदा॥ 9॥

शीतल जल से स्नान करने के तत्काल बाद गरम भोजन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार गर्म जल से स्नान के तुरन्त बाद ठण्डा भोजन नहीं करना चाहिए। चाहे कैसे ही जल से स्नान किया हो किन्तु उसके बाद तैलाभ्यङ्ग तो किसी भी समय नहीं करना चाहिए।*

स्नानोपरान्तविकृतच्छायाफलादीनां—.

स्नातस्य विकृता छाया दन्तघर्षः परस्परम्।
देहे च शवगन्धश्चेन्मृत्युस्तद्दिवसत्रये॥ 10॥

स्नानकर्ता की परछाईं उसे यदि छिन्न-भिन्न अथवा उल्टी दिखाई दे, दाँत परस्पर घिसे अथवा देह से मुर्दे जैसी दुर्गन्ध आती लगे तो तीन दिन में मृत्यु जाननी चाहिए।

स्नातमात्रस्य चेच्छाषो वक्षस्यङ्घ्रिद्वयेऽपि च।
षष्ठे दिने तदा ज्ञेयं पञ्चत्वं नात्र संशयः॥ 11॥

यदि स्नान करने के तत्काल बाद वक्षस्थल और दोनों पाँव सूख जाए तो छठे दिन मरण की आशंका जाननी चाहिए, इसमें संशय नहीं है।

रोगमुक्तिस्नानं—

न शुक्रसोमयोः कार्यं स्नानं रोगविमुक्तये।
पौष्णाश्लेषाध्रुवस्वाति पुर्नवसुमघासु च॥ 12॥

शुक्रवार या सोमवार और रेवती, आश्लेषा, रोहिणी, तीन उत्तरों, स्वाति, पुनर्वसु और मघा– इतने नक्षत्रों में रोग विमुक्ति के हेतु से स्नान करना चाहिए।

रिक्ता तिथिः कुजार्कौ वा क्षीणेन्दुर्लग्नमस्थिरम्।
द्वित्रयष्टैकादशाः क्रूरा नैरुज्यस्नानसिद्धिदाः॥ 13॥

इसी प्रकार रिक्ता तिथि (4, 9 और 14), मङ्गलवार अथवा रविवार, क्षीण चन्द्रमा, अस्थिर (चर) लग्न और दूसरे, तीसरे, आठवें या ग्यारहवें स्थान पर क्रूरग्रह

---

* महाभारत में कहा है कि स्नान के बाद अपने अङ्गों में तेल की मालिश नहीं करनी चाहिए— स्नात्वा च नावमृज्येत गात्राणि सुविचक्षणः॥ न चानुलिम्पेदस्नात्वा स्नात्वा वासो न निर्धुनेत्। (अनुशासनपर्व 104, 51-52)

हो तो ऐसा योग देखकर रोग विमुक्ति के लिए स्नान करना सिद्धिप्रद होता है।*

रते वान्ते चिताधूमस्पर्शे दुःस्वप्नदर्शने।
क्षौरकर्मण्यपि स्नायाद्रलितैः शुद्धवारिभिः॥ 14॥

इति स्नानचर्यायां।

सामान्यतया स्त्रीसङ्ग, वमन, (श्मशान में) चिता से धूआँ उठता देखने में आए, बुरा स्वप्न हो जाए और क्षौर करवाया हो तो तो शुद्ध जल से स्नान करना चाहिए।

अथ क्षौर कर्मविचारः

चतुर्थी नवमी षष्ठी चर्तुदश्यष्टमी तथा।
अमावास्या च दैवज्ञैः क्षौरकर्मणि नेष्यते॥ 15॥

दैवज्ञों का मत है कि चतुर्थी, नवमी, षष्ठी, चतुर्दशी, अष्टमी और अमावस्या– इन छह तिथियों में क्षौरकर्म कराना उचित नहीं है।

दिवाकीर्तिप्रयोगे तु वाराः प्रोक्ता मानीषिभिः।
सौम्येज्यशुकसोमानां क्षेमारोग्यसुखप्रदाः॥ 16॥

क्षौरकर्म के लिए बुधवार, गुरु, शुक्र और सोमवार– ये चार वार क्षेम, आरोग्य और सुख देने वाले होते हैं, ऐसा पण्डित लोगों का मत है।

क्षौरं प्रोक्तं विपश्चिद्भिमृगे पुष्ये चरेषु च।
ज्येष्ठाश्विनीकरद्वन्द्वरेवतीषु च शोभनम्॥ 17॥

नक्षत्रों में मृगशिरा, पुष्य, चर संज्ञक नक्षत्र (स्वाती, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा), ज्येष्ठा, अश्विनी, हस्त, चित्रा और रेवती– इन नक्षत्रों में क्षौरकर्म प्रशस्त है, ऐसा विद्वानों का कहना है।

क्षौरे राजाज्ञया जाते नक्षत्रं नावलोक्यते।
कैश्चित्तीर्थ च शोके च क्षौरमुक्तं शुभार्थिभिः॥ 18॥

---

* यह मत श्रीपति के मत से तुलनीय है— इन्दोर्वारि भार्गवेषु ध्रुवेषु सार्प्यादित्यस्वातियुक्तेषु भेषु। पित्र्ये चान्त्ये चैव कुर्यात्कदाचिन्नैव स्नानं रोगमुक्तस्य जन्तोः॥ लग्ने चरे सूर्यकुजेज्यवारे रिक्ते तिथौ चन्द्रबले च हीने। त्रिकोणकेन्द्रोपगतैश्च पापैः स्नानं हितं रोगविमुक्तकानाम्॥ (ज्योतिषरत्नमाला 4, 51-52) इसी क्रम में विट्ठलदीक्षित का मत है कि स्नान तब करें जबकि चन्द्रमा हीन स्थानस्थ (जन्म राशि से 4, 8, 12वाँ) हो, सोमवार और शुक्रवार को छोड़कर, चरलग्न (1, 3, 7, 10) में और पापग्रह लग्नस्थ हो अर्थात् क्षीणचन्द्र, सूर्य, मङ्गल, शनि, राहु और केतु लग्न से 11, 1, 4, 7, 10, 9 व 5वें स्थान पर हो तथा रिक्ता तिथि (4, 9 अथवा 14) हो। इनके अतिरिक्त ध्रुवसंज्ञक नक्षत्र (उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़, उत्तराभाद्रपद व रोहिणी), रेवती, आश्लेषा, पुनर्वसु, स्वाती और मघा नक्षत्रों को छोड़कर अन्य कोई नक्षत्र (अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, विशाखा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा और पूर्वाभाद्रपद) लिया जाना चाहिए—चन्द्रे विरुद्धे विकवीन्दुवारे चरोदये दुर्युजि रिक्तिथ्याम्। ध्रुवा-न्त्य-सार्पा-दिति-वायु-पित्र्यहीनोडुभिः स्नातु नरो रुजान्ते॥ (मुहूर्तकल्पद्रुम 8, 33)

यदि राजाज्ञा हो तो क्षौरकर्म में नक्षत्र नहीं देखा जाता है। कतिपय विद्वानों का कहना है कि तीर्थ में अथवा शोक के कारण क्षौर कराना हो तो भी नक्षत्र नहीं देखा जाता है।

रात्रौ सन्ध्यासु विद्यादो क्षौरं नोक्तं तथोत्सवे।
भूषाभ्यङ्गाशनस्नान पर्वयात्रारणेष्वपि॥ 19॥

रात्रि में, सन्ध्या को, विद्यारम्भ में, उत्सव में, भूषण, अभ्यङ्ग (तैलमर्दन) भोजन और स्नान करने के बाद, किसी पर्व तिथि को और यात्रार्थ या संग्राम में जाते समय क्षौर नहीं कराना चाहिए।*

केशकर्तनं च नखच्छेदनं —

कल्पयेदेकश: पक्षे रोमश्मश्रुकचान्नखान्।
न चात्मदशनाग्रेण स्वपाणिभ्यां न चोत्तम: ॥ 20॥

सामान्यत: पक्ष में एक बार अपने दाढ़ी-मूँछ, सिर के केश और नाखून काटने चाहिए किन्तु अपने ही हाथों अपने बाल नहीं काटने चाहिए और अपने दाँत से नाखून भी नहीं काटने चाहिए।

अथ वस्त्राभूषणाधिकार:

आत्मवित्तानुमानेन कालौचित्येन सर्वदा।
कार्यो वस्त्रादिशृङ्गारो वयसश्चानुमानत: ॥ 21॥

---

* क्षौर के सम्बन्ध में ज्योतिष ग्रन्थों में कई विचार मिलते हैं। वराहमिहिर का मत है कि स्नान कराने के उपरान्त, कहीं भी गमनोन्मुख होते समय, तैलादि अभ्यङ्ग के उपरान्त, युद्धकाल में, बिना आसन, संध्याकाल, रात्रिकाल, शनि, मङ्गल और रविवार में, रिक्तातिथि (4, 9, 14) में, नवें दिन में, विष्टि करण में क्षौरकर्म शुभ नहीं होता है— न स्नातमात्रगमनोन्मुख भूषितानामभ्यक्तभुक्तरण कालनिरासनानाम्। सन्ध्यानिशा कुजदिनेषु तिथौ च रिक्ते क्षौरं हितं न नवमेऽह्नि न चापि विष्ट्याम्॥ (बृहत्संहिता 98, 13 एवं राजमार्तण्ड 276)

भोज का मत है कि राजाज्ञा या ब्राह्मण के कथन से, विवाहावसर पर, मृताशौच की शुद्धि हो तब या यज्ञ, दीक्षादि के अवसर पर अथवा कारागार से मुक्त होने पर समस्त नक्षत्रों में क्षौरकर्म शुभ होता है— नृपाज्ञया ब्राह्मणसङ्गतौ विवाहकाले मृतसूतके च। बन्धस्य मोक्षे क्रतुदीक्षणे च सर्वेषु शस्तं क्षुरकर्मभेषु॥ (राजमार्तण्ड 279)

नारद का मत है कि उबटन के बाद, दोनों सन्ध्याओं के अन्त में, भोजन के बाद, रात्रि, उत्कटता, युद्धोन्मुख, अलङ्कृत होकर, यात्रा, नवें दिन में क्षौर कर्म नहीं करवाना चाहिए- अभ्यक्ते संध्ययोर्नांत निशि भुक्ते न चाहवे। नोत्कटे भूषिते नैव याने न नवमेह्नि च॥ (ज्योतिर्निबन्ध पृष्ठ 118, श्लोक 30)

श्रीपति का मत है कि स्नान के बाद या हवनादि कर्म का दिवस, आभूषणादि को धारण करने का दिन, यात्रा और युद्ध की तैयार हो, क्षौर कर्म वर्जनीय है। इसी प्रकार रात्रि, सन्ध्या काल, व्रत दिवस, नवमी (रिक्ता तिथि 4, 9,14) को क्षौर नहीं करना चाहिए- न स्नातभुक्तोत्कट भूषणा नामभ्युक्त यात्रा समरोत्सुकानाम्। क्षौरं विदध्यात् निशि सन्ध्यायोर्वाजिजीविषूणां नवमे न चाह्नि॥ (रत्नमाला 4, 24)

अपने द्रव्य-सामर्थ्य के अनुसार शीत, ग्रीष्म, वर्षादि काल के लिए यथोचित वस्त्रों को क्रय करें और धारण कर आयु के अनुसार शृङ्गारादि करना चाहिए।

वस्त्रधारणार्थं शुभवारं —

वारा नवीनवस्त्रस्य परिधाने मताः शुभाः।
सौम्यार्कशुक्रगुरवो रक्तवस्त्रे कुजोऽपि च॥ 22॥

नवीन वस्त्र धारण करना हो तो बुधवार, रवि, शुक्र और गुरुवार शुभ जानने चाहिए। लाल वस्त्र पहनना हो तो मङ्गलवार भी शुभ होता है।

शुभनक्षत्रमुहूर्तमाह —

धनिष्ठाध्रुवरेवत्योऽश्विनीहस्तादिपञ्चकम्।
पुष्यं पुनर्वसुश्चैव शुभानि श्वेतवांससि॥ 23॥

श्वेत परिधान धारण करना हो तो धनिष्ठा, ध्रुव संज्ञक नक्षत्र (रोहिणी और तीनों उत्तरा), रेवती, अश्विनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, पुष्य और पुनर्वसु– इन नक्षत्रों को शुभ जानना चाहिए।*

पुष्यं पुनर्वसुश्चैव रोहिणी चोत्तरात्रकम्।
कौसुम्भे वर्जयेद्वस्त्रे भर्तृघातो भवेद्यतः॥ 24॥

विवाहिता को कुसुम्बी (लाल) वस्त्र पहनना हो तो पुष्य, पुनर्वसु, रोहिणी, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा और उत्तरा भाद्रपदा– इन नक्षत्रों को त्याग देना चाहिए क्योंकि इनमें लाल वस्त्र पहने तो पति का नाश होता है।

रक्तवस्त्रप्रवालानां धारणं स्वर्णशङ्खयोः।
धनिष्ठायां तथाश्विन्यां रेवत्यां करपञ्चके॥ 25॥

धनिष्ठा, अश्विनी, रेवती, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा और अनुराधा– इन

---

* श्रीपति का कथन है कि अश्विनी नक्षत्र में वस्त्र धारण करने से अधिक वस्त्र मिलते हैं। भरणी में वस्त्रधारण से वस्त्रों की हानि, कृत्तिका में अग्नि से वस्त्रदाह, रोहिणी में धनागम, मृगशिरा में वस्त्रों का चूहे द्वारा नाश, आर्द्रा में मृत्यु, पुनर्वसु में शुभफल, पुष्य में धनलाभ, आश्लेषा में वस्त्रनाश, मघा मे मृत्यु, पूर्वा फाल्गुनी में शासन से भय, उत्तराफाल्गुनी में धनलाभ, हस्त में कार्य सिद्धि, चित्रा में शुभफल, स्वाती में उत्तम भोज का लाभ, विशाखा में लोकप्रियता प्राप्त होती है— वस्त्रप्राप्ति स्तदपहरणं वडितदाहोर्थ सिद्धिराषोर्भातिमृति रथधनं प्राप्तिरर्थागमश्च। मोक्षोमृत्युर्नरयति भयं सम्पदः कर्मसिद्धि रिष्टाऽवाप्तिस्याः सदशनमथो वल्लभत्वज्ञनानाम्॥ (रत्नमाला 19, 1)
इसी प्रकार अनुराधा में वस्त्रधारण करने से मित्रलब्धि, ज्येष्ठा में वस्त्र का क्षय, मूल में जल में डूबने की आशंका, पूर्वाषाढ़ा में रोग, उत्तराषाढ़ा में मिष्ठान्न लाभ, श्रवण में नेत्र पीड़ा, धनिष्ठा में अन्नप्राप्ति, शतभिषा में विष का भय, पूर्वाभाद्रपद में जल का भय, उत्तराभाद्रपद में पुत्र का लाभ और रेवती नक्षत्र में नवाम्बर धारण किए जाने पर रत्नों की प्राप्ति होती है- मित्राप्तिरम्बरद्धतिः सलिलष्णुतिश्चोगोप्यमष्टामशनं नयनामयं च धान्यन्त्विषोद्भव। भयं जलभीर्धन रत्नाप्तिरम्बरलिलष्णुतिश्चरो गोथमृष्टमशनं न धृतेः फलमश्चिभाच्च॥ (तत्रैव 19, 2)

नक्षत्रों में रक्तवस्त्र, प्रवाल, सुवर्ण और शङ्खादि को धारण किया जाना चाहिए।*

विप्रस्वाम्यादीनां आदेशोनलङ्घनं —

द्विजादेशे विवाहे च स्वामिदत्ते च वाससि।
तिथिवारर्क्षशीतांशुविष्टयादि न विलोकयत्॥ 26॥

यदि ब्राह्मण की आज्ञा हो जाए, विवाहावसर हो अथवा अपने स्वामी से वस्त्र (कार्यालय पोशाक) प्राप्त हुआ हो तो उसे धारण करने में तिथि, वार, नक्षत्र, चन्द्रबल, विष्टिकरण आदि पर विचार नहीं करना चाहिए।**

अन्यदप्याह —

न धार्यमुत्तमैर्जीर्णं वस्त्रं न च मलीमसम्।
विना रक्तोत्पलं रक्तं पुष्पं च न कदाचन॥ 27॥

श्रेष्ठ पुरुषों को कभी जीर्ण या मलीन वस्त्र धारण नहीं करने चाहिए। इसी प्रकार रक्तोत्पल (लाल कमल) के अतिरिक्त अन्य कोई लाल रङ्ग का पुष्प किसी भी समय धारण नहीं करें।

आकाङ्क्षन्नात्मनो लक्ष्मीं वस्त्राणि कुसुमान्यपि।
पादत्राणानि चान्येन विधृतानि न धारयेत्॥ 28॥

जिसे लक्ष्मी की आकांक्षा हो, उस व्यक्ति को किसी अन्य के पहने हुए वस्त्र, फूल और जूते धारण नहीं करने चाहिए।

वस्त्रस्य नवभागानुसारे दग्धादिदोषे शुभाशुभाह —

नवभागीकृते वस्त्रे चत्वारस्तत्र कोणकाः।
कर्णवृत्ति द्वयं द्वौ चाञ्चलौ मध्यं तथैककम्॥ 29॥
चत्वारो देवताभागा द्वौ भागौ दैत्यनायकौ।
उभौ च मानुषौ भागावेको भागश्च राक्षसः॥ 30॥

(काजल-कालिख लगे हुए, कीचड़-गन्दगी से सने हुए वस्त्र का शुभाशुभ जानने के विषय में कहा जा रहा है कि जो वस्त्र धारण करना हो, उसके कुल दैर्घ्य को तीन से भाजित करें। इस प्रकार) वस्त्र के नौ भाग होंगे जिसमें चार कोने के चार भाग, दो किनारे के दो भाग, दो पल्लू के दो भाग और एक मध्य का भाग—इन नौ

---

* यह मत श्रीपति से तुलनीय है— करादिपञ्चकेऽश्विते सपौष्ण वासवे स्मृता। धृतिस्तु शङ्ख काञ्चनं प्रवालरक्त वाससाम्॥ (रत्नमाला 4, 19)

**यह मत वराहमिहिर से तुलनीय है— विप्रमतादथ भूपतिदत्तं यच्च विवाहविधावभिलब्धम्। तेषु गुणै रहितेष्वपि भोक्तुं नूतनमम्बरमिष्टफलं स्यात्॥ (बृहत्संहिता 71, 14)
इसी प्रकार श्रीपति की उक्ति है— विप्रादेशात्तथोद्वहे क्षमापालेन समर्पितम्। निन्द्येऽपि धिष्ण्ये वारादौ धार्यते नवाम्बरम्॥ (रत्नमाला 19, 8)

भागों में पहले चार भाग देव के, दूसरे दो भाग दैत्य के, तीसरे दो भाग मनुष्य के और चौथा एक भाग राक्षस का जानना चाहिए।

राक्षसान् विनिवृत्यैव शय्यादिष्वप्ययं विधिः

देवता	मनुष्य	देवता
राक्षस	राक्षस	राक्षस
देवता	मनुष्य	देवता

पङ्काज्ञनादिभिर्लिप्तं कुट्टितं मूषकादिभिः।
तुन्नितं पाटितं दग्धं दृष्ट्वा वस्त्रं विचारयेत्॥ 31॥
उत्तमो दैवते लाभो दानवे रोगसम्भवः।
मानुषे मध्यमो लाभो राक्षसे मरणं पुनः॥ 32॥

वस्त्र कीचड़ में सन गया हो या काजल लग गया हो, चूहों ने काटा हो, तुना हुआ, फटा और जला हुआ हो तो उक्त चक्रानुसार देखकर ही विचार करना चाहिए। इस प्रकार से देवता के भाग में कीचड़ से सना हुआ, फटा हुआ आदि हो तो उत्तम लाभ होता है। दैत्य के भाग में हो तो बीमारी की आशङ्का जाने। मनुष्य के भाग में हो तो मध्यम लाभ हो और राक्षस के भाग में हो तो मृत्यु या मृत्युतुल्य कष्ट होता है।*

---

* यह निर्देश वराहमिहिराचार्य की उक्तियों का अनुवर्ती है— लिप्ते मषीगोमयकर्दमाद्यैश्छिन्ने प्रदग्धे स्फुटिते च विन्द्यात्। पुष्टं नवेऽल्पाल्पतरं च भुक्ते पापं शुभं चाधिकमुत्तरीये॥ (बृहत्संहिता 71, 10)
इसी प्रकार श्रीपति का कथन है कि काजल, पङ्क, गोबर आदि से लिप्त किसी प्रकार के धातु आदिक से कर्तित वस्त्र शुभ नहीं होता। यह चिन्ताकारक होता है। ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति का भविष्य अशुभ मार्ग पर जाएगा, ऐसा कहा गया है—कज्जल कर्दमगोमय लिप्ता वासंसि दग्धवति स्फुटिते वा। चिन्त्यमिदं नवधाभि-हितेस्मिन्निष्टमनिष्ट फलं च सुधीभिः॥ (रत्नमाला 19, 7)
शय्या, आसन, खड़ाऊ आदि यदि आग से जल जाए या दग्ध हो जाए तो ऐसे नियमानुसार ये त्याज्य है अथवा शुभ या गृहीत है, ये विचार किया जाना चाहिए। इसके लिए नौ विभाग की एक सारणी बनाकर वहाँ देवताओं की स्थापना करें जिसमें मध्य के तीन भागों में राक्षस तथा शेष पास के दो विभागों में नरों की स्थापना करें और इस प्रकार की स्थिति में फल जाने— निवसन्त्यमरा हि वस्त्रकोणे मनुजाः पाशदशान्तमध्ययोश्च। अपरेऽपि च रक्षसां त्रयोंशाः शयने चासनपादुकासु चैवं॥ (तत्रैव 19, 3)
देव मनुष्य और राक्षस सभी के विभागों में प्रान्त अर्थात् वस्त्र की सीमा के अन्तिम छोरों पर जलने आदि से भविष्य में अनिष्ट होने की सूचना मिलती है। एक प्रकार से ऐसा सङ्केत प्राप्त राक्षस अंश में होने पर मृत्यु का सङ्केत होता है— भोगप्राप्तिर्देवताशे नरांशे पुत्राप्तिः स्याद्राक्षसांशे च मृत्युः। प्रान्ते सर्वाशेष्वनिष्टं फलं स्यात्लुष्टे वस्त्रे नूतने साध्वसाधु॥ (तत्रैव 19, 4)
भट्टोत्पल ने बृहत्संहिता की विवृत्ति में इस सम्बन्ध में महर्षि गर्ग की उक्ति को उद्धृत किया है— वस्त्रल्पुत्तरलोमं तु प्राग्देशं नवधा भवेत्। त्रिधा दशान्तपाशान्ते त्रिधा मध्यं पृथक्-पृथक्॥ चतुर्षु कोणेषु सुराः पाशान्ते मध्यमेनराः दशान्ते च नरा भूयो मध्यभागे निशाचराः॥ (बृहत्संहिता 71, 10 पर उद्धृत)

अथ ताम्बूल विचारः

नागवल्लीदलास्वादो युज्यते क्रमुकैः समम्।
एलालवङ्गकङ्कोल कर्पूराद्यन्वितैरपि॥ 33॥

ताम्बूल (नागरवेल का) पान, सुपारी, इलायची, लवङ्ग, कङ्कोल, कपूर इत्यादि वस्तुओं के साथ खाना चाहिए।*

चूर्णपूगफलाधिक्य साम्ये चाऽत्र सति कमात्।
दुर्गन्धारङ्गसौगन्ध्य बहुरागान्विदुर्बुधाः॥ 34॥

यदि ताम्बूल में चूना अधिक हो तो दुर्गन्ध देता है। सुपाड़ी अधिक हो तो रङ्ग नहीं आता। अपेक्षानुसार ही चूना हो तो सुगन्ध होती है और अपेक्षित सुपाड़ी हो तो पर्याप्त रङ्ग आता है—ऐसा पण्डितों का मत है।**

पित्तशोणितवातार्तरूक्षक्षीणाक्षिरोगिणाम्।
तच्चापथ्यं विषार्तस्य क्षीबशोषवतोरपि॥ 35॥

ऐसे व्यक्ति जिनको पित्त, रक्त और वात रोग हुआ हो, रुक्ष और क्षीण हुए को, आँख के रोगी, विष से पीड़ित, पागल और शोष-क्षय रोग वालों के लिए ताम्बूल कदापि गुणकारी नहीं होता है।

ताम्बूलगुणाः

कामदं षड्रसाधारमुष्णं श्लेष्मापहं तथा।
कान्तिदं कृमिदुर्गन्ध वातानां च विनाशनम्॥ 36॥
यः स्वादयति ताम्बूलं वक्त्रभूषाकर नरः।
तस्य दामोदरस्येव न श्रीस्त्यजति मन्दिरम्॥ 37॥

(अब पान के गुण कहते हैं) कामोद्दीपक, षट्रस का आधार, उष्ण, कान्ति प्रदाता और कफ, कृमि, दुर्गन्ध और वायु विकार का विनाश करने वाला, ऐसे ही मुँह की शोभा उत्पन्न करने वाले ताम्बूल का जो व्यक्ति सेवन करता है उसके घर

---

* बृहत्संहिता में आया है कि रात में पान खाना हो तो पत्ता और दिन में खाना हो तो सुपाड़ी अधिक डालकर खाना अच्छा होता है। इस क्रम के विपरीत खाने से उपहास ही समझना चाहिए। कक्कोल, सुपाड़ी, लवलीफल और जातीफल से युक्त पान सेवन करने से मनुष्य को मद के हर्ष से प्रसन्न करता है—पत्राधिकं निशि हितं सफलं दिवा च प्रोक्तान्यथाकरणमस्य विडम्बनैव। कक्कोलपूगलवलीफलपारिजातैरामोदितं मदमुदा मुदितं करोति॥ (बृहत्संहिता 77, 37)

**तुलनीय— युक्तेन चूर्णेन करोति रागं रागक्षयं पूगफलातिरिक्तम्। चूर्णाधिकं वक्त्रविगन्धकारि पत्राधिकं साधु करोति गन्धम्॥ (बृहत्संहिता 77, 36)
विष्णुधर्मोत्तर में आया है— एकपूगं सदा श्रेयो द्विपूगं निष्फलं भवेत्। अतिश्रेष्ठं त्रिपूगं च त्वधिकं नैव दुष्यति॥ (विष्णुधर्मोत्तर. लक्षणप्रकाश में उद्धृत पृष्ठ 220)

दामोदर के समान कभी लक्ष्मी नहीं छोड़ती है।*

स्वापान्ते वमने स्नाने भोजनान्ते सदस्यपि।
तत्त ग्राह्यमनल्पीयः सुखदं मुखशुद्धिकृत्॥ 38॥

सुख प्रदायक और मुँह को शुद्ध करने वाला ताम्बूल निद्रा, वमन, स्नान और भोजनोपरान्त तथा सभा-गोष्ठी** हो तो सेवन करना चाहिए।

पानसंरचनाह —

पर्णमूले वसेद्व्याधिः पर्णाग्रे पापसम्भवः।
चूर्णपत्रं हरेदायु शिरा बुद्धिविनाशिनी॥ 39॥[5]

यह ज्ञातव्य है कि पान के मूल में व्याधि रहती है; अग्रभाग में पाप का समूह रहता है। सूखा हुआ चूर्ण सम पान खाने से आयुष्य का विनाश होता है और पान की नस बुद्धि का नाश करती है।

अथ द्रव्योपार्जनाधिकारः

सुधीरर्थार्जने यत्नं कुर्यान्न्यायपरायणः।
न्याय एवानपायो यदुपायः सर्वसम्पदाम्॥ 40॥

समझदार व्यक्ति को सदैव न्याय मार्ग का आश्रय करके ही द्रव्योपार्जन करना चाहिए। न्याय ही द्रव्योपार्जन का शुद्ध उपाय है।

दत्तः स्वल्पोऽपि भद्राय स्यादर्थो न्यायसञ्चितः।
अन्यायात्तः पुनर्दत्तः पुष्कलोऽपि फलोज्झितः॥ 41॥

न्यायपूर्वक कमाया गया द्रव्य यदि (धर्मादि कृत्यों में) अल्प व्यय भी करें तो क ल्याण का हेतु होता है और अन्यायोपार्जित अधिक व्यय हो तब भी निष्फल जानना चाहिए।

धर्ममर्माविरोधेन सकलोऽपि कुलोचितः।
निस्तन्द्रेण विधेयोऽत्र व्यवसायः सुमेधसा॥ 42॥

बुद्धिमानों को चाहिए कि व्यापार में ऐसी विधि ही अपनानी चाहिए कि जिसमें कभी धर्मतत्त्व का विरोध नहीं हो—ऐसे में आलस्य का त्यागकर उद्यम करना चाहिए।

अथ दृष्टान्तं —

---

* यहाँ वराहमिहिर का मत तुलनीय है—कामं प्रदीपयति रूपमभिव्यनक्ति सौभाग्यमावहति वक्त्रसुगन्धितां च। ऊर्जं करोति कफजांश्च निहन्ति रोगांस्ताम्बूलमेवमपरांश्च गुणान् करोति॥ (बृहत्संहिता 77, 35)

**शार्ङ्गधरपद्धति, मानसोल्लास में ताम्बूल-गोष्ठी का वर्णन आया है।

5 विष्णुधर्मोत्तर मे यह श्लोक इस रूप में है—पर्णमूले भवेत् व्याधिः पर्णाग्रे पापसम्भवः। चूर्णपर्णं हरत्यायुः शिरा बुद्धिविनाशिनी॥ (लक्षणप्रकाश में उद्धृत पृष्ठ 220)

प्रसूनमिव निर्गन्धं तडागमिव निर्जलम्।
कलेवरमिवाजीवं को निषेवेत निर्धनम्॥ 43॥

जैसे सुगन्ध रहित फूल को कोई सम्मान नहीं देता, जैसे जलहीन जलाशय को आदर नहीं मिलता और जिस प्रकार जीव रहित काया को आदर नहीं मिलता वैसे ही द्रव्यहीन पुरुष की स्थिति है, उसकी कोई सेवा नहीं करता।

सुभाषितानि—

अर्थ एव ध्रुवं सर्व पुरुषार्थनिबन्धनम्।
अर्थेन रहिताः सर्व जीवन्तोऽपि शवोपमाः॥ 44॥

अर्थ निश्चित ही समस्त पुरुषार्थ का मूल कारण है। इसलिए अर्थ से रहित सब पुरुष जीवित होते हुए भी मरे हुए के समान हैं।

कृष्यादिभिः स चोपायैर्भूरिभिः समुपार्ज्यते।
दयादानादिभिः सम्यग्धन्यैर्धर्माय स ध्रुवम्॥ 45॥

धर्म-धन्य पुरुष खेती, व्यापारादि अनेक उपायों द्वारा द्रव्योपार्जन करता है और अनुकम्पादान, पात्रदान इत्यादि प्रमुख सत्कार्य करके सद्धर्म का ओर ही उसका व्यय करता है।

कृषिकर्मप्रशंसाह—

वापकालं विजानाति भूमिभागं च कर्षकः।
कृषि साध्यां पथि क्षेत्रं यश्चोज्झति स वर्धते॥ 46॥

जो किसान फसल की बुवाई का काल, भूमि का भाग और भूमि के उपज-निपज के गुणधर्म को जानता है और मार्गस्थ खेत को त्याग देता है वह कृषि में अवश्य लाभ प्राप्त करता है।*

---

* महर्षि काश्यप का मत है कि भूमि के पास नित्य जलस्रोत सुलभ होने चाहिए और भूमि में जल को स्वीकृत करने का गुण हो। ऐसे लक्षणों से संयुक्त होने पर उसे खेतों, खलिहानों के लिए ग्राह्य करना चाहिए। राजा को चाहिए कि वह शुभ लक्षणों वाली भूमि को देखकर उसे कृषियोग्य भूमि के रूप में अधिगृहीत करें। भूमि की शुभाशुभता की परीक्षा के लिए ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त किया जाना चाहिए जो कि गुणों, लक्षणों के आधार पर उसका वर्गीकरण करने की पर्याप्त दक्षता रखते हो। भूमिविद् चाहे ब्राह्मण हो, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र हो, उनके लिए यह भी आवश्यक है कि वे भूमिगत जलानुसन्धान की विधियों के ज्ञाता हों और कृषिशास्त्र विशारद भी होने चाहिए— सुलभोदकनिस्रावां सुलभस्वीकृतोदकाम्। एवं लक्षणसंयुक्तखल भूमिवृतां क्वचित्॥ वसुधां भूपतिर्वीक्ष्य गृह्णीयादुत्तमामिह। भूपरीक्षाक्रविदो गुणाढ्या नृपचोदिताः॥ ब्राह्मणाः क्षत्रिया वापि विशः शूद्रास्तु वा पुनः। दकार्गल प्रमाणज्ञाः कृषिशास्त्रविशारदाः॥ (काश्यपीयकृषिसूक्ति 1, 2, 45-47)

व्ययविचारं —

आरम्भोऽयं महानेव लक्ष्मीकार्मणकर्मणि।
सुतीर्थविनियोगेन विना पापाय केवलम्॥ 47॥

द्रव्योपार्जन करने के लिए बहुत उद्योग करना पड़ता है। अतएव उपार्जित द्रव्य का सुपात्रता से व्यय न किया जाए तो उसमें केवल पाप का ही बन्धन होता है।

लक्ष्मीवृद्ध्यार्थं जीवदयाकर्तव्यं—

पाशुपाल्यं श्रियो वृद्ध्यै कुर्वन्नोज्झोद्दयालुताम्।
तत्कृत्येषु स्वयं जाग्रच्छविच्छेदादि वर्जयेत्॥ 48॥

यदि लक्ष्मी की वृद्धि के हेतु गाय-भैंस आदि प्रमुख पशुओं का रक्षण करना पड़े तो भी दया नहीं छोड़नी चाहिए अपितु उस कार्य में स्वयं जागृत रहना चाहिए और पशुओं के अङ्गचिह्नादि का कभी छेदन नहीं करना चाहिए।

अन्न सङ्ग्रहनिर्देशं —

श्रेयो धर्मात्स चार्थेषु सोऽप्यङ्गेन तदन्नतः।
तन्निष्पतौ च सङ्ग्राह्यं कथं दद्यादसङ्ग्रही॥ 49॥

धर्म से कल्याण होता है, द्रव्य से धर्म होता है, शरीर से द्रव्योपार्जन होता है और यह शरीर अन्न से जीवित रहता है। इसलिए अन्न उत्पन्न होते ही उसका संग्रह करना चाहिए। संग्रह नहीं किया हो तो दिया कैसे जाएगा।

सङ्ग्रहेऽर्थोऽपि जायेत प्रस्तावे तस्य विक्रयात्।
उद्धारे नोचितः सोऽपि वैरविग्रहकारणम्॥ 50॥

यदि अन्न का संग्रह किया गया हो तो समय पर बिक्री करने से लाभ भी होता है परन्तु वह उधार नहीं बेचना चाहिए। यदि उधार दिया गया तो वैर और कलह का कारण बनता है।

भाण्डेषुहस्तादि संज्ञाज्ञाननिर्देशं —

सर्वदा सर्वभाण्डेषु नाणकेषु च शिक्षितः।
जानीयात्सर्वभाषाविद्धस्तसञ्ज्ञां वणिग्वरः॥ 51॥

सर्वदा सभी प्रकार के पात्रों के माप-तौल, पदार्थ, रुपया-मुद्रा का तौल-मौल और उनसे सम्बन्धित भाषाओं, हस्त (मीटर) आदि की संज्ञाओं का व्यवहारिक ज्ञान होना चाहिए।

अथाङ्गुलगणितोच्यते —

एकद्वित्रिचतुः सञ्ज्ञास्तर्जन्याद्यङ्गुलिग्रहे।
साङ्गुष्ठानां पुनस्तासां सङ्ग्रहे पञ्च संस्थिताः॥ 52॥

तर्जनी अङ्गुली से लगाकर चार अंगुलियों को ग्रहण करने से क्रमानुसार एक, दो, तीन और चार संज्ञा होती है और अङ्गूठा भी सम्मिलित कर लिए जाने पर पाँच की संज्ञा होती है।

कनिष्ठादितले स्पृष्टे षट् सप्ताष्टौ नव क्रमात्।
तर्जन्यां दश विज्ञेया तदादीनां नखाहतौ॥ 53॥
एकद्वित्रिचतुर्युक्ता दश ज्ञेया यथाक्रमम्।
हस्तस्य तलसंस्पर्शे पुनः पञ्चदश स्मृताः॥ 54॥

कनिष्ठिका अङ्गुली से लेकर चार अङ्गुलियों के तल को स्पर्श करने से अनुक्रम से छह, सात, आठ और नौ की संज्ञा होती है और तर्जनी को स्पर्श करे तो दस की संज्ञा जाननी चाहिए। यदि उन्हीं अङ्गुलियों के नखों को स्पर्श करें तो क्रमानुसार ग्यारह, बारह, तेरह और चौदह को संज्ञा तथा हथेली को स्पर्श करने से पन्द्रह की संज्ञा जाननी चाहिए।

तले कनिष्ठिकादीनां षट्सप्ताष्टनवाधिकाः।
क्रमशो दश विज्ञेया हस्तसञ्ज्ञाविशारदैः॥ 55॥

हस्त संज्ञा के ज्ञान में पण्डित पुरुषों को कनिष्ठादि चार अङ्गुलियों के तल स्पर्श करने से अनुक्रम से सोलह, सत्रह, अठारह और उन्नीस की संज्ञा होती है।

तर्जन्यादौ द्वित्रिचतुःपञ्चग्राहे यथाक्रमम्।
विंशतिस्त्रिंशच्चत्वारि शत्पञ्चाशत्प्रकल्पना॥ 56॥

इसी प्रकार तर्जनी आदि पाँच अंगुलियों में दो, तीन, चार और पाँच का ग्रहण करने से अनुक्रम से बीस, तीस, चालीस और पचास की संज्ञा जाननी चाहिए।

कनिष्ठाद्यङ्गुलितले षष्टिसप्तत्यशीतयः।
नवतिश्च क्रमाज्ज्ञेयास्तर्जन्यर्धग्रहे शतम्॥ 57॥

कनिष्ठादि चार अङ्गुलियों के तल के अनुक्रम से साठ, सत्तर, अस्सी और नब्बे की संज्ञा और आधी तर्जनी ग्रहण करने से सौ की संज्ञा जाननी चाहिए।

सहस्रमयुतं लक्षं प्रयुतं चात्र विश्रुतम्।
मणिबन्धे पुनः कोटिं हस्तसञ्ज्ञाविदो विदुः॥ 58॥

इसके उपरान्त अनुक्रम सै अङ्गुली का आधा भाग ग्रहण करने से हजार, दस

हजार, लाख, दस लाख की संज्ञा होती है और मणिबन्ध को ग्रहण करने से करोड़ की संज्ञा होती है।*

व्यापारव्यवहारं —

क्रयाणकेष्वदृष्टेषु न सत्यङ्कारमर्पयेत्।
दद्याच्च बहुभिः सार्धं वाञ्छेल्लक्ष्मीं वणिग्यदि॥ 59॥

जो कोई व्यापारी लक्ष्मी की इच्छा रखता हो, उसको बिना पदार्थ देखे कभी बाना (अग्रिम) नहीं देना चाहिए और वस्तु को देखने के बाद भी देना भी पड़े तो अन्य व्यापारियों के सामने ही देना चाहिए।

कुर्यात्तत्रार्थसम्बन्धमिच्छेद्यत्र न सौहृदम्।
यदृच्छया न तिष्ठेच्च प्रतिष्ठाभ्रंशभीरुकः॥ 60॥

जहाँ मित्रता करने की इच्छा नहीं हो, वहाँ इस प्रकार से पैसे के लेन-देन का सम्बन्ध रखना चाहिए। अपने अपमान का भय रखकर स्वच्छन्दतापूर्वक कभी ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए।

व्यापारीभिश्च विप्रेश्च सायुधैश्च वणिग्वरः।
श्रियमिच्छन्न कुर्वीत व्यवहारं कदाचन॥ 61॥

जिसे लक्ष्मी की इच्छा हो उस उत्तम वणिक को विप्र व्यापारी के साथ और शस्त्रधारी लोगों के साथ कभी व्यापार-व्यवहार नहीं करना चाहिए।

नटे पण्याङ्गनाया च द्यूतकारे विटे तथा।
दद्यादुद्धारके नैव धनरक्षापरायणः॥ 62॥

जो वणिक् अपना धन सञ्चित करना चाहता हो उसे नट, वेश्या, जुआरी और जार पुरुष को वस्तु उधार नहीं देनी चाहिए।

धर्मबाधाकरं यच्च यच्च स्यादयशस्करम्।
भूरिलाभमपि ग्राह्यं पण्यं पुण्यार्थिभिन तत्॥ 63॥

---

* भोजदेव ने संख्या-स्थानानुसार मान इस प्रकार बताया है कि एक (1), दस (10), शत (100), सहस्र (1000), अयुत (10000), नियुत (100000), प्रयुत (1000000), अर्बुद (10000000), अन्यर्बुद (100000000), वृन्द (1000000000), खर्ब (10000000000), निखर्ब (100000000000), शङ्कु (1000000000000), पद्म (10000000000000), अम्बुराशि (100000000000000) मध्य (1000000000000000), अन्त्य (10000000000000000), पर (100000000000000000), अपर (1000000000000000000) तथा इसी प्रकार परार्ध (10000000000000000000) इन संख्याओं को उत्तरोत्तर दस-दस की वृद्धि से जानना चाहिए। इस प्रकार ये बीस संख्याओं के स्थान बताए गए हैं— एकं दश शतमस्मात् सहस्रमनु चायुतम्। नियुतं प्रयुतं तस्मादर्बुदन्यर्बुदे अपि॥ वृन्दखर्वनिखर्वाणि शङ्कुपद्माम्बुराशयः। ततः स्यान्मध्यमन्त्यं च परं चापरमप्यतः॥ परार्धं चेति विज्ञेयं दशवृद्ध्योत्तरोत्तरम्। सङ्ख्यास्थानानि कथितान्येवमेतानि विंशतिः॥ (समराङ्गणसूत्रधार 9, 47-49)

पुण्यार्थी पुरुषों को धर्म की हानि अथवा अपयश मिलता हो, ऐसा पदार्थ भलेहि कितना ही लाभ क्यों न मिलता हो, तो भी नहीं खरीदना चाहिए।

अन्यदप्याह —

धनं यच्चार्ज्यते किञ्चित्कृटमानतुलादिभिः।
नश्यतत्रैव दृश्येत तप्तपात्रेऽम्बुबिन्दुवत्॥ 64॥

जो लोग खोटे, अमानक बाट और तराजू रखकर थोड़ा-बहुत धन अर्जित करते हैं, उनका वह धन उसी प्रकार नष्टशील होता है जैसे तप्त कड़ाह पर गिरते हुए जलबिन्दु दिखाई नहीं देते हैं।*

तथा चान्यव्यवहारं —

गर्वं न्यासापहारं च वणिक्पुत्रः परित्यजेत्।
अङ्गीकुर्यात्क्षमामेकां भूपतौ दुर्गतेऽपि च॥ 65॥

व्यापारी को सदैव अपने व्यवहार में गर्व का विचार और विश्वासघात का भाव त्याग देना चाहिए। उसे राजा और रङ्क में समान, क्षमा भाव ही धारण करना चाहिए।

स्वच्छस्वभावा विश्वस्ता गुरुनायकबालकाः।
देवा वद्धाश्च न प्राज्ञैर्वञ्चनीयाः कदाचन॥ 66॥

समझदार मनुष्यों को चाहिए कि निर्मल स्वभाव वाले और अपने गुरु,

---

* तुला को बहुत पवित्र माना गया है। इसे मानक ही बनाए रखना चाहिए। चाणक्य ने तुला के सन्तुलित और शुद्ध होने पर जोर दिया है। प्राचीनकाल में महादान के प्रयोजन से राजप्रासादों में तुला-स्थान रखे जाते थे। मत्स्यपुराण के 274वें अध्याय में तुलापुरुषदान का महत्त्वपूर्ण कहा गया है—'आद्यं तु सर्वदानानां तुलापुरुष सञ्ज्ञकम्।' यही मान्यता अग्निपुराण के 210वें अध्याय में है जिसमें सोलह महादान बताए गए हैं। इसी प्रकार बृहत्संहिता के 26वें अध्याय में आषाढ़ी तौल का वर्णन आया है। वराहमिहिर ने तुला को ब्रह्मा की पुत्री होकर भी आदित्या कहा है, वह कश्यप गोत्र की है— ब्रह्मणो दुहितासि त्वमादित्येति प्रकीर्तिता। काश्यपी गोत्रतश्चैव नामतो विश्रुता तुला॥ (बृहत्संहिता 26, 5)

तुला के लक्षण के लिए कहा गया है कि स्वर्ण का तुलादण्ड श्रेष्ठ है, चाँदी का मध्यम और इन दोनों के नहीं मिलने पर खेर की लकड़ी का तुलादण्ड बनाना चाहिए या फिर, जिस बाण से कोई वेधित हुआ हो, उसका तुलादण्ड बनाया जा सकता है। इसमें तुलादण्ड बारह अङ्गुल प्रमाण का हो सकता है— हैमी प्रधाना रजतेन मध्या तयोरलाभे खदिरेण कार्या। विद्ध पुमान् येन शरेण सा वा तुला प्रमाणेन भवेद्वितस्तिः॥ (तत्रैव 9)

मानसोल्लास में तुलाविचार इस प्रकार आया है— कांस्यपात्रद्वयं वृत्तं समानं रूपनामतः। चतुश्छिद्रसमायुक्तं प्रत्येकं रज्जुयन्त्रितम्॥ दण्डः कांस्यमयः श्लक्ष्णो द्वादशाङ्गुलसंमितः। पक्षद्वयमानश्च प्रान्तयोर्मुद्रिकायुतः॥ मध्ये तस्य प्रकर्तव्यः कण्टकः कांस्यनिर्मितः। पञ्चाङ्गुलामतस्तस्य मूले छिद्रं प्रकल्पयेत्॥ निवेश्य छिद्रदेशेऽस्य शलाकाङ्गुलमात्रिका। शलाके प्रान्तयोस्तस्याः कीलयेत् तोरणाकृतिः॥ तोरणस्य शिरोमध्ये कर्त्तव्या लघुकुण्डली। तत्र रज्जुं निषधीयात् तां धृत्वा तोलयेत् सुधीः॥ कलञ्जमानकं द्रव्येनेकदेशे निवेशयेत्। अन्यतो जलबिन्दुस्तु तोलनार्थं विनिक्षिपेत्॥ कण्टके च समे जाते तोरणस्य च मध्यमे। तदा समं विजानीयात् तोलनं मान कोविदः॥ (मानसो. प्रथमभाग, रत्नपरीक्षणं)

नायक, बालक, देवतुल्य और वृद्धजनों को किसी भी समय नहीं ठगना चाहिए।

भाव्यं प्रतिभुवा नैव दाक्षिण्येन च साक्षिणा।
कोशपानादिकं चैव न कर्तव्यं यतस्ततः॥ 67॥

इसी प्रकार बुद्धिमान को किसी के दक्षिणा-उपहार या लोभ से मिथ्या साक्षी नहीं बनना चाहिए। इसी प्रकार जहाँ-तहाँ, बात-बात में शपथ भी नहीं लेनी चाहिए।

तत्र प्रतिवादं —

साध्वर्थे जीवरक्षायै गुरुदेवगृहादिषु।
मिथ्याकृतैरपि नृणां शपथैर्नास्ति पातकम्॥ 68॥

सच्चे साधु-सज्जनों, जीवरक्षा, गुरु और देवगृह इनके लिए यदि कभी मिथ्या शपथ भी ग्रहण करनी पड़े तो पाप नहीं लगता है।

उद्यमवृत्त्याश्रयं —

असम्पत्त्या स्वमात्मानं नैवावगणयेद्बुधः।
किन्तु कुर्याद्यथाशक्ति व्यवसायमुपायवित्॥ 69॥

कभी सुजनों को निर्धन अवस्था में स्वात्मा की निन्दा नहीं करनी चाहिए अर्थात् गरीबी में कभी स्वयं को कोसे नहीं, अपितु उपाय खोजकर अपने यथा सामर्थ्य द्रव्योपार्जन के लिए उद्यम का आश्रय लेना चाहिए।

अग्रणी व्यवसायीलक्षणं —

वृष्टिशीतातपक्षोभ काममोहक्षुधादयः।
न घ्नन्ति यस्य कार्याणि सौऽग्रणीर्व्यवसायिनाम्॥ 70॥

वर्षा, जाड़ा, धूप, क्षोभ (क्रोधादि से चित्त का चाञ्चल्य) काम, मोह, क्षुधा आदि प्रमुख विकार और बाधाएँ जिसके कार्य को कभी प्रभावित नहीं कर सकते, उस पुरुष को श्रेष्ठ व्यवसायी समझना चाहिए।

यो द्यूतधातुवादादि सम्बन्धाद्धनमीहते।
स मषीकूर्चकैर्धाम धवलीकर्तुमिच्छति॥ 71॥

जो कोई व्यक्ति द्यूतक्रीड़ा या किमियागीरी (नकली धातु बनाने की कला) से द्रव्योपार्जन करने की इच्छा रखता है, वह अपने घर पर स्याही पोतकर उसको सफेदपोश देखना चाहता है अर्थात् यह व्यर्थ है।

अन्यायीधनं नोपयोगी इत्यर्थ कथ्यते —

अन्यायिदेवपाखण्डि तद्धनानां धनेन यः।
वृद्धिमिच्छति मुग्धोऽसौ विषमत्ति जिजीविषुः॥ 72॥

जो व्यक्ति अन्यायी, देव, पाखण्डी और कृपण-कंजूस- इनके धन से स्वयं

धनवान बनने की इच्छा करता है, वह पुरुष जीने की इच्छा से जैसे विष भक्षण ही करता है, ऐसा जानना चाहिए।

गोदेवकरणारक्ष तलावर्तकपट्टकाः।
ग्राम्योत्तरश्च न प्रायः सुखाय प्रभवन्त्यमी॥ 73।

गाय, देव और खेत, इनके रखवाले, तलारक्ष, पटेल और ग्रामीण इतने लोग (यदि सङ्कट में आ जाए तो) प्रायः सुख नहीं देते हैं।

अभिगम्यो नृभिर्योग क्षेमसिद्ध्यर्थमात्मनः।
राजादिनायकः कश्चिदिन्दुनेव दिवाकरः॥ 74॥

जिस प्रकार से चन्द्रमा तेजस्विता प्राप्त करने के लिए सूर्य के समीप जाता है, वैसे ही बुद्धिमान पुरुष को अपने कल्याण की कामना से किसी राजा, प्रमुख नायक के पास जाना चाहिए।

निन्दन्तु मानिनः सेवां राजादीनां सुखैषिणः।
स्वजनास्वजनोद्धार संहारौ न तया विना॥ 75॥

सुख की अभिलाषा करने वाले अहङ्कारी पुरुष राजा, प्रमुख की सेवा-चाकरी की भले ही निन्दा करें किन्तु उसके अभाव में स्वजनोद्धार और शत्रु का संहार नहीं होता है।

स्वामीलक्षणं —

अकर्णदुर्बलः शूरः कृतज्ञः सात्विको गुणी।
वदान्यो गुणरागी च प्रभुः पुण्यैरवाप्यते॥ 76॥

जो कान का कच्चा नहीं होता, किए हुए उपकार को मानने वाला, सत्वशाली, गुणी, उदार और गुणानुरागी ऐसा स्वामी तो पुण्यकर्म से ही प्राप्त हो सकता है।

सुतन्त्रः सुपवित्रात्मा सेवकागमनस्पृही।
औचित्यवित्क्षमी दक्षः सलज्जो दुर्लभः प्रभुः॥ 77॥

शास्त्रविधि का सम्यक् ज्ञाता, पवित्रात्मा, सेवक के आगमन की इच्छा करने वाला, उचित कर्तव्य का ज्ञाता, क्षमाशील, दक्ष और लज्जाशील– ऐसा स्वामी मिलना दुर्लभ है।

विद्वानपि परित्याज्यो नेता मूर्खजनावृतः।
मूर्खोऽपि सेव्य एवासौ बहुश्रुतपरिच्छदः॥ 78॥

स्वामी भले ही कैसा ही विद्वान् हो तब भी यदि वह मूर्ख लोगों का परिवार रखता हो, तो उसको त्याग देना ही श्रेयस्कर है। जो स्वामी स्वयं मूढ़ होते हुए भी अपने पास विद्वान् व अनुभवी लोगों को आश्रय दिए हो, वह सेवा के योग्य होता है।

स्वामी सम्भावितैश्वर्यः सेव्यः सेव्यगुणान्वितः।
सुक्षेत्रबीजवत्कालान्तरेऽपि स्यान्न निष्फलः॥ 79॥

जिस व्यक्ति में स्वामी के समस्त गुण विद्यमान हों और जिससे लक्ष्मी की प्राप्ति की सम्भावना हो, ऐसे स्वामी की सेवा करना चाहिए जैसे कि उत्तम खेत में बोये गए बीज की भाँति कालान्तर में भी उसकी सेवा निष्फल नहीं होती है।

अथ मन्त्रिलक्षणं —

स्वाभिभक्तो महोत्साहः कृतज्ञो धार्मिकः शुचिः।
अकर्कशः कुलीनश्च स्मृतिज्ञः सत्यभाषकः॥ 80॥
विनीतः स्थूललक्षश्चा व्यसनो वृद्धसेवकः।
अतन्द्रः सत्वसम्पन्नः प्राज्ञः शूरोऽचिरक्रियः॥ 81॥
राज्ञा परीक्षितः सर्वोपधासु निजदेशजः।
राजार्थस्वार्थलोकार्थकारको निःस्पृहः शमी॥ 82॥
अमोघवचनः कल्पः पालिताशेषदर्शनः।
पात्रौचित्येन सर्वत्र नियोजितपदक्रमः॥ 83॥
आन्वीक्षिकीत्रयीवार्ता दण्डनीतिकृतश्रमः।
क्रमागतो वणिक्पुत्रः सेव्यो मन्त्री न चापरः॥ 84॥

व्यापारी के पुत्र को चाहिए कि वह स्वामीभक्त, अति उत्साही, किए का उपकार मानने वाला, धर्म पर श्रद्धा रखने वाला, पवित्र, कोमल, कुलीन, स्मृतियों-धर्मशास्त्र का जानकार, सत्यवादी, विनय सम्पन्न, उदार, व्यसन से दूर रहने वाला, वृद्ध पुरुषों की सेवा करने वाला, निद्रा-आलस्य रहित, सत्वशाली, बुद्धिशाली, शूरवीर, शीघ्र कार्य करने वाला, भक्ति, निष्काम बुद्धि, धैर्य और ब्रह्मचर्य– इन चार बातों में राजा ने अच्छी तरह से जिसकी परीक्षा ली हो, अपने देश में उत्पन्न होने वाला, राजा के अपने और लोगों द्वारा खड़ी की गई उलझनों में न पड़ते हुए कार्य करने वाला, निरीच्छ, शान्त, कथनानुसार करने वाला, समर्थ, समस्त दर्शनों की रक्षा करने वाला, पात्र की योग्यता देखकर सब जगह पाँव रखने वाला, आन्वीक्षिकी (तर्कशास्त्र), त्रयी वार्ता या लोकपक्ष और दण्डनीति– इन चारों नीतियों के अभ्यासी, वंश परम्परागत ज्ञानवान् को मन्त्री बनाए, अन्य को नहीं।*

---

* वीरमित्रोदय के लक्षणप्रकाश (पृष्ठ 201-204) में मन्त्री के लक्षण आए हैं। महाभारत, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, मत्स्यपुराण, याज्ञवल्क्यस्मृति, शुक्रनीति (द्वितीय अध्याय) आदि में भी मन्त्री के लक्षण मिलते हैं।

सेनापतिलक्षणं —

अभ्यासी वाहने शास्त्रे शस्त्रे च विजयी रणे।
स्वामिभक्तो जितायासः सेव्यः सेनापतिः श्रिये॥ 85॥

सेनापति ऐसे व्यक्ति को बनाना चाहिए जो यान-वाहन, शास्त्र और शस्त्र इन तीनों का अभ्यासी हो, युद्ध में विजय वरण करने वाला, स्वामीभक्त और कितना ही रण-कौशल दिखाना हो तब भी कायरता को नहीं दिखाए—ऐसा सेनापति राजा को अपनी ऋद्धि के लिए नियुक्त करना चाहिए।*

राजधर्मेऽनुजीविवृत्तं लक्षणं —

अवञ्चकः स्थिरः प्राज्ञः प्रियवाग्विक्रमी शुचिः।
अलुब्धः सोद्यमो भक्तः सेवकः सद्भिरिष्यते॥ 86॥

अपने लिए कोई अपेक्षा न रखने वाला, स्थिर स्वभाव वाला, बुद्धिशाली, प्रियभाषी, पराक्रमी, पवित्र हृदय, निर्लोभी, उद्यमी और स्वामीभक्त—ऐसा व्यक्ति सेवक के रूप में उत्तम पुरुषों को मान्य होता है।**

सेवकः सुगुणो नम्रः स्वाम्याहूतो विशेत्सदा।
स्वमार्गेणोचिते स्थाने गत्वा चासीत संवृतः॥ 87॥

गुणवान सेवक को स्वामी पुकारे तब सविनय अपने उचित मार्ग से उनके पास पहुँचे और उचित स्थान पर अङ्गोपाङ्ग ढककर बैठ जाना चाहिए।

आसीनः स्वामिनः पार्श्वे तन्मुखेक्षी कृताञ्जलिः।
स्वभावं चास्य विज्ञाय दक्षः कार्याणि साधयेत्॥ 88॥

अपने स्वामी के पास उचित स्थान पर आसन ग्रहणकर सेवक को, करबद्ध होकर स्वामी के मुँह की ओर देखना चाहिए और उसका स्वभाव जानकर दक्षता से कार्य सम्पादन करना चाहिए।

नात्यासन्नो न दूरस्थो न समोच्चासनस्थितः।
न पुरस्थो न पृष्ठस्थस्तिष्ठेत्स सदसि प्रभोः॥ 89॥

सेवक को कभी स्वामी के निकट, उससे बहुत दूर, बहुत पास, समान या ऊँचे आसन पर, उसके मुँह के सामने या पीछे भी नहीं बैठना चाहिए।

आसन्ने स्यात्प्रभोबीधा दूरस्थेऽप्सप्रगल्भता।
पुरःस्थितेऽन्यकोपोऽपि तस्मिन् पश्चाद्दर्शनम्॥ 90॥

---

* शुक्रनीति में आया है— नीतिशस्त्रास्त्रव्यूहादिनतिविद्याविशारदाः॥ अबाला मध्यवयसः शूरा दान्ता दृढाङ्गकाः। स्वधर्मनिरता नित्यं स्वामिभक्ता रिपुद्विषः॥ शूद्रा वा क्षत्रिया वैश्या म्लेच्छा. सङ्करसम्भवाः। सेनाधिपाः सैनिकाश्च कार्यो राज्ञा जयार्थिना॥ (शुक्र. 2, 138-140)

**मत्स्यपुराण के 216वें अध्याय में सेवकों के लक्षणों का वर्णन 38 श्लोकों में इसी प्रकार आया है।

यदि सेवक अपने स्वामी के बहुत पास बैठे तो स्वामी को कष्ट होता है, बहुत दूर बैठे तो ध्यान नहीं पहुँचता, सामने खड़ा रहे तो दूसरे लोगों को क्रोध होता है और पीछे बैठे तो दिखाई नहीं देता है।

प्रभुप्रिये प्रियत्वं च तद्वैरिणि च वैरिता।
तस्यैवाव्यभिचारेण नित्यं वर्तेत सेवकः॥ 91॥

भृत्य को चाहिए कि अपने स्वामी को जो मनुष्य प्रिय हो उससे प्रीति रखे, अपने स्वामी का जो शत्रु हो उससे शत्रुता का बर्ताव करें– इस नियम में कोई अन्तर नहीं आए, ऐसा व्यवहार करना चाहिए।

प्रासादात्स्वामिना दत्तं वस्त्रालङ्करणादिकम्।
प्रीत्या धार्यं स्वयं देयं नान्यस्मै च तदग्रतः॥ 92॥

सेवक को सदैव स्वामी द्वारा खुश होकर प्रदान किए गए वस्त्रालङ्कार ही प्रमुखता और प्रेमपूर्वक धारण करने चाहिए और वे परिधान, गहने आदि स्वामी के देखते हुए अन्य किसी को नहीं देने चाहिए।

स्वामिनोऽभ्यधिको वेषः समानो वा न युज्यते।
स्रस्तं वस्त्रं क्षुतं जृम्भां नेक्षेतास्य स्त्रियं तथा॥ 93॥

यह सेवक का कर्त्तव्य है कि वह कभी अपने स्वामी से अधिक उत्तम और उसके जैसे ही परिधान धारण नहीं करे। यदि स्वामी के वस्त्रादि अपने स्थान से खिसक गए हों अथवा वह छींक लेता हो या जम्हाई खाता हो तो उसकी ओर नहीं देखना चाहिए। उसकी स्त्री की ओर भी नहीं देखना चाहिए।

विजृम्भणक्षुतोद्गार हास्यादीन्यिहिताननः।
कुर्यात्सभासु नो नासा शोधनं हस्तमोटनम्॥ 94॥

सेवक को भरी सभा में जम्हाई, छींक, डकार और हास्य जैसी क्रियाएँ सदा मुँह ढककर करनी चाहिए। कभी सबके सामने अपनी नाक नहीं खुजलाना चाहिए। हाथ की अङ्गुलियाँ भी नहीं मोड़नी (कड़िके करना, अङ्गुलीभङ्ग) चाहिए।

कुर्यात्पर्यस्तिकां नैव न च पादप्रसारणम्।
न निद्रां विकथां नाऽपि सभायां कुक्रियां न च॥ 95॥

सेवक को कभी भरी सभा में पैर नहीं चढ़ाना चाहिए। कभी पाँव नहीं फैलाने चाहिए। न निद्रा न विकथा की क्रिया हों। सभा में कुचेष्टा को वर्जित जाने।

श्रोतव्या सावधानेन स्वामिवागनुजीविना।
भाषितः स्वामिना जल्पेन्न चैकवचनादिभिः॥ 96॥

सेवक को सदा ही स्वामी की आज्ञा पर्याप्त सावधान होकर सुननी चाहिए

और उपरान्त प्रत्युत्तर देते समय स्वामी को तुच्छ वचन नहीं कहना चाहिए।

आज्ञालाभादयः सर्वे यस्मिंल्लोँकोत्तरा गुणाः।
स्वामिनं नावजानीयात्सेवकस्तं कदाचन॥ 97॥

जिस स्वामी में उचित आज्ञा कथन और लाभ सहित प्रमुख सर्व लोकोत्तर गुण विद्यमान् हों, उस स्वामी की सेवक को कभी भी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए।

एकान्ते मधुरैर्वाक्यैः सान्त्वयन्नहितात्प्रभुम्।
वारयेदन्यथा हि स्यादेष स्वयमुपोक्षितः॥ 98॥

यदि कभी अवसर देखें तो सेवक को चाहिए कि स्वामी को एकान्त में ले जाकर मधुर वचनों से शान्त कर अनुचित कार्य-व्यवहार से रोकें। ऐसा नहीं करने से सेवक को स्वामी की उपेक्षा करने का दोष लगता है।

मौनं कुर्याद्यदा स्वामी युक्तमप्यवमन्यते।
प्रभोरग्रे न कुर्याच्च वैरिणां गुणकीर्तनम्॥ 99॥

जब स्वामी किसी योग्य बात पर भी धिक्कारता, फटकारता हो, तब सेवक को मौन धारणकर बैठना चाहिए। कभी उसके सामने उसके शत्रु का गुणगान नहीं करे।

प्रभोः प्रसादे प्राज्येऽपि प्रकृतीनैंव कोपयेत्।
व्यापारितश्च कार्येषु याचेताध्यक्षपौरुषम्॥ 100॥

सेवक का कर्तव्य है कि यदि उस पर उसके स्वामी का अतिशय अनुग्रह हो तो भी प्रकृति (राज्य के सप्ताङ्गों) को प्रभावित नहीं करना चाहिए। किसी कार्य करने के लिए स्वामी ने प्रेरणा दी हो तो अपने से ऊपर के बल की अपेक्षा करनी चाहिए।

कोपप्रसादजैश्चिह्नैरुक्तिभिः सञ्ज्ञयाथवा।
अनुरक्तं विरक्तं वा जानीयाच्च प्रभोर्मनः॥ 101॥

सेवक सदैव स्वामी के कोप और प्रसन्नता प्रदर्शक चिह्नों से, वचन-व्यवहार अथवा दूसरी किसी संज्ञा से उसका मन प्रसन्न है या नहीं– यह ज्ञात करना चाहिए।

प्रसन्नप्रभुलक्षणं —

हर्षो दृष्टे धृतिः पार्श्वे स्थिते वासनदापनम्।
स्निग्धोक्तिरुक्तकारित्वं प्रसन्नप्रभुलक्षणम्॥ 102॥

सेवक को देखते ही मुदित मन हो, पास रखे, खड़ा हो तो आसन के लिए कहे, सस्नेह वचन बोले, कहा हुआ कार्य करे– ये सब प्रसन्न स्वामी के लक्षण हैं।

इत्यमनन्तर विरक्त स्वामीलक्षणं —

आपद्युपेक्षानालापो मानहानिरदर्शनम्।
दोषोक्तिरप्रदानं च विरक्तप्रभुलक्षणम्॥ 103॥

सङ्कटकाल पर उपेक्षा करे, सम्भाषण नहीं करे, मान हानि करे, मुँह नहीं दिखाए, दोष निकालता हो और कुछ नहीं दे– ये अप्रसन्न स्वामी के लक्षण हैं।

दोषेणैकेन न त्याज्यः सेवकः सुगुणोऽधिपैः।
धूमदोषभयाद्वह्निः किमु केनाप्यपास्यते॥ 104॥

स्वामी को चाहिए कि केवल एक ही दोष देखकर कभी अपने गुणवान् सेवक का त्याग नहीं करे। कभी धूएँ के दोष से अग्नि का कौन त्याग करता है।

अथोद्यम प्रशंसामाह —

बलादविचलः श्लाघ्यो धनात्पुरुषसङ्ग्रहः।
असदप्यर्ज्यते वित्तं पुरुषैर्व्यवसायिभिः॥ 105॥

सेवक-प्रमुख जिसमें बलाधिक्य हो और जो किसी से विचलित नहीं हो सके, ऐसा मनुष्य प्रशंसनीय है। बली पुरुषों का संग्रह द्रव्य होता है और वह द्रव्य यदि पूर्व में न भी हो तो व्यवसायी पुरुष उद्यम से उपार्जित कर सकते हैं। आशय है कि उद्यम से धन मिलता है, धन से योग्य सेवक रखे जा सकते हैं और योग्य व्यक्तियों का बल हो तो उसे कोई विचलित नहीं कर सकता और ऐसा पुरुष ही जग में स्तुति-पात्र है।

अनल्पैः किमहो जल्पैर्व्यवसायः श्रियो मुखम्।
अर्ज्या श्रीः सा च या वृद्धौ दानभोगकरी च या॥ 106॥

इस प्रसङ्ग में अधिक क्या कहें? व्यवसाय ही लक्ष्मी के आगमन का द्वार है। इसलिए जिस लक्ष्मी से द्रव्य की वृद्धि, दान और भोग– ये तीनों चीजें सम्भव है, उस उद्यम-लक्ष्मी का अवश्य उपार्जन करना चाहिए।

लाभानुसारेणभोगादीनां भागं —

व्यवसाये निधौ धर्म भोगयोः पोष्यपोषणे।
चतुरश्चतुरो भागानायस्यैवं नियोजयेत्॥ 107॥

उद्यम-व्यवसाय करते हुए जो लाभ लब्ध हो चतुर पुरुष को उसके चार भाग करने चाहिए। इसमें से एक भण्डार में रखना चाहिए; दूसरा धर्म-कर्म में लगाएँ; तीसरा भोगार्थ रखे और चतुर्थ भाग को कुटुम्ब के पोषण में लगाना चाहिए।

न लालयति यो लक्ष्मीं शास्त्रीयविधिनामुना।
सव्यर्थैव स निःशेष पुरुषार्थबहिष्कृतः॥ 108॥

जो व्यक्ति शास्त्र के अनुसार कथित विधि से लक्ष्मी का लाड़ नहीं लड़ाता है,

उस व्यक्ति को चारों ही पुरुषार्थों (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) से बहिष्कृत अर्थात् पुरुषार्थ विहीन समझना चाहिए।

सा च सञ्जायते लक्ष्मी रक्षीणा व्यवसायतः।
प्रावृषेण्यपयोवाहादिव काननकाम्यता॥ 109॥

जिस प्रकार से वर्षाकाल के मेघ से वनारण्य की शोभा अति बढ़ जाती है, उसी प्रकार उद्यम-व्यवहार करने से लक्ष्मी की पर्याप्त अभिवृद्धि होती है।

पुण्यपुरुषार्थ प्रशंसामाह —

व्यवसायोऽप्यसौ पुण्य नैपुण्यसचिवो भवेत्।
सफलः सर्वदा पुंसां वारिसेकादिव द्रुमः॥ 110॥

जिस प्रकार से जल सींचने से कोई वृक्ष फलवान होता है, वैसे ही पूर्वजन्म के पुण्यों और पुरुषार्थ या मनुष्य की निपुणता के साहचर्य से व्यवसाय सफल होता है।

पुण्यमेव मुहुः केऽपि प्रमाणीकुर्वतेऽलसाः।
निरीक्ष्य तद्वतां द्वारि ताम्यतो व्यवसायिनः॥ 111॥

लोक में प्रायः यह देखने में आता है कि कितने ही प्रमादी लोग पुण्यात्माओं के घर पर भटकते हुए व्यापारियों को देखकर नित्य ही पुण्य का आधार, आश्रय ग्रहण करते हैं।

तदयुक्तं यतः पुण्यमपि निर्व्यवसायकम्।
सर्वथा फलवन्नात्र कदाचिदवलोक्यते॥ 112॥

यह मत अयुक्त है क्योंकि पुण्य भी सर्वथा उद्यम के अभाव में सफल हुआ इस लोक में किसी भी काल में दिखाई नहीं देता है।

द्वावप्येतौ ततो लक्ष्म्या हेतु नतु पृथक्पृथक्।
तेन कार्यो गृहस्थेन व्यवसायोऽनुवासरम्॥ 113॥

पूर्वजन्म में अर्जित पुण्य और अपना पुरुषार्थ दोनों ही लक्ष्मी प्राप्ति के कारक हैं किन्तु इनमें एक के अभाव में दूसरा स्वतन्त्रतः लक्ष्मी का कारण नहीं हो सकता है। ऐसे में गृहस्थजन को नित्यप्रति उद्यम में संलग्न रहना चाहिए।

उद्यमवृक्षस्य फलं —

कालेऽन्नमुचितं वस्त्रममलं सदनं निजम्।
अर्थोऽर्थ्याप्यायकश्चैत द्व्यवसायतरोः फलम्॥ 114॥

सदैव ही अवसर पर उचित भोजन करना, अवसरोचित वस्त्र पहनना, अपना

गृह परिशुद्ध रखना और याचकों को सन्तुष्टिप्रद द्रव्य देना—ये उद्यम रूप वृक्ष के फल जानने चाहिए।

उल्लासोपसंहरति —

इत्थं किल द्वितीयतृतीयप्रहरार्धकृत्यमखिलमपि।
हृदि कुर्वन्तः सन्तः कृत्यविधौ नात्र मुह्यन्ति॥ 115॥

इस प्रकार यहाँ सम्पूर्ण दूसरे प्रहर और तीसरे अर्द्ध प्रहर के समग्र कृत्यों का वर्णन किया गया है। जो सत्पुरुष इन सत्कृत्यों को हृदय में धारण करते हैं वे करणीय कृत्यों में कभी किंकर्त्तव्यविमूढ़ नहीं होते हैं।

इति श्रीजिनदत्तसूरि विरचिते विवेकविलासे दिनचर्यायां द्वितीयोल्लासः॥ 2॥

इस प्रकार श्री जिनदत्त सूरि विरचित 'विवेकविलास' में दिनचर्या का द्वितीय उल्लास पूरा हुआ।

अथ धर्मकृत्याहारव्याधिघटिकादीनां वर्णनं नाम तृतीयोल्लासः ॥ 3 ॥

अथागमनोपरान्तमुपविश्यादि निर्देशं —

बहिःस्थोऽभ्यागतो गेहमुपविश्य क्षणं सुधीः।
कुर्याद्वस्त्रपरावर्तं देहशौचादि कर्म च॥ 1॥

सुधीर पुरुष को कहीं से आकर अपने घर में क्षणभर बैठना चाहिए। इसके बाद ही वस्त्रादि परिवर्तन कर काया की शुद्धि के लिए स्नानदि कर्म करने चाहिए।

जीवप्रभेदमाह —

स्थूलसूक्ष्मविभागेन जीवाः संसारिणो द्विधा।
मनोवाक्काययोगैस्तान् गृही हन्ति निरन्तरम्॥ 2॥

संसार में दो प्रकार के जीव कहे गए हैं– स्थूल और सूक्ष्म। गृहस्थ मनुष्य सदैव ही मन, वचन और काया के योग से उनका हनन करते हैं।

धर्मबाधकवस्तुनामाह —

पेषणी कण्डनी चुल्ली गर्गरी वर्धनी तथा।
अमी पापकराः पञ्च गृहिणी धर्मबाधकाः॥ 3॥

घर में चक्की, ऊखल, चूल्हा, गागर और मार्जनी या झाड़ू– इन पाँच वस्तुओं से पापोत्पादन (भी) होता है अर्थात् ये धर्म के कार्य में बाधक हैं।

गदितोस्ति गृहस्थस्य तत्पातकविघातकः।
धर्मः सविस्तरो बुद्धैरश्नान्तं तं समाचरेत्॥ 4॥

इन पातकों का नाशकर्ता केवलमेव धर्म ही है। ज्ञानी लोगों ने बहुत विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया है। सत्पुरुषों को उक्त धर्म का निरन्तर समाचरण करना चाहिए।

दशलक्षणात्मकधर्मं —

दया दानं दमो देवपूजा भक्तिगुरौ क्षमा।
सत्यं शौचं तपोऽस्तेयं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम्॥ 5॥

दया, दान, इन्द्रियदमन, देव पूजा, गुरु भक्ति, क्षमा, सत्य, पवित्रता, तपस्या और चोरी न करना– ये दस प्रकार के गृहस्थों के धर्म कहे गए हैं।*

अनन्यजन्यं सौजन्यं निर्माया मधुरा गिरः।
सारः परोपकारश्च क्रमो धर्मविदामयम्॥ 6॥

अपने हृदय में सर्वोत्तम सज्जनता धारण करना, कपट रहित मीठे वचन कहना, और सारभूत परोपकार करना– यही धर्म के जानने वाले पुरुषों की रीति कही है।

पापनाशोपायमाह —

दीनोद्धरणमद्रोहो विनयेन्द्रियसंयमौ।
न्याय्या वृत्तिर्मृदुत्वं च धर्मोऽयं पीप्मनीच्छेद॥ 7॥

इसी प्रकार असहाय-दीनजनों का उद्धार करना, किसी के साथ मत्सराचरण न करना, विनय रखना, इन्द्रियों को वश रखना, न्याय के मार्ग से चलना और कोमलता रखना– इस धर्म से पापका नाश होता है।

कृत्वा माध्याह्निकी पूजां निवेश्यान्नादि भाजने।
नरः स्वगुरुदेवेभ्योऽन्यदेवेभ्यश्च ढौकयेत्॥ 8॥

व्यक्ति को मध्याह्न काल की पूजा करकेकिसी पात्र में अन्नादि रखकर घर में और गुरु, मन्दिर में प्रतिष्ठापित प्रतिमा के सम्मुख नैवेद्य निवेदित करना, नमन करना चाहिए।

तथा चातिथि सत्कारं —

अनाहूतमविज्ञातं दानकालसमागतम्।
जानीयादतिथिं प्राज्ञ एतस्माद्व्यत्यये परम्॥ 9॥

बिना निमन्त्रित किए ही दान-अवसर पर जो अनजान व्यक्ति आकर खड़े हो जाएँ, सुज्ञ पुरुष को उनको अतिथि जानना चाहिए और यदि परिचित हो तो पाहुना, मेहमान होंगे।

अतिथीनर्थिनो दुःस्थान् भक्तिशक्त्यनुकम्पैनः।
कृत्वा कृतार्थानौचित्याद्भोक्तुं युक्तं महात्मनाम्॥ 10॥

महात्मा पुरुषों को व अतिथियों को भक्तिपूर्वक, याचक को शक्त्यानुसार और असहाय को दया से देश-काल के अनुसार दान देकर फिर स्वयं भोजन करना चाहिए।

---

* मनु ने दशलक्षणात्मक धर्म इस प्रकार बताया है— धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ (मनुस्मृति 6, 92)

आर्तस्तृष्णाक्षुधाभ्यां यो वित्रस्तो वा स्वमन्दिरम्।
आगतः सोऽतिथिः पूज्यो विशेषेण मनीषिणा॥ 11॥

सुज्ञ पुरुष को चाहिए कि तृष्णा और क्षुधा से पीड़ित और भयग्रस्त होकर अपने द्वार पर आए लोगों को अतिथि तुल्य जानकर उनका विशेष सम्मान-सत्कार करे।

कोविदो वाथवा मूर्खो मित्रं वा यदि वा रिपुः।
निदानं स्वर्गभोगानामशनावसरेऽतिथिः॥ 12॥

पण्डित या मूर्ख, मित्र या शत्रु चाहे कोई हों, तो भी वे यदि भोजन के अवसर अतिथि होकर आ जाएँ तो वे स्वर्ग का भोग देने वाले हैं, ऐसा स्वीकारना चाहिए।

न प्रश्नो जन्मनः कार्यो न गोत्राचारयोरपि।
नाऽपि श्रुतसमृद्धीनां सर्वधर्ममयोऽतिथिः॥ 13॥

अपने द्वार पर जो भी अतिथि बनकर आया हो उससे उसके जन्म, कार्य, गोत्र और आचारादि का प्रश्न नहीं करना चाहिए। ऐसे ही उसके ज्ञान की भी पूछताछ नहीं करनी चाहिए। अतिथि रूप से आया हुआ सर्वधर्ममय होता है।

तिथि-पर्व-हर्ष-शोकास्त्यक्ता येन महात्मना।
धीभद्भिः सोऽतिथिर्ज्ञेयः परः प्राघूर्णिका मतः॥ 14॥

सामान्यतया जिस महापुरुष ने तिथि, पर्व, हर्ष, शोकादि संसार के कर्म छोड़ दिए हों, उसको पण्डित पुरुषों को अतिथि जानना चाहिए और इससे कोई अन्य हो तो उसे पाहुना जानना चाहिए।

मन्दिराद्विमुखो यस्य गच्छत्यतिथिपुङ्गवः।
जायते महती तस्य पुण्यहानिर्मनस्विनः॥ 15॥

यदि कभी अतिथि अपने द्वार से निराश होकर लौट जाता है, तो मनुष्य चाहे जितना जानकार हो तो भी उसके पुण्य की बड़ी हानि होती है।

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति॥ 16॥*

जिसके घर से अतिथि आशा भङ्ग होने के कारण लौट जाता है, वह अतिथि उस गृहपति को पाप देकर उसका पुण्य हर ले जाता है।

दान माहात्म्यं —

---

* वैष्णवधर्मशास्त्र में यह श्लोक इस प्रकार आया है— अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते। तस्मात् सुकृतमादाय दुष्कृतं तु प्रयच्छति॥ (विष्णुस्मृति 67, 33)

एकतः कुरुते वाञ्छां वासवः कीटिकान्यतः।
आहारस्य ततो दक्षैर्दानं देयं शुभार्थिभिः॥ 17॥

एक ओर जहाँ इन्द्र जैसा देवराज आहारापेक्षा करता है वहीं एक कीट भी आहार की बाञ्छा करता है। इसलिए शुभार्थी दक्षपुरुष को चाहिए कि वह अवश्य दानाचरण करें।

क्षुधापीडितमफलं —

क्षुधाक्लीबस्य जीवस्य पञ्च नश्यन्त्यसंशयम्।
सुवासनेन्द्रियबलं धर्मकृत्यं रतिः स्मृति॥ 18॥

जो व्यक्ति क्षुधा से पीड़ित हो उसकी उत्तम वासना, इन्द्रियों का बल, धर्म का कृत्य, चित्त की समाधि या एकाग्रता और स्मृति– इन पाँचों चीजों का नाश होता है।

अन्यदप्याह —

देवसाधुपुर स्वामिस्वजनव्यसनादिषु।
ग्रहणे च न भोक्तव्यं सत्यां शक्तौ विवेकिना॥ 19॥

विवेकी व्यक्ति को देवता, साधु, पुर स्वामी या नगर अध्यक्ष और अपने स्वजन इनमें से किसी पर भी संकट आ पड़े अथवा सूर्य-चन्द्र ग्रहण होता हो तो भोजन नहीं करना चाहिए।

पितुर्मातुः शिशूनां च गर्भिणीवृद्धरोगिणाम्।
प्रथमं भोजनं दत्वा स्वयं भोक्तव्यमुत्तमैः॥ 20॥*

उत्तम पुरुषों को पिता, माता, बालक, गर्भवती स्त्री, वृद्ध मनुष्य और रोगी– इन सबको पहले भोजन देकर बाद में स्वयं भोजन करना चाहिए।

चतुष्पदानां सर्वेषां धृतानां च तथा नृणाम्।
चिन्तां विधायं धर्मज्ञः स्वयं भुञ्जीत नान्यथा॥ 21॥

धर्म के जानने वाले मनुष्य को अपने समस्त पशुओं की और अपने अधीनस्थ मनुष्यों की सुध लेने के बाद ही भोजन करना चाहिए।

अग्नावुदीर्णे जातायां बुभुक्षायां च भोजनम्।
आयुर्बलं च वर्णं च संवर्धयति देहिनाम्॥ 22॥

जब जठराग्नि प्रदीप्त हो और खाने की इच्छा हो तभी भोजन करने से मनुष्य का आयुष्य, बल और शरीर की क़ान्ति बढ़ती है।

---

* याज्ञवल्क्यस्मृति में आया है कि बालकों, विवाहित कन्या, रोगी, गर्भीणी, आतुर, कन्या, अतिथि, सेवक को भोजन करवाने के बाद ही स्वयं भोजन करना चाहिए—बालं सुवासिनीवृद्ध-गर्भिण्यातुरकन्यकाः। सम्भोज्यातिथिभृत्यांश्च दम्पत्योः शेषभोजनम्॥ (याज्ञवल्क्य. 1, 105)

अजीर्णेजायते त्रिदोषं —

अजीर्णे पुनराहारे गृह्यमाणः प्रकोपयेत्।
वातं पित्तं तथा श्लेष्म दोषमाशु शरीरिणाम्॥ 23॥

यदि अजीर्ण हो गया हो और पुनः आहार कर लिया जाए तो व्यक्ति को वात, पित्त, और कफ– इन तीनों दोषों का प्रकोप हो जाता है।

रोगोत्पतिः किलाजीर्णाच्चतुर्धा तत्पुनः स्मृतम्।
रसशेषामविष्टब्ध विपकक्कादिविभेदतः॥ 24॥

जो खाया हुआ हो यदि वह पचता नहीं हो तो वह अजीर्ण कहलाता है। सब रोगों की उत्पत्ति अजीर्ण से होती है। वह अजीर्ण रस-शेष, आम, विष्टब्ध और विपक्व– ऐसे चार प्रकार का होता है और दूसरे भी अजीर्ण के प्रकार कहे हैं।

दोषस्य भेदलक्षणं —

रसशेषे भवेज्जृम्भा समुद्गारस्तथामके।
अङ्गभङ्गश्च विष्टब्धे धूमोद्गारो विपक्वतः॥ 25॥

यदि रसशेष अजीर्ण हो तो व्यक्ति को जम्हाइयाँ आती हैं, आम अजीर्ण हुआ हो तो डकारें आती हैं, विष्टब्ध अजीर्ण हुआ हो तो शरीर टूटता है और विपक्व अजीर्ण हो तो धूम्र बाहर गिरता हो, ऐसा प्रतीत होकर डकार आते हैं।

तस्योपचारमाह —

निद्रानुवमनस्वेद जलपानादिकर्मभिः।
सदा पथ्यविदां तानि शान्तिमायान्त्यनुक्रमात्॥ 26॥

यदि रसशेष अजीर्ण के लक्षण हो तो (भोजन पूर्व) सो रहना चाहिए। आम अजीर्ण हो तो वमन करे; विष्टब्ध अजीर्ण हो तो पसीना करे और विपक्व अजीर्ण के लक्षण हो तो जलपान करना चाहिए। इन पथ्योचार के जानकार मनुष्य उक्त चारों प्रकार के अजीर्णों का इन उपायों से क्रमशः निदानोपचार पाते हैं।

अन्यदप्याह —

स्वस्थानस्थेषु दोषेषु जीर्णेऽभ्यवहृते पुनः।
स्यातां स्पष्टौ शकृन्मूत्र वेगौ वातानुलोम्यतः॥ 27॥

देह में विद्यमान कफ, वात और पित्त– ये तीनों दोष यदि अपने-अपने स्थान पर हों तो, और खाया हुआ पाचन हो, तब शरीरस्थ वायु अनुलोम (सीधी गति वाला) होने से मल-मूत्र अपने स्वाभाविक वेग से होते हैं।

स्त्रोतोमुखहृदुद्गारा विशुद्धाः स्युः क्षणात्तथा।
पटुत्वलाघवे स्यातां तथेन्द्रियशरीरयोः॥ 28॥

यदि अजीर्णादि विकार न हो तो मल-मूत्र त्याग करने के बाद क्षणभर में नासिका आदि शरीर के छिद्र और हृदय शुद्ध होता है। डकार दुर्गंध रहित और बिना रस के शुद्ध आते हैं और शरीर व इन्द्रियाँ हल्की व अपना स्वाभाविक कार्य करने में तत्पर होती हैं।

भोजनविधिं —

अतिप्रातश्च सन्ध्यायां रात्रौ कुत्सन्नथ व्रजन्।
सव्याङ्घ्रौ दत्तपाणिश्च नाद्यात्पाणिस्थितं तथा॥ 29॥

सुबह का समय हो तो बहुत शीघ्र, सन्ध्याकाल को, रात्रि को, अन्न की निन्दा करते, रास्ते जाते, वाम पाँव पर हाथ रखकर और खाने की वस्तु वाम हाथ में लेकर भोजन नहीं करना चाहिए।

साकाशे सातपे सान्धकारे द्रुमतलेऽपि च।
कदाचिदपि नाश्नीया दूर्ध्वीकृत्य च तर्जनीम्॥ 30॥

कभी मुक्ताकाश स्थल में, धूप में, अन्धेरे में, वृक्ष के नीचे और तर्जनी अङ्गुली ऊँची करके भोजन नहीं करना चाहिए, यह दोष है।*

अधौतमुखहस्तांघ्रिर्नग्नश्च मलिनांशुकः।
सव्येन हस्तेनोपात्तस्थालो भुञ्जीत न क्वचित्॥ 31॥

कभी मुँह, हाथ और पाँव धोये बिना, नग्नावस्था में, गन्दे वस्त्र पहनकर और वाम हाथ से थाली पकड़कर भोजन नहीं करना चाहिए, यह अनुचित है।

एकवस्त्रान्वितश्चार्द्र वासा वेष्टितमस्तकः।
अपवित्रोऽतिगार्द्धश्च न भुञ्जीत विचक्षणः॥ 32॥

ज्ञानी पुरुष को कभी एक वस्त्र पहनकर अथवा भीगा वस्त्र धारणकर, वस्त्र से सिर लपेट कर, देह के अपवित्र होते हुए और खाने की वस्तु पर बहुत ही लालच रखते भोजन नहीं करना चाहिए।**

उपानत्सहितो व्यग्रचित्तः केवलभूस्थितः।
पर्यङ्कस्थो विदिग्याम्याननो नाद्यात्कृशासनः॥ 33॥

---

* कूर्मपुराण में कहा गया है कि न अन्धकार में, न आकाश के नीचे और न देवस्थान में ही भोजन करे। एक वस्त्र पहनकर, सवारी या शय्या पर बैठकर, बिना जूते उतारे और हँसते हुए तथा रोते हुए भी भोजन नहीं करना चाहिए—नान्धकारे न चाकाशे न च देवालयादिषु॥ नैकवस्त्रस्तु भुञ्जीत न यानशयनस्थितः। न पादुकानिर्गतोऽथ न हसन् विलपन्नपि॥ (कूर्म. उपरिभाग 19, 22-23)

** मार्कण्डेयपुराण में आया है कि बिना नहाये, बिना बैठे, अन्यमनस्य होकर, शय्या पर बैठकर या लेटकर, केवल पृथ्वी पर बैठकर, बोलते हुए, एक वस्त्र पहनकर तथा भोजन की ओर देखने वाले मनुष्य को न देकर कदापि भोजन नहीं करें— नास्नातो नैव संविष्टो न चैवान्यमना नरः॥ न चैव शयने नोर्व्यामुपविष्टो न शब्दकृत्। न चैकवस्त्रो न वदन् प्रेक्षतामप्रदाय च॥ (मार्कण्डेय. 34, 59-60)

जूते पहने हुए, चञ्चल चित्त, केवल भूमि पर बैठकर, पलंग पर बैठकर, आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्य, ईशान– इन चारों विदिशाओं और दक्षिण दिशा की ओर मुँह रखकर अथवा गन्दे बर्तन में कभी भोजन नहीं करना चाहिए।

वर्जिताहारविचारं —

आसनस्थपदो नाद्याच्चण्डालैश्च निरीक्षितः।
पतितैश्च तथा भिन्ने भाजने मलिनेऽपि च॥ 34॥

इसी प्रकार कभी आसन पर पाँव देकर, चाण्डाल और धर्मभ्रष्ट पुरुषों के देखते हुए और खण्डित अथवा मलीन बर्तन में आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए।

अमेध्यसम्भवं नाद्या दृष्टं भ्रूणादिघातकैः।
रजस्वलापरिस्पृष्टमाघ्रातं गोश्वपक्षिभिः॥ 35॥

अपवित्र वस्तु से तैयार चीज नहीं खानी चाहिए। गर्भ, स्त्री, बालक इत्यादि की हत्या करने वाले द्वारा देखा हुआ, रजस्वला स्त्री का स्पर्श किया हुआ, गाय, कुत्ते और पक्षियों का सूँघा हुआ भोजन भक्षण नहीं करना चाहिए।*

अज्ञातागममज्ञातं पुनरुष्णीकृतं तथा।
युक्तं चबचबचाशब्दैर्नाद्याद्वक्त्रविकारवान्॥ 36॥

आहार किया जाने वाला अन्न कहाँ से आया हुआ है? ऐसा जाने बिना और जिसका नाम भी नहीं जानते हों और दो बार गर्म किया हुआ अन्न कभी नहीं खाना चाहिए। ऐसे ही भोजन करते समय 'चब-चब' शब्द नहीं करना चाहिए। मुँह टेढ़ाकर अथवा किसी तरह चेहरा वक्र दीखे, ऐसा भोजन के समय नहीं करना चाहिए।

भोजनकाले स्वजनानिमन्त्रिते —

आह्वानोत्पादितप्रीतिः कृतदेवभिधास्मृतिः।
समे पृथौ च नात्युच्चे निविष्टो विष्टरे स्थिरे॥ 37॥
मातृष्वस्त्रम्बिकाजामिभार्याद्यैः पक्वमादरात्।
शुचिभिर्भुक्तवद्भिश्च दत्तमद्याज्जनैः सह॥ 38॥

सुविज्ञ व्यक्ति को चाहिए कि अपने पास में रहते हुए लोगों को बुलाकर, प्रीति उत्पादित करके, भगवन्नाम स्मरणकर और इकसार, गहरा और अधिक ऊँचा नहीं हो ऐसे आसन पर बैठकर मौसी, माता, बहिन या अपनी स्त्री के हाथों तैयार किया गया और पवित्र तथा खाकर तृप्त हुए लोगों का परोसा हुआ अन्न अपने भाई

---

* उक्त दोनों श्लोक याज्ञवल्क्यस्मृति के मत से तुलनीय है— शुक्तं पर्युषितोच्छिष्टं श्वस्पृष्टं पतितेक्षितम्॥ उदक्यास्पृष्टसङ्घुष्टं पर्यायान्नञ्च वर्जयेत्॥ गोघ्नातं शकुनोच्छिष्टं पदा स्पृष्टञ्च कामतः॥ (याज्ञवल्क्य. 1, 166-167 तुलनीय गरुडपुराण आचार. 96, 64)

के साथ बैठकर खाना चाहिए।

कुक्षिभरिर्न कः कोऽत्र वह्वाधारः पुमान् पुमान्।
ततस्तत्कालमायातान् भोजयेद्बान्धवादिकान्॥ 39॥

इस संसार में अपनी उदरपूर्ति कौन नहीं करता? इसलिए जो बहुत लोगों का आधारभूत हो वही पुरुष कहलाता है। इससे भोजन के अवसर पर आए हुए अपने सगे सम्बन्धियों को और दूसरे लोगों को भी अवश्य भोजन पर न्यौतना चाहिए।

दत्वा दानं सुपात्राय स्मृत्वा वा श्रद्धयान्वितम्।
येऽश्नन्ति ते नरा धन्याः किमाद्यूनैर्नराधमैः॥ 40॥

जो व्यक्ति सुपात्र को दान देकर अथवा सुपात्र का संयोग नहीं हो तो श्रद्धा से, भावनापूर्वक भोजन करता है, वह धन्य है। अन्यत्र अपना ही पेट भरने वाले अधमाधमों के हाथों से क्या कोई उत्तम कार्य होगा, यह विचार करना चाहिए।

ज्ञानयुक्तः क्रियाधारः सुपात्रमभिधीयते।
दत्तं बहुफलं तत्र धेनुक्षेत्रनिदर्शनात्॥ 41॥

ज्ञानी और क्रियापात्र साधु हो तो वह सुपात्र कहा जाता है। जिस प्रकार अल्पावधि की प्रसूता गाय का खिलाना और उत्तम खेत में बुवाई करना लाभप्रद होता है, वैसे ही सुपात्र को आहारादि दिए जाने से पर्याप्त फल मिलता है।

कृतमौनमवक्राङ्गं वहद्दक्षिणनासिकम्।
कृतभक्ष्यसमाघ्राणं हतदृग्दोषविक्रियम्॥ 42॥
नातिक्षारं न चात्यम्लं नात्युष्णं नातिशीतलम्।
नातिशाकं नातिगौल्यं मुखरोचकमुच्चकैः॥ 43॥
सुस्वादविगतास्वाद विकथापरिवर्जिततम्।
शास्त्रवर्जिततनिःशेषाहारत्याग मनोहरम्॥ 44॥
भक्ष्यपालननिर्मुक्तं नात्याहारमनल्पकम्।
प्रतिवस्तुप्रधानत्वं सङ्कल्पास्वादसुन्दरम्॥ 45॥

सुविज्ञ पुरुष की दाहिनी नासिका बहते समय मौन रहकर, शरीर के सब अवयव सम रखकर, खाने की वस्तु सूँघकर और दृष्टि दोष टालकर, न तो बहुत खारा, न बहुत खट्टा, न बहुत गर्म, न बहुत ठंडा, न बहुत शाकवाला, न बहुत मीठा हो; प्रमाण से न्यूनाधिक नहीं हो, शास्त्र में वर्जित वस्तु से और जिस वस्तु के त्याग की प्रतिज्ञा ली हो, उस वस्तु से रहित, जिसमें डाली गई सब वस्तुएँ श्रेष्ठ और अच्छी तरह पकाने से जिनका स्वाद बहुत मनोहर हो ऐसा, मुँह को अधिक रुचि उत्पन्नकर्त्ता अन्न, स्वादिष्ठ वस्तु की प्रशंसा और निरस वस्तु की निन्दा छोड़कर भोजन करना चाहिए।

भोजनकाले जलपानं —

पियन्नमृतपानीय मर्धभुक्ते महामतिः।
भुञ्जीत वर्जयन्नन्ते छत्राह्वं पुष्फलं जलम्॥ 46॥

भोजन जब आधा कर चुके तब जल पानी चाहिए। इस प्रकार जलपान करना अमृतपान के समान है और भोजनान्त में बहुत पानी नहीं पीना चाहिए। यह जलपान विषपान के समान कहा जाता है।

स्निग्धमधुरप्राक्भक्ष्यते तदर्थ निर्देशमाह —

सुस्निग्धमधुरैः पूर्वमश्नीयादन्वितं रसैः।
द्रवाम्ललवणैर्मध्ये पर्यन्ते कटुतिक्तकैः॥ 47॥

भोजन के पहिले अच्छी प्रकार से स्निग्ध (घृत, तेलमय) और मधुर पदार्थ (मिष्ठान्न) खाए। बीच में खट्टी वस्तुएँ खानी चाहिए और अन्त में कड़वे और तिक्त वस्तुओं को ग्रहण करे।*

लवणाहारार्थ निर्देशं —

नामिश्रं लवणं ग्राह्यं नैव केवलपाणिना।
रसानपि न वैरस्य हेतून्संयोजयेन्मिथः॥ 48॥

केवल नमक ग्रहण नहीं करना चाहिए। केवल हाथ से नमक नहीं लेना चाहिए। जिससे वस्तु विरस हो जाए वैसे मधुरादि रस की परस्पर मिलावट नहीं करनी चाहिए।

त्यजेत्क्षारप्रभूतान्नमन्न दग्धादिकं त्यजेत्।
कीटास्थिप्रमुखैर्युक्तमुच्छिष्टं चाखिलं त्यजेत्॥ 49॥

जिस आहार में क्षार (नमक) अधिक डाल दिया गया हो और जला हुआ, बराबर नहीं चढ़ा हुआ, कीटादि जीवों और हड्डी इत्यादि से मिश्रित तथा किसी का उच्छिष्ट (झूठा) अन्न– इन सबको छोड़ देना चाहिए।

पश्वादीनां दुग्धोपयोगविचारमाह —

धेन्वा नवप्रसूताया दशाहान्तर्भवं पयः।
आरण्यकाविकौष्ट्रं च तथैवैकशफं त्यजेत्॥ 50॥

नव प्रसूता गाय का दूध 10 दिन तक प्रयोग में नहीं ले। वन्य जीवों का दूध,

---

* विष्णुपुराण में भी आया है कि पहले मीठा पदार्थ, बीच में नमकीन व खट्टी तथा बाद में कड़वे व तिक्त पदार्थों को खाना चाहिए— अश्नीयात्तन्मयो भूत्वा पूर्वं तु मधुरं रसम्। लवणाम्लौ तथा मध्ये कटुतिक्तादिकांस्ततः॥ (विष्णु. 3, 11, 87) गरुडपुराण में यही मत इस प्रकार आया है— पूर्वं मधुरमश्नीयात् लवणाम्लौ च मध्यतः। कटुतिक्तकषायांश्च पर्यश्नैव तथान्ततः॥ (आचार. 205, 144)

भेड़ों, ऊँटनी और समस्त एक खुर वाले पशुओं का दूध ग्रहण नहीं करना चाहिए।*

आहारात् निमित्तविचारं —

निःस्वादमन्नं कटु वा ह्यद्यमप्यश्नतो यदि।
तत्स्वस्यान्यस्य वा कष्टं मृत्युः स्वस्यारुचौ पुनः॥ 51॥

यदि कभी ऐसा हो कि मिष्ठान्न खाते हुए भी वह स्वाद रहित या कटु लगे तो उससे अपने को अथवा दूसरे का कष्ट होता है। इसी प्रकार यदि उत्तम अन्नाहार करते समय भी अरुचि उत्पन्न हो तो अपनी मृत्यु की अथवा मरण तुल्य कष्ट की आशङ्का जाननी चाहिए।

भोजनानन्तरं सर्वरसलिप्तेन पाणिना।
एकः प्रतिदिनं पेये जलस्य चुलुकोऽङ्गिना॥ 52॥

व्यक्ति को भोजन कर चुकने के बाद सब रस से भरे हुए हाथ से एक चुल्लू जल प्रतिदिन पीना चाहिए।

न पिबेत्पशुवत्तोयं पीतशेषं च वर्जयेत्।
तथा नाञ्जलिना पेयं पयः पथ्यं मितं यतः॥ 53॥

पानी कभी पशु के समान नहीं पीना चाहिए। किसी के पीने बाद उच्छिष्ट जल को नहीं पिएँ और अञ्जलि से भी पानी नहीं पीना चाहिए क्योंकि पानी अपेक्षानुसार ही पीने का निर्देश है।**

करेण सलिलार्द्रेण न गण्डौ नापरं करम्।
नेक्षणे च स्पृशेत्किन्तुस्प्रष्टव्ये जानुनी श्रिये॥ 54॥

भोजन के उपरान्त भीगे हुए हाथ से दोनों कपोल, दूसरा हाथ और दोनों नेत्र– इनको स्पर्श नहीं करना चाहिए अपितु कल्याण के लिए अपनी पिण्डलियों को स्पर्श करना चाहिए।

उक्तं च —

'मा करेण करं पार्थ मा गल्लौ मा च चक्षुषी।
जानुनी स्पृश राजेन्द्र! भर्तव्या बहवो यदि'॥ 55॥

---

* मनु का मत है नव ब्याँत गाय का दूध दस दिन तक वर्जित है, ऊँटनी, एक खुर वाले पशु (घोड़ी आदि), भेड़, गर्भिणी, जंगली पशु, स्त्री एवं मरे हुए बछड़े वाली गाय का दूध नहीं पीना चाहिए — अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा। आविकं सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः॥ (मनुस्मृति 5, 8 तुलनीय याज्ञवल्क्यस्मृति 1, 170 तथा गौतमस्मृति 17)

**सुश्रुत का मत है कि अञ्जलि से जल नहीं पिए— नाञ्जलिपुटेनापः पिबेत्। (सुश्रुत. चिकित्सा. 24, 98) इसी प्रकार जल में मुँह लगाकर पशु की भाँति जल पीने की मनाही है— न वामहस्तेनैकेन पिबेद्वक्त्रेण वा जलम्॥ (नारदपुराण पूर्व. 26, 36 तथा पद्मपुराण स्वर्ग. 55, 74)

यह कहा भी गया है– 'हे राजाधिराज अर्जुन! तुझे बहुत से व्यक्तियों का पोषण करना हो, तो भोजन के बाद भीगे हाथ से दोनों गालों को, दूसरे हाथ को और दोनों नेत्रों का स्पर्श मत करो परन्तु पिण्डली व जङ्घा को स्पर्श करना चाहिए।

तथा च भोजनव्यवहारं —

समानां जातिशीलाभ्यां स्वसाम्यधिक्यसंस्पृशाम्।
भोजनाय गृहे गच्छेद्गच्छेद्द्वेषवतां न तु॥ 56॥

जो जाति और शील-आचार से अपनी बराबरी का हो और अपने को अपने बराबर अथवा अपने से भी अधिक सिद्ध करता हो उसके यहाँ पर भोजन के लिए जाना उचित है परन्तु जो अपने विरोधी हों, उनके यहाँ भोजन व्यवहार नहीं करे।

मुमूर्षुवध्यचौराणां कुलटालिङ्गिवैरिणाम्।
बहुवैरवतां कल्पपालोच्छिष्टान्नभोजिनाम्॥ 57॥
कुकर्मजीविनामुग्रपतितासवपायिनाम्।
रङ्गोपजीविविकृति सान्यभर्तृकयोषिताम्॥ 58॥
धर्मविक्रयिणां राजमहाजनविरोधिनाम्।
स्वयं हनिष्यमाणानां गृहे भोज्यं न जातु चित्॥ 59॥

मौत के किनारे आए हुए, राजादि का वध करने योग्य हुए, चोर, कुलटा, कुमार्गी, लिङ्गधारी, वैरी, जिसके बहुत शत्रु हों, मद्य विक्रेता, उच्छिष्टि या झूठा अन्न खाने वाले, कुकर्म करके अपना भरण-पोषण करने वाले, उग्र स्वभावी, पापी, रँगजीवी, दो पति वाली स्त्री, धर्म विक्रेता (बात-बात में शपथ खाने वाले), राजा और महाजन के वैरी, जिससे भविष्य में अपनी हानि की आशङ्का, मद्यपेयी और महापातक से पतित हुए मनुष्यों के घर किसी भी समय भोजन नहीं करना चाहिए।*

तत्र शलाकानिमित्तमाह —

भोजनानन्तरं याच्यं शलाकाद्वयमादरात्।
यद्येका पतिता भूमावायुर्वित्तं च हीयते॥ 60॥

भोजन के बाद आदरपूर्वक दो सलाइयाँ (दाँतों की सफाई के लिए) माँगनी चाहिए। उनमें से यदि एक नीचे गिर जाए तो व्यक्ति के आयुष्य और द्रव्य की हानि जाननी चाहिए।

---

* याज्ञवल्क्य का मत है— कदर्यबद्धचौराणां क्लीवरङ्गावतारिणाम्। वैणाभिशस्तवार्धुष्यगणिका-गणदीक्षिणाम्॥ चिकित्सकातुरक्रुद्धपुँश्चलीमत्तविद्विषाम्॥ क्रूरोग्रपतितव्रात्यदाम्भिकोच्छिष्टभोजिनाम्। अवीरास्त्रीस्वर्णकारस्त्रीजित ग्रामयाजिनाम्। शस्त्रविक्रयिकर्मारितन्तुवायश्ववृत्तिनाम्॥ नृशंसराजरजककृतघ्नवधजीविनाम्। चैलधावसुराजीवसहोप पतिवेश्मनाम्॥ पिशुनानृतिनोश्चैव तथा चक्रिकबन्दिनाम्। एषामन्नं न भोक्तव्यं सोमविक्रयिणस्तथा॥ (याज्ञवल्क्य.1, 161-165)

अन्यदप्याह —

भोजनानन्तरं वामकटिस्थो घटिकाद्वयम्।
शयीत निद्रया हीनं पूर्वं पदशतं व्रजेत्॥ 61॥

भोजन करने के बाद पहले 100 कदम टहलना चाहिए और बाद में दो घड़ी बायीं करवट से निद्रा लेने के बिना सोना चाहिए।

अङ्गमर्दननीहारभारोत्क्षेपोपवेशनम्।
स्नानाद्यं च कियत्कालं भुक्त्वा कुर्यान्न बुद्धिमान्॥ 62॥

बुद्धिमान् को भोजन करने के बाद थोड़ी देर तक अङ्ग मर्दन (मसाज) और निहार (मलमूत्र का त्याग) नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार भार नहीं उठना चाहिए। बैठे नहीं रहना चाहिए और स्नानादि क्रियाएँ भी नहीं करनी चाहिए।

प्रसङ्गानुसारेण घटिकायन्त्रलक्षणं —

दश ताम्रपलावर्ते पात्रे वृत्तीकृते सति।
विधातव्यः समुत्सेधो घटिकायां षडङ्गुलः॥ 63॥
विष्कम्भं तत्र कुर्वीत प्रमाणे द्वादशाङ्गुलः।
षष्ट्यम्भः पलपूरेण घटिका सद्भिरिष्यते॥ 64॥ (युग्मम्)

(जलघड़ी निर्माण के लिए) दस पल (40 तोला) ताँबे का गोलाकार पात्र तैयार करे। इसकी ऊँचाई छह अङ्गुल रखे और विस्तार (पूर्ण व्यास) बारह अङ्गुल का कल्पित करे जिसमें साठ पल (240 तोला) जल डालने से भर जाए। (इस प्रकार बना हुआ यह पात्र पानी भरे पात्र में रखने से एक अहोरात्र या 24 घण्टे में साठ बार डूब जाएगा) इस प्रकार से विद्वानों ने घटिका का प्रमाण कहा है।*

मेषादीनां ध्रुवाङ्कप्रमाणानुसारेण घटिकाज्ञानं —

चतुश्चत्वारिंशदथो त्रिंशत्तदर्धविंशती।
पञ्चदश त्रिंशदपि चत्वारिंशच्चतुर्युताः॥ 65॥
षष्टिः सद्वादशा षष्टिरशीतिश्च द्विसप्ततिः।
षष्टिर्मेषादिषु ज्ञेया ध्रुवाङ्काः शतसंयुताः॥ 66॥
रविं दक्षिणतः कृत्वा ज्ञात्वा छायापदानि च।
तैः पादैः सप्तसंयुक्तैर्भागं कृत्वा ध्रुवाङ्कतः॥ 67॥

---

* नारदसंहिता में घटिकायन्त्र की विधि इसी प्रकार आई है— षडङ्गुलमितोत्सेधं द्वादशाङ्गुलमायतम्॥ कुर्यात् कपालवत्ताम्रपात्रं तद्दशभिः पलैः। पूर्णं षष्टिर्जलपलैः षष्टिर्मज्जति वासरे॥ माषमात्रत्र्यंशयुतं स्वर्णवृत्तशलाकया। चतुर्भिरङ्गुलैरापस्तथा विद्धं परिस्फुटितम्॥ कार्येणाभ्यधिकः षड्भिः पलैस्ताम्रस्य भाजनम्। द्वादशं मुखविष्कम्भ उत्सेधः षड्भिरङ्गुलैः॥ स्वर्णमासेन वै कृत्वा चतुरङ्गुलकात्मकः। मध्यभागे तथा विद्धा नाडिका घटिका स्मृता॥ (नारद. 29, 86-90)

लब्धाङ्के घटीसङ्ख्यां विजानीयाद्बुधः सदा।
पूर्वाह्ने गतकालस्य शेषस्य त्वपराह्णके॥ 68॥ (चतुर्भिः कलापम्)

मेषादि राशियों के ध्रुवाङ्क के अनुसार घटिकानयन की विधि इस प्रकार है। मेष से क्रमशः सूर्य की बारह राशियों के 144, 130, 115, 120, 115, 130, 144, 160, 172, 180, 172 और 160– ये ध्रुवाङ्क जानने चाहिए।* सूर्य को दाहिनी ओर रखते हुए अपनी छाया नापनी चाहिए। छाया का जितना प्रमाण आया हो, उस संख्या में सात बढ़ाएँ और उस अङ्क से जिस राशि का सूर्य हो उस राशि के ध्रुवाङ्क को भाग देना। जो संख्या लब्ध हो, वह घड़ी होगी। मध्याह्न हो, वहाँ तक गत काल की घटी संख्या जाननी चाहिए और मध्याह्न के बाद शेष रहे दिन की घटी संख्या जाननी चाहिए।

आहारकाले विशेषमाह —

मित्रोदासीनविद्वेषि मयेऽमुत्र जगत्त्रये।
भवत्यभ्यवहार्येषु विषाश्लेषोऽपि कर्हिचित्॥ 69॥

इस जगत में तीन प्रकार के लोग हैं– मित्र, उदासीन और शत्रु। आहारकाल के अवसर पर इस प्रकार के व्यक्तियों का ध्यान रखना चाहिए। ध्यान नहीं रखने पर विषादि के प्रयोग होने की सम्भावना रहती है।

धीमन्तः स्वहिताः सम्यगमीभिर्लक्षणैः स्फुटम्।
प्रयुक्तमरिभिर्गुप्तं विषं जानन्ति तद्यथा॥ 70॥

अपनी हितैच्छा रखने वाले बुद्धिमान् लोग शत्रु द्वारा किसी आहार योग्य वस्तु में मिलाए गए विष के लक्षणों को जान सकते हैं। इसकी विधि आगे दी जा रही है–

स्वराक्षार्थं खाद्यान्ने विषलक्षणं —

अविक्लेद्यं भवेदन्नं पच्यमानं विषान्वितम्।
चिराच्च पच्यते सद्यः पक्वं पर्युषितोपमम्॥ 71॥

यह ध्यान में रखना चाहिए कि विषयुक्त अन्न पकाते समय भिगोया हुआ ही नहीं रहता है। पकते हुए बहुत समय लगता है और पकाया भी जाए तो शीघ्र बासी जैसा भी हो जाता है।

स्तब्धमूष्मविनिर्मुक्तं पिच्छिलं चन्द्रिकान्वितम्।
वर्णगन्धरसान्यत्व दूषितं च प्रजायते॥ 72॥

---

* हेमप्रभसूरि कृत त्रैलोक्यज्योतिषशास्त्र में सिंह, धनु व कुम्भ राशियों के ध्रुवाङ्क 90, कर्क के 121 और शेष राशियों के ध्रुवाङ्क क्रमशः 105-105 कहे गए हैं जो मिलाकर 1231 होते हैं— सिंहधनुर्घटा सर्वे नवतिः संख्यका मताः। शतसंख्या भवेत् कर्कस्त्वेकविंशतिमिश्रितः॥ पञ्चोत्तरशतं शेषा मेषादय उदाहताः। राशीनां द्वादशशतोन्येक त्रिंशच्च पिण्डकः॥ (त्रैलोक्यज्योतिष में चूड़ामणिद्वारेणार्घकाण्डे 134-135)

स्तब्ध जैसा, वाष्प रहित, अन्दर से पानी छोड़ता हुआ, चन्द्रिका वाला और जिसका वर्ण, गन्ध और रस स्वाभाविक रूप के विपरीत हो गए, ऐसा भोजन विषयुक्त है, ऐसा जानना चाहिए।*

सविषाणि क्षणादेव शुष्यन्ति व्यञ्जनान्यपि।
क्वाथे तु ध्यामता फेनः सीमन्ता बुद्बुदास्तथा॥ 73॥

विषयुक्त व्यञ्जन (अवलेह, चोष्य, पेयादि) क्षण मात्र में सूख जाते हैं और यदि जहर वाला उबाला लिया हो तो वह काला पड़ जाता है, फेन आते हैं, धारियें पड़ जाती हैं और बुदबुदे उठते हुए दिखाई देते हैं।

जायन्ते राजयो नीला रसे क्षीरे च लोहिताः।
स्युर्मद्यतोययोः कृष्णा दधि श्यामास्तु राजयः॥ 74॥

यदि रसादि पेय पदार्थ में विष हो तो नील वर्ण की धारियाँ पड़ती हैं। दूध में हो तो लाल वर्ण की धारियाँ, मद्य या पानी में हो तो काली धारियाँ पड़ती हैं और दही में हो तो श्याम वर्ण की धारियाँ दिखाई देने लगती हैं।

तक्रे तु नीलपीता स्यात्कपोताभा तु मस्तुनि।
कृष्णा सौवीरके राजिर्घृते तु जलसन्निभा॥ 75॥

यदि विष मिश्रित छाछ हो तो उसमें नील जैसी और पीली धारियाँ पड़ती हैं। मस्तु (दही की तरी) में हो तो कपोत वर्ण जैसा उस पर आ जाता है। काँजी में काली और विषयुक्त घृत पर जल जैसी धारियाँ पड़ती हैं।

फलौषधादीनां परीक्षणं —

द्रवौषधे तु कपिला क्षौद्रे च कपिला भवेत्।
तैलेऽरुणा वसागन्धिः पाक आम्रे फले क्षणात्॥ 76॥

यदि प्रवाही औषध और शहद विषयुक्त हो तो उनमें कपिल रेखाएँ पड़ती हैं, तेल में विष हो तो लाल धारियाँ और वसा जैसी दुर्गन्ध आती है। इसी प्रकार कच्चे आमादि फल में विष हो तो वे फल तत्काल पकता है।

सपाकानां फलानां च प्रकोपः सहसा तथा।
जायेत म्लानिरार्द्राणां सङ्कोचश्च विषादिह॥ 77॥

इसी प्रकार यदि परिपक्व फलों में विष हो तो वे तुरन्त फट जाते हैं, सड़ भी

---

* मत्स्यपुराण में विषयुक्त पदार्थों के लक्षण एवं उनसे बचाव के उपायों का वर्णन इसी प्रकार से हुआ है। यथा— व्यापन्नरसगन्धं च चन्द्रिकाभिस्तथा युतम्॥ व्यञ्जनां तु शुष्कत्वं द्रवाणां बुद्बुदोद्भवः। ससैन्धवानां द्रव्याणां जायते फेनमालिता॥ शस्यराजिश्च ताम्रा स्यान्नीला च पयस्तथा। कोकिलाभा च मद्यस्य तोयस्य च नृपोत्तम॥ धान्याम्लस्य तथा कृष्णा कपिला कोद्रवस्य च। मधुश्यामा च तक्रस्य नीला पीता तथैव च॥ (मत्स्य. 219, 23-26)

जाते हैं और हरी सब्जी आदि वस्तु में विष हो तो वह कुम्हलाकर सिकुड़ जाती हैं।

शुष्काणां श्यामताप्येवं वैवण्यम्रदिमा पुनः।
कर्कशानां मृदूनां च काठिन्यं जायते विषात्॥ 78॥

यदि शुष्क फलों में विष हो तो वे काले और विवर्ण हो जाते हैं। कठोर फल विष मुलायम हो जाते हैं और मुलायम फल कठोर हो जाते हैं।

माल्यास्तरणे विषलक्षणं —

माल्यानां म्लानता स्वल्पो विकासो गन्धहीनता।
स्याद्धूयाममण्लत्वं च संव्यानास्तरणे विषात्॥ 79॥

खाद्यान्नादि की भाँति यदि पुष्पहार विषयुक्त हों तो वे शीघ्र मुरझा जाती हैं, बराबर खिलती प्रतीत नहीं होतीं और सुगन्धहीन हो जाती हैं। ओढ़ने-बिछाने के वस्त्र, कवचादि विष वाले हों तो उन पर काले धब्बे पड़ जाते हैं।

मणिलौहमयानां च पात्राणां मलदिग्धता।
स्वर्णरागप्रभास्पर्श गौरवस्नेहसंक्षयः॥ 80॥

विषयुक्त रत्न और धातु के मर्तबान मैले हो जाते हैं और सुवर्ण के पात्र हों तो विष से वर्ण, चमक, कोमल स्पर्श गुरत्व और स्नेहन जैसे सब गुण लुप्त हो जाते हैं।*

विषाहारोपरान्तशरीरलक्षणं —

दन्तानां शातनं रोमपक्ष्मणां च भवेद्विषात्।
सन्देहे तु परीक्षेत तान्यग्न्यादिषु तद्यथा॥ 81॥

विष से व्यक्ति के दाँत, शरीर और भोंह के केश– ये तीनों गिर जाते हैं। विष प्रयोग का संशय हो तो विषयुक्त वस्तु अग्नि आदि में डालकर उसकी परीक्षा करनी चाहिए।

अन्नं हालाहलाकीर्णं प्राप्य वैश्वानरो भृशम्।
एकावर्तस्तथा रूक्षो मुहुश्चटचटायते॥ 82॥
इन्द्रायुधमिवानेक वर्णाज्वाला दधाति च।
स्फुरत्कुणपगन्धिश्च मन्दतेजाश्च जायते॥ 83॥

यदि विषयुक्त अन्नादि पदार्थ अग्नि में डाला जाए तो उसकी ज्वाला भृंश होती दिखाई देती है और उसमें से 'चट्-चट्' जैसे शब्द निकलते हैं। यदि विष वाली

---

* तुलनीय— घृतस्योदकसङ्काशा कपोताभा च मस्तुनः। हरिता माक्षिकस्यापि तैलस्य च तथारुणा॥ फलानामप्य पक्वानां पाकः क्षिप्रं प्रजायते। प्रकोपश्चैव पक्वानां माल्यानां म्लनता तथा॥ मृदुता कठिनानां स्यान्मृदूनां च विपर्ययः। सूक्ष्माणां रूपदलनं तथा चैवातिरङ्गता॥ श्याममण्डलता चैव वस्त्राणां वै तथैव च। लौहानां च मणीनां च मलपङ्कपदिग्धता॥ अनुलेपनगन्धानां माल्यानां च नृपोत्तम। विगन्धता च विज्ञेया वर्णानां म्लनता तथा। पीतावभासता ज्ञेया तथा राजन् जलस्य तु॥ (तत्रैव 219, 27-31)

अग्नि में डाली जाएगी तो इन्द्रधनुष जैसे नाना वर्ण युक्त उसकी ज्वाला हो जाती है। मृत कलेवर जैसी उसमें से दुर्गन्ध उठती है और उसका तेज भी मन्द हो जाता है।*

शिरोऽर्तिः पीनसः श्लेष्मा लाला नयनयोस्तथा।
आकुलत्वं क्षणाद्रोम हर्षस्तद्धूमसेवनात्॥ 84॥

विषमय वस्तु के धुँए से सिरदर्द होता है, श्लेष्मा व कफ बढ़ जाता है, आँख से पानी टपकने लगता है, आकुलता बढ़ती है और क्षणभर में रोमाञ्च होता प्रतीत होता है।

विषदस्य परीक्षणं —

विषदुष्टाशनास्वादात्काकः क्षामस्वरो भवेत्।
लीयते मक्षिका नात्र निलीना च विपद्यते॥ 85॥

विष मिश्रत अन्न को चखने पर गले में काक का पर्दा बैठ जाता है। उस अन्न पर मक्खियाँ नहीं बैठतीं और यदि बैठ भी जाए तो मर जाती हैं।

अन्नं सविषमाघ्राय भृङ्गः कूजति चाधिकम्।
सारिका सविषेऽन्ने तु विक्रोशति तथा शुकः॥ 86॥

विषमय अन्न देखकर भ्रमर अधिक गुञ्जार करता है। मैना (वमन करती हैं) और तोता विषमय अन्न सूँघकर बहुत शोर करता है।

विषान्नदर्शनान्नेत्रे चकोरस्य विरज्यतः।
म्रियते कोकिलो मत्तः क्रौञ्चो माद्यति तत्क्षणात्॥ 87॥

चकोर पक्षी के नेत्र विषाक्त अन्न देखते ही श्वेत हो जाते हैं। कोकिल पक्षी मदोन्मत्त होकर मर जाता है। क्रौञ्च पक्षी उसी समय मदोन्मत्त होता है।

नकुलो हृष्टरोमा स्यान्मयूरस्तु प्रमोदते।
अस्य चालोकमात्रेण विषं मन्दायते क्षणात्॥ 88॥

नेवला यदि विष वाला अन्न देखे तो वह रोमाञ्चित हो जाता है। मयूर हर्षित होता है। मयूर की दृष्टि से पल भर में जहर मन्द हो जाता है।

---

* यह वर्णन मत्स्यपुराण से तुलनीय है। यही वर्णन विष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी मिलता है। यथा— समीपैर्विक्षिपेद् वह्नौ तदन्नं त्वरयान्वितः। इन्द्रायुधसवर्णं तु रूक्षं स्फोटसमन्वितम्॥ एकावर्तं तु दुर्गन्धि भृशं चटचटायते। तद्धूमसेवनाज्जन्तोः शिरोरोगश्च जायते॥ सविषेऽन्ने निलीयन्ते न च पार्थिव मक्षिकाः। निलीनाश्च विपद्यन्ते संस्पृष्टे सविषे तथा॥ विरज्यति चकोरस्य दृष्टिः पार्थिवसत्तम। विकूर्दति च स्वरो याति कोकिलस्य तथा नृप॥ गतिः स्खलति हंसस्य भृङ्गराश्च कूजति। क्रौञ्चो मदमथाभ्येति कृकवाकुर्विरौति च॥ विक्रोशति शुको राजन् सारिका वमते ततः। चामीकरोऽन्यतो याति मृत्युं कारण्डवस्तथा॥ मेहते वानरो राजन् ग्लायते जीवजीवकः। हृष्टरोमा च शिखी विषसंदर्शनान्नृप। अन्नं च सविषं राजंश्चिरेण च विपद्यते॥ तदा भवति निःश्राव्यं पक्षपर्युषितोपमम्। (मत्स्य. 219, 15-23)

उद्वेगं याति मार्जारः पुरीषं कुरुते कपिः।
गति स्खलति हंसस्य ताम्रचूडो विरौति च॥ 7॥

विषाक्त अन्न देखकर बिलाव को उद्वेग होता है; बन्दर विष्ठा करता है; हंस चलते हुए गिरता जाता है और मुर्गा बाँग देने लगता है।

अन्यदपि —

सविषं देहिभिः सर्वं भक्ष्यमांण करोत्यलम्।
ओष्ठे चिमचिमामास्ये दाहं लालाजलप्लवम्॥ 90॥

विष मिश्रत अन्न मनुष्यों के खाने में आ जाए तो उसके ओष्ठ में चबलता होने लगती है। मुँह में जलन होती है और बार-बार लार टपकने लगती है।

हनुस्तम्भो रसज्ञायां कुरुते शूलगौरवे।
तथा क्षाररसाज्ञानं दाता चास्याकुलो भवेत्॥ 91॥

इसी प्रकार विष मिश्रत अन्न खाने में आए तो कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है। जिह्वा भारी हो जाती है जीभ में दर्द होता है। उसे खारीय रसानुभूति नहीं होती। दूसरी ओर विष देने वाला व्याकुल हो जाता है।

स्फाटिकष्टङ्कणक्षारो धार्यः पुंसो मुखान्तरे।
न वेत्ति क्षारतां यावदित्युक्तं स्थावरे विषे॥ 92॥

विष-प्रयोग की आशङ्का हो तो पुरुष के मुँह में फिटकड़ी और टङ्कणखार रखने के लिए देना चाहिए। जब तक वह खारी न लगे तब तक विष विकार है— ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार स्थावर विष ज्ञानोपाय कहा है।

उल्लासोपसंहरति —

इत्थं चतुर्थप्रहरार्धकृत्यं सूर्योदयादत्र मया बभाषे।
तत्कुर्वतां देहभृतां नितान्तमाविर्भवत्येव न रोगयोगः॥ 93॥

इस प्रकार मैंने यहाँ सूर्योदय से लगाकर चौथे प्रहर के अर्द्धभाग तक का कृत्यादि वर्णित किया है। इसके अनुसरण करने से मनुष्यों के शरीर में कभी भी रोग का प्रादुर्भाव नहीं होता है।

इति श्रीजिनदत्तसूरि विरचिते विवेकविलासे दिनचर्यायां तृतीयोल्लासः॥ 3॥

इस प्रकार श्रीजिनदत्त सूरि विरचित विवेक विलास में दिनचर्या का तृतीय उल्लास पूरा हुआ।

अथायव्ययवाहनसन्ध्याहारशौचादीनां वर्णनं नाम चतुर्थोल्लासः ॥ 4 ॥

अथ चतुर्थप्रहारोपरान्तदिनचार्यायां —

उत्थाय शयनोत्सङ्गाद्वपुः शौचमथाचरेत्।
विचिन्त्यायव्ययो सम्यग्मन्त्रयेदेप मन्त्रिभिः ॥ 1 ॥

(चतुर्थ प्रहर के आधे भाग के बाद) विवेकी पुरुषों को शयन से उठकर शरीर-शुद्धि करनी चाहिए। इस बीच आय-व्यय का भली प्रकार से विचार करके मन्त्री के साथ विचार-विनिमय करना चाहिए।

वाहनास्त्रादिचिन्तां वाचराणां वा नियोजनम्।
कुर्याद्विक्रमचिन्तां वा विहार वा यदृच्छया ॥ 2 ॥

इसी प्रकार अपने वाहन, आयुध, आचार, पराक्रमादि कार्यों का विचार करना चाहिए अथवा सेवकों, दूतों का उनके काम पर नियुक्त करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य इच्छित व्यवहार किए जा सकते हैं।

ततो वैकालिकं कार्यं मिताहारमनुत्सुकम्।
घटिकाद्वयशेषेऽह्नि कालौचित्याशनेन च ॥ 3 ॥

जब दो घड़ी दिन शेष रहे, ऋतु और सन्ध्याकाल को जैसा उचित प्रतीत हो, वैसा बहुत उत्सुकता न दिखाते हुए परिमित आहार करना चाहिए।

सन्ध्या आहारविचारं —

भानोः करैरसंस्पृष्टमुच्छिष्टं प्रेतसङ्करात्।
सूक्ष्मजीवाकुलं चापि निशि भोज्यं न युज्यते ॥ 4 ॥

आहार के लिए यह ज्ञातव्य है कि सूर्य की किरणों से अस्पर्शित, प्रेत-संस्कार से अपवित्र, सूक्ष्म सम्पातिम जीवों से आकुल हुआ हो– ऐसा अन्न रात्रि को भक्षण करना अयुक्त होता है।

शौचमाचर्य मार्तण्ड बिम्बेऽर्धास्मिते सुधीः।
धर्मकृत्यैः कुलायातैः स्वमात्मानं पवित्रयेत् ॥ 5 ॥

आधे सूर्य मण्डल के अस्त होते-होते देह-शुद्धि करे और कुलोचित धर्म-कृत्यों का सम्पादन करते हुए अपनी आत्मा को पवित्र करने का यत्न करना चाहिए।

सायंकाले निषिद्धकर्माह —

न शौधयेन्न कण्डूयेन्नाकमेदङ्घ्रिमङ्घ्रिणा।
न च प्रक्षालयेत्कासं न कुर्यात्स्वामिसम्मुखम्॥ 6॥

सन्ध्याकाल में अन्नादि का शोधन नहीं करना चाहिए न ही कूटना चाहिए। पाँव पर पाँव नहीं चढ़ाना चाहिए और स्वामी के सम्मुख खाँसना नहीं चाहिए।

सन्ध्याया श्रीद्रुहं निद्रां मैथुनं दुष्टगर्भकृत्।
पाठं वैकल्यदं रोगप्रदां भुक्तिं न चाचरेत्॥ 7॥

यह ज्ञात रहे कि सन्ध्याकाल में निद्रा लेने से लक्ष्मी का विनाश होता है; मैथुन करने से दुष्ट गर्भोत्पत्ति होती है।* पढ़ने से पाठ में विकलता होती है और भोजन करने से रोगोत्पत्ति होती है। इसलिए इन कार्यों को नहीं करना चाहिए।

सायंकालप्रमाणमाह —

अर्केऽर्धास्तामिते यावन्नक्षत्राणि नभस्तले।
द्वितीणि नैव वीक्ष्यन्ते तावत्सायं विदुर्बुधाः॥ 8॥

आधे सूर्य मण्डल के डूबने पर आकाश में दो-तीन नक्षत्र जहाँ तक नहीं दिखाई दे जाए तब तक सायंकाल का समय है— ऐसा पण्डितों का कथन है।**

तत्रावसरे अतिथ्यादीनां आदरदानिर्देशं —

---

* दिवस और दोनों सन्ध्याओं की वेला में समागम से कई जन्मों तक रोगी और दरिद्र होना पड़ता है— दिवसे सन्ययोर्निद्रां स्त्रीसम्भोगं करोति यः। सप्तजन्म भवेद्रोगी दरिद्रः सप्तजन्मसु॥ (ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्णजन्मकाण्ड 75, 80)

**विश्वामित्रस्मृति में कहा गया है कि सायंकाल की सन्ध्या सूर्य के रहते उत्तम, सूर्यास्त के बाद व तारों के निकलने से पूर्व मध्यम और तारा निकलने के बाद अधम कही है— उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तसूर्यका। अधमा तारकोपेता सायं सन्ध्या त्रिधास्मृता॥ (विश्वामित्र. 1, 24)
दिवस के पाँच काल है। सूर्योदय से तीन मुहूर्त का प्रातःकाल, इसके बाद तीन मुहूर्त का सङ्गवकाल, पुनः तीन मुहूर्त का मध्याह्न और इसके उपरान्त तीन मुहूर्त का अपराह्णकाल तथा अन्त में तीन मुहूर्त का सायाह्नकाल होता है— त्रिमुहूर्तस्तु प्रातःस्यात्तावानेव तु सङ्गवः। मध्याह्नस्त्रिमुहूर्तः स्यादपराह्णस्तथैव च॥ सायं तु त्रिमुहूर्तः स्यात्पञ्चधा काल उच्यते॥ (प्रजापतिस्मृति 156-157)
धाराधिप भोजराज का मत है कि वह काल जबकि सूर्य अस्त होता हुआ कुमकुम या लाल चन्दनलेप के समान प्रतीत होता है, जब कि आकाश में स्थित तारागण अपने प्रकाश से टिमटिमाते हुए दिखाई नहीं देते, जबकि आकाश गायों के खुरों की नोकों से चूर्ण की हुई धूलि से भर जाता है, वह वेला धनधान्य की वृद्धि करने वाली सायंकालिक गोधूलिका कही जाती है—यावत्कुंकुमरक्त-चन्दननिभोप्यस्तं न यातो रविर्यावच्चोडुगणो नभस्तलगतो नो दृश्यते रश्मिभिः। गोभिः स्वाभिखुराग्रभाग-दलितैर्व्याप्तं नभः पांशुभिः सा वेला धनधान्यवृद्धिजननी गोधूलिका शस्यते॥ (राजमार्तण्ड 534)

सूर्योढस्यातिथेस्तथ्यमातिथेयं विचक्षणैः।
शयनस्थानपानीय प्रमुखैः कार्यमादरात्॥ 9॥

विचक्षण पुरुष चाहिए कि सूर्यास्त होने के अवसर पर आगन्तुक अतिथि का सत्कार, शय्या, स्थान, जलपान आदि से अच्छी तरह पाहुनाचार करे।

उल्लासोपसंहरति —

अह्नोऽतीते यामयुग्मे विधेयं
यामार्धेषु प्रोक्तमित्थं चतुर्षु।
अन्ताश्चित्तं चिन्त्यमेतच्च सम्यक्
स्थेयः श्रेयः काम्यया क्षुण्णधीभिः॥ 10॥

इस तरह सूर्योदय से लगाकर मध्याह्न तक दो प्रहर का और मध्याह्न के बाद के दो प्रहर को मिलाकर चार अर्द्ध प्रहर का कृत्य कहा है। जिसे समग्र कल्याण की इच्छा हो उसे अपने चित्त में अच्छी तरह से इस पर विचार करना चाहिए।

इति श्रीजिनदत्तसूरि विरचिते विवेकविलासे दिनचार्यायां चतुर्थोल्लासः॥ 4॥

इस प्रकार श्रीजिनदत्तसूरि कृत विवेकविलास में दिनचर्या का चतुर्थ उल्लास पूरा हुआ।

अथ दीपशयनवरवधूलक्षणजातकादीनां वर्णनं नाम पञ्चमोल्लासः ॥ 5 ॥

अथ दिवसावसाने दीपदाननिर्देशं —

दीपः प्रदक्षिणावर्तो निःप्रकम्पोऽतिभासुरः ।
आयतो घनमूर्तिश्च निःशब्दो रुचिरस्तथा ॥ 1 ॥
चञ्चत्काञ्चनसङ्काश प्रभामण्डलमण्डितः ।
गृहालोकाय माङ्गल्यः कर्तव्यो रजनीमुखे ॥ 2 ॥ (युग्मम्)

जब सन्ध्याकाल हो जाए तब प्रकाश के लिए यह कर्तव्य कहा गया है कि नित्य मङ्गलमय दीपक जलाना चाहिए। दीपदान के अवसर पर ध्यान रखना चाहिए कि वह दाहिनी ओर आवृत्तिमान, अतिशत दैदीप्यमान, दीर्घकाय, अच्छी ज्योतिप्रद, निःशब्द, रुचिर और स्वर्णिम प्रभा मण्डल से मण्डित होना चाहिए।

निषिद्धदीपलक्षणं—

सस्फुलिङ्गोऽल्पमूर्तिश्च वामावर्तस्तनुप्रभः ।
वातकीटाद्यभावेऽपि विध्यायंस्तैलवर्तिमान् ॥ 3 ॥
विकीर्णार्चिः सशब्दश्च प्रदीपो मन्दिरस्थितः ।
पुरुषाणामनिष्टानि प्रसाधयति निश्चितम् ॥ 4 ॥ *(युग्मम्)*

स्फुलिङ्ग करने वाला, लघु आकार का, बायीं ओर आवृति वाला, अल्प प्रकाश देने वाला, पवन व पतङ्गादि का उपद्रव नहीं होने पर भी और तेल-बाती के होते हुए भी बुझ जाने वाला, बिखरी हुई ज्योति से युक्त और तड़-तड़ शब्द करने वाला– ऐसा दीपक जिस घर में किया जाता है, वह वहाँ रहने वाले मनुष्य को निश्चित ही अनिष्ट सूचित करता है।

रात्रावसरे निषिद्धकर्माह —

रात्रौ न देवतापूजा स्नानदानाशनानि च।
न वा खदिरताम्बूलं कुर्यान्मन्त्रं च नो सुधीः ॥ 5 ॥

बुद्धिमान मनुष्य को रात में देवपूजा, स्नान, दान, भोजन, कत्थे सहित ताम्बूल और परामर्श– इनका व्यवहार नहीं करना चाहिए।

त्याज्य शयनं —

खट्वां जीवाकुलां ह्रस्वां भग्नां कष्टां मलीमसाम्।
ग्रतिपादान्वितां वह्नि दारुजातां च सन्त्यजेत्॥ 6॥

कभी ऐसे खाट, पलङ्ग पर नहीं होना चाहिए जिसमें जूँ-खटमल आदि पड़ गए हों। छोटी खाट, टूटी हुई, शयन करने वाले को कष्टप्रद, मैली खाट, पड़े पाए वाली और दग्ध लकड़ी से बनी खाट को त्याज्य जानना चाहिए।

शुभाशुभशयनासनयोः —

शयनासनयोः काष्ठमाचतुर्योगतः शुभम्।
पञ्चादिकाष्ठयोगे तु नाशः स्वस्य कुलस्य च॥ 7॥

चार काष्ठों से निर्मित पलङ्ग, बैठने का आसन और कुर्सी शुभकारी होती है। यदि पाँच अथवा उससे अधिक लकड़ी की बनाई गई हो तो उससे उसके प्रयोग करने वाले व उसके कुल का विनाश होता है।

शयनस्थललक्षणं —

पूज्योर्ध्वस्थो न नार्द्राङ्घ्रिर्नचोत्तरापराशिराः।
नानुवंश न पादान्तं नागदन्तः स्वपेत्पुमान्॥ 8॥

जो अपने पूज्य हों (अन्न, गौ, गुरु, देवता) उनसे ऊँचे स्थान पर, भींगे हुए पाँव और उत्तर एवं पश्चिम दिशा की ओर सिर रखकर नहीं सोना चाहिए। इसी प्रकार पुरुष को कभी वंश-अनुवंश के नीचे, पादान्त और नागदन्त या नँगूचे के नीचे नहीं सोना चाहिए, यह घातक है।*

देवताधाम्नि वल्मीके भूरुहाणां तलेऽपि च।
तथा प्रेतवने चैव स्वपेन्नपि विदिक्शिराः॥ 9॥

कभी देव मन्दिर में; सर्प की बाँबी पर; (इमली आदि) वृक्षों के नीचे; श्मशान और वन में नहीं सोए। कभी विदिशा में सिर रख भी नहीं सोना चाहिए।

---

* वराहमिहिर ने कहा है— धान्यगोगुरुहुताशसुराणां न स्वपेदुपरि नाप्यनुवंशम्। नोत्तरापरशिरा न च नग्नो नैव चार्द्रचरणः श्रियमिच्छन्॥ (बृहत्संहिता, 52, 124)
इसी प्रकार विश्वकर्मा का मत है— शय्यानुवंशविन्यस्तातुला हन्यात्कुटुम्बिनः। कर्तुः शय्या स्वतानस्था नागदन्ताः क्षयावहाः॥ (तत्रैव भट्टोत्पलविवृति में उद्धृत)
श्रीपति की भी यही उक्ति है— गोधान्यदेवाग्निगुरुपदिष्टान्स्वपेन्न चैवापरसौम्यमूर्धाः। न चानुवंशो न जलार्द्रपादः श्रियोभिलाषी पुरुषो न नग्नः॥ (रत्नमाला 17, 30)

निद्रासमयमासाद्य ताम्बूलं मुखतस्त्यजेत्।
ललाटात्तिलकं कण्ठान्माल्यं तल्पात्तु योषितम्॥ 10॥*

निद्रा आगमन के समय मुख से ताम्बूल को थूँक देना चाहिए। इसी प्रकार ललाट से तिलक, कण्ठ में पड़ी हुई माला एवं शय्या से स्त्री को त्याग देना चाहिए।**

प्रज्ञां हरति ताम्बूलमायुर्हरति पौण्ड्रकम्।
भोगिस्पर्शकरं माल्यं बलहानिकराः स्त्रियः॥ 11॥

निद्रा काल में यदि मुँह में ताम्बूल हो तो वह बुद्धि का नाश करता है; कपाल पर तिलक हो तो आयुष्य हरण करता है; गले में माला हो तो उसे सर्प आकर स्पर्श करे ऐसा सम्भव है और औरतें पास हो तो बल की हानि होती है।

इत्यमनन्तर सामुद्रिकशास्त्रानुसारेण वरलक्षण —

वपुः शीलं कुलं वित्तं वयो विद्या सनाथता।
एतानि यस्य विद्यन्ते तस्मै देया निजा सुता॥ 12॥

कन्या के पिता को यह निश्चित करना चाहिए कि जिसका शरीर, शील, कुल, धन, वय और विद्या– ये छह चीजें अच्छी हों और जिस पर बड़े लोगों का वरदहस्त हो, उसको अपनी कन्या देनी चाहिए।

मूर्खनिर्धनदूरस्थ शूरमोक्षभिलाषिणाम्।
त्रिगुणाधिकवर्षाणां न देया कन्यका बुधैः॥ 13॥

ज्ञानी मनुष्य को अपनी कन्या कभी मूर्ख, निर्धन, दूरस्थ, शूर, मोक्षाकांक्षी और पुत्री से तीन गुनी आयु से अधिक वर्ष के वर को नहीं देनी चाहिए।

अङ्गावयवप्रमाणमाह —

वक्षो वक्त्रं ललाटं च विस्तीर्णं शस्यते त्रयम्।
गम्भीर त्रितयं शस्यं नाभिः सत्त्वं स्वरस्तथा॥ 14॥

पुरुष की छाती, मुँह और कपाल– ये तीनों चौड़े हों तो प्रशंसनीय हैं और नाभि, स्वभाव और स्वर– ये तीन गम्भीर हों तो प्रशस्त जानने चाहिए।

कण्ठः पृष्ठं च लिङ्गं च जङ्घायोर्युगलं तथा।
चत्वारि यस्य ह्रस्वानि पूजामाप्नोति सोऽन्वहम्॥ 15॥

जिस पुरुष के कण्ठ, पीठ, लिङ्ग और दोनों जङ्घाएँ–इतने अवयव छोटे हों तो वह पुरुष नित्य पूजा जाता है।

---

* 'निद्रासमयमासाद्य ताम्बूलं वदनात्त्यजेत्। पर्यङ्कात्प्रमदां भालात्पुण्ड्रं पुष्पाणि मस्तकात्' पाठान्तर (तुलनीय- भगवन्तभास्कर, आचारमयूख)।

**धर्मसिन्धु में आया है— निद्राकाले ताम्बूलं मुखात् स्त्रियं शयनाद् भालात्तिलकं शिरसः पुष्पं च त्यजेत्। (धर्म. 3, पू., क्षुद्रकालं)

अङ्गुलीपर्वभिः केशैर्नखैर्दन्तैस्त्वचापि च।
सूक्ष्मकैः पञ्चभिर्मर्त्या भवन्ति सुखजीविनः॥ 16॥

जिसकी अङ्गुली के पर्व, केश, नख, दन्त और चमड़ी– ये पाँच वस्तुएँ सूक्ष्म या पतली हों तो वह मनुष्य सुखपूर्वक जीवित रहता है।

स्तनयोर्नेत्रयोर्मध्यं दोर्द्वयं नासिका हनुः।
पञ्च दीर्घाणि यस्य स्युः स धन्यः पुरुषोत्तमः॥ 17॥

जिस पुरुष के दोनों स्तन और दोनों नेत्रों के बीच का भाग, दोनों बाहु, नासिका और कण्ठ– इतने अवयव लम्बे हों तो उसे उत्तम व धन्य जानना चाहिए।

नासा ग्रीवा नखाः कक्षा हृदयं वदनं तथा।
षड्भिरभ्युन्नतैर्मर्त्याः सदैवोन्नतिभाजिनः॥ 18॥

इसी प्रकार नासिका, ग्रीवा, नाखून, काँख, छाती और मुँह– ये छह अवयव ऊँचे हों तो वह पुरुष हमेशा उन्नति करता है।

नेत्रान्तरसनातालु नखरा अधरोऽपि च।
पाणिपादतले चाऽपि सप्त रक्तानि सिद्धये॥ 19॥

आँख के कोने, जीभ, तालू, नख, ओष्ठ, हाथ और पाँव के तलिये– ये सात अवयव रक्त आभा वाले हों तो उनसे कार्य सिद्धि होती है।

गतेः प्रशस्यते वर्ण ततः स्नेहोऽमुतः स्वरः।
अतस्तेज इतः सत्वमिदं द्वात्रिंशतोऽधिकम्॥ 20॥

गति से वर्ण अधिक जानना चाहिए और वर्ण से स्नेह। इसी प्रकार स्नेह से स्वर और स्वर से तेज को अधिक जानना चाहिए। तेज और बत्तीसों लक्षण* से सत्व अधिक जानना चाहिए।

---

* पुरुषों के बत्तीस लक्षण मुहूर्ततत्त्व में इस प्रकार आए हैं— पुरुषों में सत्व (चित्त का एक गुण, स्वभाव), नाभि एवं शब्द— ये 3 गम्भीर होना शुभ हैं। नख, नेत्र, ओष्ठ, तालु, पाँव, जिह्वा और हाथ— ये 7 रक्तवर्ण हों तो शुभ हैं। अङ्गुलियों के पर्व, दन्तपंक्ति, त्वचा, नख तथा केशराशि— ये 5 यदि सूक्ष्म हो तो शुभकारक होते हैं। ललाट, मुख और वक्षस्थल— ये 3 यदि विस्तीर्ण हों तो शुभ जानने चाहिए। नासिका, कुचों का अन्तराल, आँखें, हनु और भुजा— ये 5 अगर दीर्घ हो तो प्रशस्त होते हैं। पीठ, लिङ्ग, जङ्घा एवं ग्रीवा— ये 4 यदि लघु हों तो सुखद हैं। कृकाटिका या घेंटू, मुख, नख, ऊर, कक्षा और नासिका— ये 6 यदि सामान्यतः उन्नत हों तो शुभ होते हैं। उक्त लक्षण राजाओं के जानना चाहिए— गम्भीरं सत्वनाभिस्वरमरुणनखाक्ष्योष्ठताल्वङ्घ्रिजिह्वा हस्तं पर्वाद्विजत्वङ् नखकचकृशता पूर्णभालाननोरः। दीर्घं नासाकुचान्तर्नयनहनुभुजं, पृष्ठलिङ्गाढ्यजङ्घा ग्रीवाल्पोच्चं कृकाटीमुखनख- युगुरोराज्ञिकक्षा च नासा॥ (मुहूर्ततत्त्व 16, 7)
महापुरुषों के इन लक्षणों की संख्या मिलाकर कुल 33 होती हैं। वराहमिहिर ने गर्ग के मतानुसार कहा है कि जिसके तीन अङ्ग विस्तीर्ण, तीन गम्भीर, छह ऊँचे, चार लघु, सात रक्तवर्ण और पाँच अङ्ग लम्बे या सूक्ष्म होते हैं, वह राजा होता है। उत्पलभट्ट ने भी यह मत व्यक्त किया है। मनुष्य के

गुणानुसारेण नरलक्षणं —

सात्विकः सुकृती ज्ञानी (दाता!) राजसो विषयी भ्रमी।
तापसः पातकी लोभी(लोलः!) सात्विकोऽमीषु सत्तमः॥ 21॥

गुणानुसार सत्वगुण प्रधान मनुष्य पुण्यशील और ज्ञानी (दाता!) होते हैं; रजोगुणी मनुष्य विषयी और चञ्चल प्रकृति के और तमोगुणी मनुष्य पापी और लोभी प्रकृति के होते है।

सुधार्मिकलक्षणं —

सधर्मः सुभगो नीरुक् सुस्वप्नः सुनयः कविः।
सूचयत्यात्मनः श्रीमान्नरः स्वर्गगमागमौ॥ 22॥

जो धर्माश्रयी, सुन्दर, सुखपूर्वक जाग्रत हो सके, ऐसी निद्रा का स्वामी और सुस्वप्न देखने वाला, न्यायप्रिय और सुज्ञ-कवि हो, वह श्रीमान् नर अपना स्वर्ग से आना और फिर स्वर्ग में जाना सूचित करता है।

मानवयोन्योद्भूत नरलक्षणं —

निर्दम्भः सदयो दानी दान्तो दक्ष ऋजुः सदा।
मर्त्ययोनिसमुद्भूतो भावी तत्र पुनः पुमान्॥ 23॥

इसी प्रकार जो मनुष्य अदम्भी, दयालु, उदार, इन्द्रियों को वशीभूत करने में दक्ष और सदैव सरल स्वभाव का हो, वह मनुष्य योनि में से ही आया और निधनोपरान्त पुनः मनुष्य योनि में ही उत्पन्न होगा, ऐसा जाने।

तिर्यञ्चयोन्योद्भूत नरलक्षणं —

मायालोभक्षुधालस्य बह्वाहारादिचेष्टितैः।
तिर्यग्योनिसमुत्पत्तिं ख्यापयत्यात्मनः॥ 24॥

जो व्यक्ति कपटी, लोभी, भूखा, प्रमादी, बहुत खाने वाला और ऐसे ही अन्य लक्षणों वाला हो, वह उसका तिर्यञ्च योनि से आगमन और पुनः तिर्यञ्च योनि में ही गमन दर्शाता है।

नरकगामी नरलक्षणं —

इन अङ्गों का विभाग वराहमिहिर ने इस प्रकार किया है— त्रिषु विपुलो गम्भीरस्त्रिष्वेव षडुन्नतश्चतुर्ह्रस्वः। सप्तसु रक्तो राजा पञ्चसु दीर्घश्च सूक्ष्मश्च॥ नाभि स्वरः सत्त्वमिति प्रशस्तं गम्भीरमेतत् त्रितयं नराणाम्। उरो ललाटं वदनं च पुंसा विस्तीर्णमेतत् त्रितयं प्रशस्तम्॥ वक्षोऽथ कक्षा नखनासिकास्यं कृकाटिका चेति षडुन्नतानि। ह्रस्वानि चत्वारि च लिङ्गपृष्ठं ग्रीवा च जङ्घे च हितप्रदानि॥ नेत्रान्त पादकरताल्वधरोष्ठजिह्वा रक्ता नखाश्च खलु सप्त सुखावहानि। सूक्ष्माणि पञ्च दशनाङ्गुलिपर्वकेशाः साकं त्वचा कररुहा न च दुःखितानाम्। हनुलोचनबाहुनासिकाः स्तनयोरन्तरमत्र पञ्चमम्। इति दीर्घमिदं तु पञ्चकं न भवेत्येव नृणामभूभृताम्॥ (सविवृत्तिबृहत्संहिता 67, 84-88)

सरोगः स्वजनद्वेषी कटुवाङ्मूर्खसङ्गकृत।
शास्ति स्वस्य गतायातं नरो नरकवर्त्मनि॥ 25॥

जो मनुष्य रोगी, परिवार-द्वेषी, कटुवक्ता और मूर्ख लोगों की सङ्गति करने वाला हो, वह अपना नरक में से आना और निधनोपरान्त नरक में जाना बताता है।

नासिकानेत्रदन्तोष्ठ करकर्णाङ्घ्रिणा नराः।
समाः समेन विज्ञेया विषमा विषमेण तु॥ 26॥

जिन लोगों के नाक, आँख, दन्त, ओष्ठ, हाथ, कान और पाँव– ये सात अवयव सीधे हों, वे मनुष्य स्वभाव के सीधे होते हैं और उपर्युक्त सातों अवयव जिसके वक्रीय हो उनको टेढ़े स्वभाव के जानने चाहिए।

गत्यावयवानुसारेण यानादीनां लब्धिं —

गतिस्वरास्थित्वग्मांस नेत्रदिष्वङ्गकेषु च।
यानमाज्ञा धनं भोगः सुखं योषित् क्रमाद्भवेत्॥ 27॥

मनुष्य की गति के अनुसार ही उसे वाहन, स्वर के अनुसार आज्ञा, शरीर की रचना से धन, चमड़ी से भोग, माँस से सुख और नेत्र से स्त्री की प्राप्ति कही जाती है अर्थात् गति आदि छह वस्तुएँ जिस प्रकार की हों, वैसे ही वाहनादि छहों वस्तुएँ सुलभ होती हैं।

आवर्त्तादिलक्षणं च देहावयवफलादीनां —

आवर्तो दक्षिणे भागे दक्षिणः शुभकृन्नृणाम्।
वामे वामेऽतिनिन्द्यश्च दिगन्यत्वे तु मध्यमः॥ 28॥

पुरुष की दाहिनी ओर दक्षिणावर्त्त भौंरी हो तो शुभ और बायीं ओर वामावर्त हो तो बहुत ही अशुभ समझनी चाहिए। यदि दाहिनी ओर वामावर्त्त और बायीं ओर दक्षिणावर्त्त हो तो मध्यम जानना चाहिए।

उत्पातः पिटको लक्ष्म तिलको मशकोऽव्रणः।
स्पर्शनं स्फुरणं पुंसः शुभायाङ्गे प्रदक्षिणे॥ 29॥

पुरुष की दाहिनी ओर कोई शकुन, फोड़ा, चिह्न (लाञ्छन), तिल और छिद्र रहित मस हो और उधर ही स्पर्श व स्फुरण हो तो शुभकारी होते हैं।

वामभ्रुवां पुनर्वामेस्व्यंशकस्य नरस्य च।
घातोऽपि दक्षिणे कैश्चिन्नरस्याङ्गे शुभो मतः॥ 30॥

पुरुष की दाहिनी ओर के जो उत्तम लक्षण कहे गए, वे स्त्रियों की और स्त्री-लग्न में उत्पन्न हुए पुरुष के भी वाम ओर उत्तम जानने चाहिए। कतिपय शास्त्रकार* पुरुष के दाहिनी ओर खड्गादि से हुए घात को भी उत्तम बताते हैं।

यदेव शुभमशुभं वा लक्षणं बलवत्तदेवफलदं —

पुष्टं यदेव देहे स्याल्लक्षणं वाप्यलक्षणम्।
इतरद्बाध्यते तेन बलवत् फलदं पुनः (भवेत्!)॥ 31॥

मनुष्य के देह पर जो भी शुभ अथवा अशुभ लक्षण प्रबलता** से हो, वह अन्य सब लक्षणों को प्रभावशून्य कर देता है और स्वयं प्रबल होने से फल प्रदाता होता है।

अथ हस्तलक्षणं —

मणिबन्धात्परः पाणिस्तस्य लक्षणमुच्यते।
तत्र चाङ्गुष्ठ एकः स्याच्चतुस्त्रोऽङ्गुलयः पुनः॥ 32॥

मणिबन्ध से शरीर का जो भाग आया हो वह हाथ कहलाता है। उसका लक्षण अब कहता हूँ। हाथ में एक अँगूठा और चार दूसरी अङ्गुलियाँ होती हैं।

नामान्यासां यथार्थानि ज्ञेयान्यङ्गुलितः क्रमात्।
तर्जनी मध्यमानामा कनिष्ठा च चतुर्थिका॥ 33॥

अँगूठे की ओर से उन चारों अङ्गुलियों के क्रम से नाम तर्जनी, मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठा होते हैं। (ये नाम अर्थानुसार रखे गए हैं। जैसे तर्जना करे तर्जनी; मध्यभाग में आई वह मध्यमा; जिसकी विशेष संज्ञा नहीं, वह अनामिका और जो सबसे छोटी होती है वह कनिष्ठा कहलाती है)।

अकर्मकठिनः पाणिर्दक्षिणो वीक्ष्यते नृणाम्।
वामश्चवां पुनर्वामः स प्रशस्योऽतिकोमलः॥ 34॥

पुरुष का दाहिना हाथ कार्यादि करने से कठोर नहीं हुआ हो तो वह देखा जाता है और स्त्रियों का वाम हाथ देखा जाता है। यदि वह अति कोमल हो तो प्रशंसा करने योग्य होता है।

---

* ग्रन्थकार ने यहाँ समुद्र कृत ग्रन्थों का स्मरण किया है। समुद्रतिलक, सामुद्रिकशास्त्र, अङ्गविद्या, भविष्यपुराण, गरुडपुराण, बृहत्संहिता और उस पर भट्टोत्पलीय विवृत्ति, गर्गसंहिता, बार्हस्पत्यसंहिता, समाससंहिता, मुहूर्ततत्त्व, जगन्मोहन, हस्तसञ्जीवनादि ग्रन्थों में यह विषय विवृत्त हैं। यहाँ विस्तार भय के कारण अधिकोदाहरण नहीं दिए जा रहे हैं।

**सामुद्रतिलक में कहा है— यल्लक्ष्म पुनः शुभमपि करेरेखाप्रभृतिकं वसंवदति। बाह्याभ्यन्तरमपरं तत्र समुद्रेण निर्दिष्टम्॥ (लक्षणप्रकाश पृष्ठ 110)

श्लाघ्यश्चोष्णोऽरुणोऽस्वेदोऽच्छिद्रः स्निग्धश्च मांसलः।
श्लक्ष्णस्ताम्रनखो दीर्घाङ्गुलीको विपुलः करः॥ 35॥

गर्म, लाल, बिना पसीने का, छिद्र रहित, स्निग्ध, माँसल, कोमल, लाल नख से और लम्बी अङ्गुलियों से शोभित विशाल हाथ उत्तम होता है।

पाणेस्तलेन शोणेन धनी नीलेन मद्यपः।
पीतेनागम्यनारीगः कल्माषेण धनोज्झितः॥ 36॥

जिस मनुष्य की हथेली लाल हो, तो वह धनवान होता है। नीलवर्ण हो तो मद्यपान करता है। पीतवर्ण हो तो अगम्य स्त्री के साथ विषय-भोग करता है और चित्र-विचित्र वर्ण हो तो दरिद्री होता है।

दानोन्नते तले पाणेर्निम्ने पितृधनोज्झितः।
धनी सम्भूतनिम्ने स्याद्विषमे निर्धनः पुनः॥ 37॥

यदि हथेली ऊँची हो तो ऐसा व्यक्ति दाता होता है। दबी हुई हो तो वह पिता के द्रव्य से रहित होता हैं। गहरी होने पर भी अच्छी रेखा से युक्त हो तो वह धनाढ्य होता है और यदि विषम (ऊँची-नीची) हथेली हो तो निर्धन होता है।

अरेखं बहुरेखं वा येषां पाणितलं नृणाम्।
ते स्युरल्पायुषो निःस्वा दुःखिता नात्र संशयः॥ 38॥

जिसके हाथ में बिल्कुल रेखा नहीं हो अथवा हो तो बहुत-सी रेखाएँ हों, वह अल्पायुषी, दरिद्री और दुःखी होता है, इसमें कोई संशय नहीं है।

करपृष्ठं सुविस्तीर्णं पीनं स्निग्धं समुन्नतम्।
श्लाघ्यं गूढशिरंन्दृणां फणभृत्फणसन्निभम्॥ 39॥

जिस मनुष्य के हाथ में पीछे का भाग विस्तार वाला हो, पुष्ट, स्निग्ध, ऊँचा, भीतर की नसें नहीं दिखने से सुन्दर और सर्प के फन जैसा हो, तो वह प्रशंसा योग्य कहा जाना चाहिए।

विवर्णं परुषं रूक्षं रोमशं मांसवर्जितम्।
मणिबन्धसमं निम्नं न श्रेष्ठं करपृष्ठकम्॥ 40॥

यदि मनुष्य के हाथ का पिछला भाग कान्ति रहित, कठिन, शुष्क, रोमयुक्त, बिना माँस का, और मणिबन्ध जितना दबा हुआ हो तो वह श्रेष्ठ नहीं होता है।

मणिबन्धलक्षणं —

पाणिमूलं दृढं गूढं श्लाघ्यं सुश्लिष्टसन्धिकम्।
श्लथं सशब्दं हीनं च निर्धनत्वादिदुःखदम्॥ 41॥

जिस मनुष्य का मणिबन्ध दृढ़, गुप्त (जिसमें अस्थियाँ न दीखती हों) और

बराबर जोड़ से शोभित हो तो प्रशंसा योग्य जाने और ढीला, हिलाते समय कट्-कट् शब्द करने वाला और हीन हो तो निर्धनता जैसे दुःख देने वाला कहिए।

अङ्गुललक्षणं —

दीर्घनिर्मांसपर्वाणः सूक्ष्मा दीर्घाः सुकोमलाः।
सुघनाः सरला वृत्ताः स्त्रीन्नोरङ्गुलयः श्रिये॥ 42॥

स्त्रियों और पुरुषों की अङ्गुलियाँ लम्बी और मांस रहित जोड़ की सूक्ष्म, दीर्घ, मुलायम, घनी (सुदृढ़) सरल और गोल हो तो कल्याणकारी जाने।

यच्छन्ति विरलाः शुष्काः स्थूला वक्रा दरिद्रताम्।
शस्त्रघातं बहिर्नम्राश्चेटत्वं चिपिटाश्च ताः॥ 43॥

यदि अङ्गुलियाँ विभिन्न, शुष्क, स्थूलाकार और वक्र हों तो दरिद्रता तथा बाहर की ओर झुकी हुई हों तो शस्त्राघात और चपटी हों तो दासत्व देने वाली होती हैं।

अनामिकान्त्यरेखायाः कनिष्ठा स्याद्यदाधिका।
धनवृद्धिस्तदां पुंसां मातृपक्षो बहुस्तथा॥ 44॥

जिस व्यक्ति की अनामिका की अंत रेखा से कनिष्ठिका अधिक लम्बी हो तो उसके धनवृद्धि और ननिहाल के अधिक पक्ष को बताती है।

मध्यमाप्रान्तरेखाया अधिकं तर्जनी यदि।
प्रचुरस्तत्पितुः पक्षः श्रीश्च व्यत्ययतोऽन्यथा॥ 45॥

मध्यमा अङ्गुली की अन्तिम रेखा से यदि तर्जनी अधिक लम्बी हो तो पिता का पक्ष सुदृढ़ और लक्ष्मी की प्रचुर कृपा होती है।

अङ्गुष्ठस्यङ्गुलीनां वा यद्यूनाधिकता भवेत्।
धनैर्धान्यैस्तदा हीनो नरः स्यादायुषापि च॥ 46॥

अँगूठे और शेष चार अङ्गुलियों में यदि न्यूनाधिकता हो तो ऐसा मनुष्य धन, धान्य और आयुष्य से हीन होता है।

मणिबन्धे यवश्रेण्यस्तिस्त्रश्चेत्तन्नृपो भवेत्।
यदि ताः पाणिपृष्ठेऽपि ततोऽधिकतरं फलम्॥ 47॥

यदि मणिबन्ध पर तीन जौ की पंक्तियाँ हो तो ऐसा व्यक्ति राजा होता है। इसी प्रकार यदि जौ की पंक्तियाँ हाथ के पीछे भी हों तो वह राज्य से भी अधिक फल प्राप्त करता है।

द्वाभ्यां च यवमालाभ्यां राजमन्त्री धनी बुधः।
एकया यवपङ्क्त्या तु श्रेष्ठा बहुधनोऽचितः॥ 48॥

यदि मणिबन्ध पर जौ की पंक्तियाँ हों तो ऐसा व्यक्ति राज्य में मन्त्री होता है या बड़ा धनाढ्य अथवा पण्डित होता है और एक ही पंक्ति हो तो लोक समुदाय में श्रेष्ठ, पूजित और बड़ा धनवान होता है।

कररेखालक्षणं —

सूक्ष्माः स्निग्धाश्च गम्भीराः प्रलम्बा मधुपिङ्गलाः।
अव्यावृत्तागतच्छेदाः करे रेखाः शुभा नृणाम्॥ 49॥*

मनुष्य के हाथ की रेखाएँ पतली, स्निग्ध (स्नेहयुक्त), गहरी, लम्बी, मधु जैसे भूरे वर्ण की अव्यावृत्ता (पीछे की ओर टेढ़ी) नहीं हुई हों और छिद्र रहित हों तो शुभ जाननी चाहिए।

त्यागाय शोणगम्भीराः सुखाय मधुपिङ्गलाः।
सूक्ष्माः श्रियै भवेयुस्ताः सौभाग्याय समूलकाः॥ 50॥

मनुष्य के कर रेखा लाल, गहरी हों तो उदारता देती है। मधु जैसे भूरे वर्ण की हों तो सुखद, पतली हो तो लक्ष्मीदायक और मूल से अन्त तक छिद्र रहित हों तो सौभाग्य देती है।

छिन्नाः सपल्लवा रूक्षा विषमाः स्थानकच्युताः।
विवर्णाः स्फुटिताः कृष्णा नीलास्तन्व्यश्च नोत्तमाः॥ 51॥

व्यक्ति के हाथ में रेखा छिद्री हुई, शाखा वाली, सूखी, आड़ी-औंधी, स्थान-भ्रष्ट, विवर्ण, फूटी हुई, काली, नीलवर्ण की और पतली हो तो उत्तम नहीं होती है।

क्लेशं सपल्लवा रेखा छिन्ना जीवितसंशयम्।
कदन्नं परुषा द्रव्य विनाशं विषमार्पयेत्॥ 52॥

सदा शाखा वाली रेखा क्लेश देती है। छिद्री हुई जीवन का संशय बताती है। कठोर रेखा खराब अन्नप्रद और आड़ी-तिरछी रेखा विनाश करती है।

मणिपबन्धात् पितुर्लेखा करभात् विभवायुषोः।
द्वे लेखे यान्ति तिस्त्रोऽपि तर्जन्यङ्गुष्ठकान्तरम्॥ 53॥

हाथ में मणिबन्ध से पिता की रेखा निकलती है और करभ (कनिष्ठा के नीचे के भाग) से धन और आयुष्य की दो रेखाएँ निकलती है। तीनों रेखाएँ तर्जनी और अँगुष्ठ इन दोनों के बीच में जाती हैं।

येषां रेखा इमास्तिस्त्रं सम्पूर्णा दोषवर्जिताः।
तेषां गोत्रधनायूंषि सम्पूर्णान्यन्यथा न तु॥ 54॥

जिसके हाथ की उपर्युक्त तीनों रेखाएँ सम्पूर्ण और निर्दोष हों, उसका कुल,

---

* यहाँ से कई श्लोकों को वीरमित्रोदयकार मित्र मिश्र ने 'लक्षणप्रकाश' में उद्धृत किया है।

धन और आयुष्य परिपूर्ण होता है। यदि ये रेखाएँ बराबर न हो, तो उक्त बातों में बहुत अन्तर आता है।

उल्लङ्घ्यन्ते च यावन्त्योऽङ्गुल्यो जीवितरेखया।
पञ्चविंशतयो ज्ञेयास्तावन्त्यः शरदां बुधैः॥ 55॥

करभ (कनिष्ठा के नीचे के भाग) से निकली आयुष्य रेखा जितनी अङ्गुलियों को उल्लङ्घन कर जाए उतनी आयु की पच्चीसी है, ऐसा सुज्ञानियों को जानना चाहिए।

मणिबन्धोन्मुखा आयुर्लेखायां ये तु पल्लवाः।
सम्पदे ते बहिर्ये ते विपक्षेऽङ्गुलिसम्मुखाः॥ 56॥

आयुष्य की रेखा से मणिबन्ध के सामने शाखा गई हों वे लक्ष्मी देने वाली और अङ्गुलियों की ओर गई हों वे आपत्तिकारक जाननी चाहिए।

गत्वा मिलियोः प्रान्तं द्रव्यपित्रोश्च रेखयोः।
गृहबन्धो विनिर्दिष्टो गृहभङ्गोऽन्यथा पुनः॥ 57॥

धन और पिता की रेखा यदि प्रान्त पर मिल जाए तो घर-परिवार अच्छी तरह से चले और यदि ये दो रेखाएँ न मिली हों तो घर भङ्ग होता है, ऐसा जानें।

ऊर्ध्वरेखालक्षणसफलं —

ऊर्ध्वा रेखा मणेर्बन्धादूर्ध्वगा सा च पञ्चधा।
अङ्गुष्ठाश्रयिणी सौख्य राज्यलाभाय जायते॥ 58॥

मणिबन्ध से ऊँची गई हुई रेखा ऊर्ध्वरेखा कहलाती है। यह पाँच प्रकार की होती है। इनमें से पहली मणिबन्ध से अँगुष्ठ तक जाती है, वह राज्य व सुख के लाभ के हेतु से कही है।

राजा राजसदृशो वा तर्जनगितया तया।
मध्यमां गतयाचार्यः ख्यातो राजाथ सैन्यपः॥ 59॥

इसी प्रकार दूसरी मणिबन्ध से तर्जनी तक ऊर्ध्वरेखा जाती है, उससे व्यक्ति राजा या राजा के समान ऋद्धिशाली होता है। तीसरी ऊर्ध्वरेखा मणिबन्ध से मध्यमा तक जाती है। उससे व्यक्ति आचार्य, प्रख्यात राजा अथवा सेनापति होता है।

अनामिका प्रयान्त्या तु सार्थवाहो महाधनः।
कनिष्ठा गतया श्रेष्ठाः सुप्रतिष्ठा भवेद्ध्रुवम्॥ 60॥

इसी तरह चौथी मणिबन्ध से अनामिका को जाती है, इससे बड़ा धनवान सार्थवाह या चलित-व्यापारी होता है। पाँचवीं ऊर्ध्वरेखा मणिबन्ध से कनिष्ठा को जाती है, इससे व्यक्ति लोक में निश्चित ही उत्तम और प्रतिष्ठित होता है।

गृहिणीबोधिनीरेखा —

आयुर्लेखाकनिष्ठान्तं लेखाः स्युर्गृहिणीप्रदाः।
समाभिः शमशीला स्याद्विषमाभिः कुशीलिका॥ 61॥

आयुष्य की रेखा से कनिष्ठा तक की जो रेखा होती है उसे स्त्रियों की जाननी चाहिए। यदि वह रेखा सम हो तो शीलवन्त स्त्री मिलेगी और विषम हो तो दुराचारिणी भार्या मिलती है।

भ्रातृभगिनीबोधिनीरेखादीनां —

आयुर्लेखावसानाभिर्लेखाभिर्मणिबन्धतः।
स्पष्टाभिर्भ्रातरोऽस्पष्टताभिर्जामयः पुनः॥ 62॥

मणिबन्ध से आयुष्य रेखा तक जितनी रेखाएँ स्पष्ट हों, व्यक्ति के उतने भाई जानना चाहिए और जितनी अस्पष्ट हों उतनी जामय (बहनें) जाननी चाहिए।

अस्पष्टाभिरदीर्घाभिर्भ्रातृजाम्यायुषस्त्रुटिः।
यवैरङ्गुष्ठमूलस्थैस्तत्सङ्ख्याः सूनवो नृणाम्॥ 63॥

भाई और बहन की रेखाएँ यदि अस्पष्ट और छोटी हों तो अपने भाई-बहनों का आयुष्य खण्डित जानना चाहिए और अंगुष्ठ के मूल से जितने जौ हों, उतने पुत्र जानना चाहिए।

यवानुसारेणविद्यादिफलं —

यवैरङ्गुष्ठमध्यस्थैर्विद्याख्यातिविभूतयः।
शुक्लपक्षे तथा जन्म दक्षिणाङ्गुष्ठजैश्च तैः॥ 64॥

अँगूठे के मध्य भाग में यदि जौ हों तो उससे विद्या, ख्याति और लक्ष्मी प्राप्त होती है। ये जौ यदि दाहिने अँगूठे के मध्य भाग में हों तो उस मनुष्य का जन्म निश्चित ही मास के शुक्ल पक्ष में हुआ है, ऐसा जानना चाहिए।

कृष्णपक्षे नृणां जन्म वामाङ्गुष्ठगतैर्यवैः।
बहूनामथवैकस्य यवस्य स्यात्समं फलम्॥ 65॥

बायें अँगूठे में यदि जौ हों तो उस व्यक्ति का जन्म कृष्णपक्ष का जानें। एक अथवा अधिक जौ हों तो उन सब का फल भी एक-सा होता है।

मत्स्यमुखफलं —

एकोऽप्यभिमुखः स्वस्य मत्स्यः श्रीवृद्धिकारणम्।
सम्पूर्णौ किं पुनस्तौ द्वौ पाणिमूले स्थितौ नृणाम्॥ 66॥

व्यक्ति के हाथ के मूल भाग में यदि एक ही मत्स्य सीधे मुँह का हो तो उससे लक्ष्मी की वृद्धि होती है और यदि सम्पूर्ण मत्स्य हो तो फिर धन-वैभव का कहना

ही क्या, वृद्धि ही होगी।

शुभफलदचतुर्चिह्नाः

शफरो मकरः शङ्खः पद्मः पाणौ स्वसम्मुखः।
फलदः सर्वदैवान्तकाले पुनरसम्मुखः॥ 67॥

शफर (मत्स्य की एक प्रजाति), मकर, शङ्ख और कमल– ये चार चिह्न हाथ में अपने सम्मुख हों तो सदैव उत्तम फलप्रद जाने। यदि सम्मुख न हों तो अन्त समय पर शुभफल देने वाले होते हैं।

शतं सहस्रं लक्षं च कोटि दद्याद्यथा क्रमम्।
मीनादयः करे स्पष्टाश्छिन्नभिन्नादयोऽल्पदाः॥ 68॥

मत्स्य आदि उक्त चिह्न यदि हाथ में बहुत स्पष्ट हों तो व्यक्ति को क्रमशः सौ, हजार, लाख और करोड़पति बनाते हैं परन्तु यदि छिन्न-भिन्न और अस्पष्टादि हों तो अल्प द्रव्य ही प्रदान करते हैं।

सिंहासनादिलक्ष्मफलं —

सिंहासनदिनेशाभ्यां नन्द्यावर्तेन्दुतोरणैः।
पाणिरेखास्थितैर्मर्त्याः सार्वभौमा न संशयः॥ 69॥

यदि मनुष्य की हस्तरेखा में सिंहासन, सूर्य, नन्द्यावर्त चिह्न, चन्द्रमा और तोरण हों तो वह मनुष्य सार्वभौम राजा (बहुत प्रभुत्व-प्रभाव सम्पन्न) हो, इसमें कोई संशय नहीं जाने।

छत्रचामरादिफलं —

आतपत्रं करे यस्य दण्डेन सहितं पुनः।
चामरद्वितयं चापि चक्रवर्ती स जायते॥ 70॥

जिसकी हस्तरेखा में यदि दण्ड सहित छत्र और दो चँवर होते हैं, वह निश्चित ही चक्रवर्ती राजा होता है।

श्रीवत्सवज्रप्रासादलक्ष्मफलं —

श्रीवत्सेन सुखी चक्रेणोर्वीशः पविना धनी।
भवेद्देवकुलाकार रेखाभिर्धार्मिकः पुमान्॥ 71॥

जिस मनुष्य के हाथ में श्रीवत्स चिह्न हो तो वह सुखी होता है। वज्र हो तो राजा और यदि देवमन्दिर के आकार की रेखाएँ हों तो वह धार्मिक प्रवृत्ति का होता है।

यानादिलक्ष्मफलं —

याप्ययानरथाश्वेभवृषरेखाक्विताः कराः।
येषां ते परसैन्यानां हठग्रहणकर्मठाः॥ 72॥

जिस मनुष्य के हाथ में पालकी-यान, रथ, अश्व, गज और वृषभ—ये पाँच चिह्न रेखाकार हो तो वह मनुष्य शत्रुसैन्य को हठपूर्वक पकड़ने में सिद्धहस्त होता है।

षटत्रिंशायुधफलं —

एकमप्यायुधं पाणौ षट्त्रिंशन्मध्यतो यदि।
तदा परैरजेयः स्याद्धीरो भूमिपतिर्जयी॥ 73॥

छत्तीस प्रकार के आयुधों* में से यदि एक भी आयुध मनुष्य के हाथ में रेखारूप में हो तो उसे शत्रु नहीं जीत सकते और वह जयवन्त राजा होता है।

जलयानफलं —

उडुपो मङ्गिनी पोतो यस्य पूर्णाः करान्तरे।
स रूप्यस्वर्णरत्नानां पात्रं सांयात्रिकः पुमान्॥ 74॥

यदि नौका, मङ्गिना (छोटा नौका), पोत** (जहाज)— ये तीन चिह्न हाथ में पूर्णतः हों, तो वह मनुष्य अपने जीवन में स्वर्ण, चाँदी और रत्न इन तीनों का स्वामी और सांयात्रिक होता है।

हलानुसारेणकृषीवलाः

त्रिकोणरेखया सीरमुसलोलूखलादिनी।
वस्तुना हस्तजातेन पुरुषः स्यात्कृषीवलः॥ 75॥

यदि हल, मूसल, ऊखल और त्रिकोण रेखादि चिह्न मनुष्य के हाथ में रेखारूप में हों तो वह व्यक्ति कृषीवल या किसान होता है।

गोमन्तः स्युर्नराः सौधै(स्पष्टै!) र्दामभिः पाणिसंस्थितैः।
कमण्डलुध्वजौ कुम्भस्वस्तिकौ श्रीप्रदौ नृणाम्॥ 76॥

---

* अपराजितपृच्छा में विश्वकर्मा ने छत्तीस प्रकार के आयुधों के नाम इस प्रकार बताए हैं— (1.) त्रिशूल, (2.) छूरिका, (3.) खड्ग, (4.) खेट या ढाल, (5.) खट्वाङ्ग, (6.) धनुष, (7.) बाण, (8.)पाश, (9.) अङ्कुश, (10.) घण्टा, (11.) रिष्टि, (12.) दर्पण, (13.) दण्ड, (14.) शङ्ख, (15.) चक्र, (16.) गदा, (17.) वज्र, (18.) शक्ति, (19.) मुद्गर, (20.)भृशुण्डी, (21.) मुशल, (22.) परशु, (23.) कर्त्तिका, (24.) कपाल या खोपड़ी-खप्पर, (25.) शिर या शत्रु का, (26) सर्प, (27.) शृङ्ग या सींग, (28.) हल, (29.)कुन्त या भाला, (30.) पुस्तक, (31.) माला, (32.) कमण्डल, (33.) शूचि या सरवा, (34.) पत्र-कमल, (35.) पानपात्र और (36.) योगमुद्रा— आयुधानोमतो वक्ष्ये नामसङ्ख्यावलिं क्रमात्। त्रिशूलच्छुरिकाखड्गखेटाः खट्वाङ्गकं धनुः॥ बाणपाशाङ्कुशा घण्टारिष्टिदर्पणदण्डकाः। शङ्खश्चकं गदावज्रशक्तिमुद्गरभृशुण्डयः॥ मुशलः परशुश्चैव कर्त्तिका च कपालकम्। शिरः सर्पश्च शृङ्गं च हलः कुन्तस्तथैव च॥ पुस्तकाक्षकमण्डलु श्रुचयः पद्मपत्रके। योगमद्रा तथा चैव षट्त्रिंशच्छत्रकाणि च॥ (अपराजित. 235, 10-13)

**भोजराजकृत 'युक्तिकल्पतरु' में विविध प्रकार की नौकाओं, जलयानों का वर्णन आया है। शिल्परत्नं में नौका निर्माण की विधि आई है। सामुद्रिकतिलक में यह श्लोक इस रूप में आया है—उडुपो वा बेडी वा पोतो वा यस्य करतले पूर्णः। धनकाञ्चनरत्नानां पात्रं सांयात्रिक स स्यात्॥ (सामुद्रिक. 1,175)

जिसके हाथ में गोठ-दामन (गोबन्धन स्थल व गाय के गले में बान्धने का धागा) का चिह्न हो, वह मनुष्य बहुत गौओं का स्वामी होता है और जिसके हाथ में कमडण्लु, ध्वज, कुम्भ व स्वस्तिक– ये चार चिह्न हों वह मनुष्य धनवान होता है।

प्रतिरेखाधर्मरेखाश्च फलं —

अनामिकान्त्यपर्वस्था प्रतिरेखा प्रभुत्वकृत्।
ऊर्ध्वा पुनस्तले तस्य धर्मरेखेयमुच्यते॥ 77॥

अनामिका अङ्गुली के अन्तपर्व पर विद्यमान आड़ी रेखा प्रभुता प्रदायक होती है और उसी अनामिका के नीचे ऊर्ध्वरेखा हो तो वह धर्म रेखा कहलाती है।

रेखाभ्यां मध्यमास्थाभ्यामाभ्यां प्रोक्तविपर्ययः।
तर्जनीगृहबन्धान्तर्लेखा स्यात्सुखमृत्युदा॥ 78॥

उपर्युक्त दोनों रेखाएँ यदि मध्यमा अङ्गुली के नीचे हों, तो वह मनुष्य दरिद्री और अधर्मी होता है और तर्जनी अङ्गुली व गृहबन्ध के मध्य में रेखा हो तो वह सुखपूर्वक मरण देने वाली होती है।

अङ्गुष्ठपितृरेखान्तस्तिर्यग्रेखा पदप्रदा।
अपत्यरेखाः सर्वाः स्युर्मत्स्याङ्गुष्ठतलान्तरे॥ 79॥

यदि अँगूठे और पिता की रेखा के मध्य में तिर्यक् रेखा हो तो वह पद व पदोन्नति देने वाली होती है। मत्स्य व अँगूठे के बीच की रेखाओं से सन्तति की जाननी चाहिए।

अङ्गुष्ठस्य तले यस्य रेखा काकपदाकृतिः।
तस्य स्यात्पश्चिमे काले विपत्तिः शूलरोगतः॥ 80॥*

जिस हाथ में के अँगूठे के तले कौए के पाँव जैसी रेखा हो, तो वह मनुष्य अपनी अन्तिम अवस्था में शूल रोग से मरता है।

श्लिष्टान्यङ्गुलिमध्यानि द्रव्यसञ्चयहेतवे।
तानि चेच्छिद्रयुक्तानि त्यागशीलस्ततो नरः॥ 81॥

चारों अङ्गुलियों की विभिन्नता यदि छिद्र रहित हो अर्थात् चारों अङ्गुलियाँ सम्मिलित सीधी जोड़ वाली और मध्य में छिद्र न दिखाई दे तो ऐसा व्यक्ति धन-सम्पदा का बचत करता है और यदि मध्य में छिद्र दिखाई दे तो ऐसा व्यक्ति त्यागशील होता है।

तर्जनीमध्यमारन्ध्रे मध्यमानामिकान्तरे।
अनामिकाकनिष्ठान्तश्छिद्रे सति यथाक्रमम्॥ 82॥

---

* इसके बाद वीरमित्रोदय के 'लक्षणप्रकाश' में कहा गया है— अत्र हेमाद्रिणा आयूरेखामणिबन्धमध्ये प्रदेशिनीं प्रापिणीभिस्तिसृभिर्लेखाभिः शतमायुरित्युक्तम्। तच्चोदहृतबहुवचनविरुद्धत्वान्मूलानुपलम्भाच्चोपेक्षणीयम्॥ (लक्षणप्रकाश पृष्ठ 78)

जन्मतः प्रथमे त्र्यंशे(त्वंशे!) द्वितीये च तृतीयके।
भोजनावसरे दुःख केऽप्याहुः श्रीमतामपि॥ 83॥
आवर्ता दक्षिणाः शस्ताः साङ्गुष्ठाङ्गुलिपर्वसु।

इत्यङ्गुलीलक्षणं।

किसी की हथेली में तर्जनी व मध्यमा के मध्य छिद्र दीखे तो आयु के प्रथम तृतीयांश (तीसरे भाग) में, मध्यमा और अनामिका के बीच में छिद्र हो तो आयु के द्वितीय तृतीयांश और अनामिका व कनिष्ठा के मध्य में छिद्र दिखाई दे तो आयु के तृतीय तृतीयांश में बड़े भाग्यशाली लोग भी भोजन को लेकर दुखी होते हैं, ऐसा कतिपय आचार्यों का मत है। अँगूठे और अन्य चारों अङ्गुलियों के अग्रभाग में दाहिनी ओर आवर्त (भँवरियाँ) हों तो उनको श्रेष्ठ जानना चाहिए।

अथ नखलक्षणं —

ताम्रस्निग्धोचिछखोतुङ्गपर्वार्धोत्था नखाः शुभाः॥ 84॥

(हथेली के नाखून यदि) लाल, स्निग्ध, अर्ण वाले, ऊँचे और अन्तिम पर्व (जोड़) के अर्द्ध भाग से निकले हुए हों तो शुभ जानने चाहिए।

श्वेतैर्यतित्वमस्थाभैर्नखैः पीतैः सरोगता।
पुष्पितैर्दुष्टशीलत्वं क्रौर्यं व्याघ्रोपमैर्नखैः॥ 85॥

जिसके नख श्वेत हों तो यतिपन, अस्थियों जैसे वर्ण के हों तो दरिद्रता, पीले हों तो रोग, पुष्प वाले (श्वेत बिन्दु युक्त) हों तो कुशीलपन और बाघनख जैसे हों तो क्रूरपन को दर्शाते हैं।

शुक्त्याभैः श्यामलैः स्थूलैः स्फुटिताग्रैश्च नीलकैः।
अद्योतरूक्षवक्रैश्च नखैः पातकिनोऽधमाः॥ 86॥

जिनके नख सीप जैसे, श्यामवर्ण, स्थूलाकार, अग्रभाग में फूटे हुए, नीलवर्ण, निस्तेज, सूखे हुए और वक्री हों वे अधम या पापी जानने चाहिए।

नखेषु बिन्दवः श्वेताः पाण्योश्चरणयोरपि।
आगन्तवः प्रशस्ताः स्युरिति भोजनृपोऽभ्यधात्॥ 87॥[1]

हाथ और पैर के नख पर भी यदि श्वेत बिन्दु उत्पन्न होकर कई दिन रहने के उपरान्त नष्ट हो जाते हैं तो वे श्रेष्ठ है, ऐसा भोजराज* का मत है।

---

* लक्षणप्रकाश में यह श्लोक इस प्रकार आया है— अपसव्यसव्यकरयोर्नखेषु सितबिन्दवश्चरणयोर्वा। आगन्तवः प्रशस्ताः पुरुषाणां भोजराजमतम्॥ (पृष्ठ 81) मित्रमिश्र ने इस श्लोक को सामुद्रतिलक से उद्धृत बताया है। सामुद्रतिलककार ने भोजकृत किसी सामुद्रिकशास्त्र का होना स्वीकारा है— श्रीभोजनृपसुमन्तप्रभृतीनामग्रतोपि विद्यन्ते। सामुद्रिकशास्त्राणि प्रायो गहनानि तानि परम्॥ (सामुद्रिकतिलक 1, 11) साथ ही सामुद्रिकतिलककार ने (1, 199 पर) उक्त श्लोक दिया भी है।

तर्जन्यादिनखैर्भग्नैर्जातमात्रस्य तु क्रमात्।
अर्धत्र्यंशचतुर्थांशाष्टांशाः स्युः सहजायुषः॥ 88॥

मनुष्य की तर्जनी, मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठा– इन चार अङ्गुलियों में एक अङ्गुली का जन्म से ही नख वक्र हो तो ऐसे मनुष्य क्रमशः पचास वर्ष, तैंतीस वर्ष और चार महीने, पच्चीस वर्ष और साढ़े बारह वर्ष तक जीते हैं।

अङ्गुष्ठस्य नखे भग्ने धर्मतीर्थरतो नरः।
कूर्मोन्नतेऽङ्गुष्ठनखे नरः स्याद्भाग्यवर्जितः॥ 89॥

इति वरलक्षणम्।

जिस व्यक्ति का अँगूठा वक्र हो वह मनुष्य धर्म और तीर्थसेवन करता है और जिसके अँगूठे का नख कछुए की पीठ की भाँति ऊँचा हो, वह भाग्यहीन होता है।

अधुना वधूलक्षणोच्यते —

बन्धुलक्षणलावण्य कुलजात्याद्यलङ्कृताम्।
कन्यकां वृणुयाद्रूपवतीमव्यङ्गविग्रहाम्॥ 90॥

(विवाहादि के प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि) जो भाइयों वाली बहन हो, उत्तम लक्षणों से परिपूर्ण हो, लावण्यमय, उच्च कुल, उत्तम जाति, रूपवती और जिसके शरीर के अवयव में कोई कमी नहीं हो, ऐसी कन्या से पुरुष को विवाह करना चाहिए।

कन्यावयविचारं —

अष्टमाद्वर्षतो यावद्वर्षमेकादशं भवेत्।
तावत्कुमारिका लोके न्याय्यमुद्वाहमर्हति॥ 91॥

कन्या आठवें वर्ष से ग्यारहवें वर्ष तक लोक समुदाय में कुमारी कही जाती है। इसलिए न्यायतः (इसके बाद, वर्तमान में अठारह वर्ष के बाद) वह रीत्यानुसार विवाह करने योग्य है।*

बाल्यावस्थाद्दशलक्षणाः

पादगुल्फौ च जङ्घे च जानुनी मेढ्रमुष्ककौ।
नाभिकट्यौ च जठरं हृदयं च स्तनान्वितम्॥ 92॥
जत्रुबाहू तथैवौष्ठ कन्धरे दृग्भ्रुवौ तथा।
भालमौली दश क्षेत्राण्येतान्याबाल्यतोऽङ्गके॥ 93॥

---

* धाराधिप भोज का मत है कि आठ वर्ष की लड़की गौरी व दस वर्ष की होने पर कन्या कही जाती है, जब वह बारह वर्ष की होती है तब रजस्वला होती है—अष्टवर्षा भवेद्गौरी दशवर्षा तु कन्यका। सम्प्राप्ते द्वादशे वर्षे परतस्तु रजस्वला॥ (राजमार्तण्ड 392)

कन्या में 1. पाँव और गुल्फ, 2. जांघ और जानु, 3. लिङ्ग और अण्ड, 4. नाभि और कटी, 5. पेट, 6. स्तन और हृदय, 7. जत्रु (ग्रीवा और भुजा का जोड़) और भुजा, 8. ओठ और कण्ठ, 9. नेत्र और भृकुटि, 10. कपाल और मस्तक– ये दश क्षेत्र बाल्यावस्था से ही शरीर में होते हैं।

एकैकक्षेत्रसम्भूतं लक्षणं वाप्यलक्षणम्।
दशभिर्दशभिर्वर्षैस्त्रीत्रोदत्ते निजं फलम्॥ 94॥

उक्त एक-एक क्षेत्र के शुभाशुभ लक्षण स्त्री पुरुषों को क्रम से दस वर्ष में फल देने वाले कहे गए हैं।

यत्पादाङ्गुलयः क्षोणीं कनिष्ठाद्याः स्पृशन्ति न।
एकद्वित्रिचतुः सङ्ख्यान् क्रमात्सा मारयेत्पतीन्॥ 95॥

जिस स्त्री के पाँव की कनिष्ठा प्रमुख चार अङ्गुलियों में कनिष्ठा से लगाकर एक, दो, तीन अथवा चारों अङ्गुलियाँ चलते समय भूमिपर न अटकती हो वह स्त्री क्रमशः एक, दो, तीन और चार भर्तार का हनन करने वाली कही गई है।

पादाङ्गुलीलक्षणं —

यत्पादाङ्गुलिरेकापि भवेद्धीना कथञ्चन।
येन केनापि सा सार्धं प्रायः कलहकारिणी॥ 96॥*

जिस स्त्री के पाँव की एकाध अङ्गुली किसी प्रकार से छोटी हो तो वह स्त्री जिस किसी के साथ कलह करने वाली होती है।

अल्पवृत्तेन वक्रेण शुष्केणलघुनापि च।
चिपिटेनातिरिक्तेन पादाङ्गुष्ठेन दूषिता॥ 97॥

जिस स्त्री के पाँव का अँगूठा किञ्चित् गोल, टेढ़ा, सूखा हुआ, छोटा, चपटा या लम्बा और दूसरी अङ्गुलियों से अलग पड़ गया हो, वह स्त्री दोषयुक्त होती है।

कृपणा स्यान्महापार्ष्णिर्दीर्घपार्ष्णिस्तु कोपना।
दुःशीलोन्नतपार्ष्णिश्च निन्द्या विषमपार्ष्णिका॥ 98॥

जिस स्त्री के पाँव का तल या पटरी बड़ी हो वह कृपण होती है। लम्बी हो वह क्रोधी होती है। ऊँची हो वह दुराचारिणी और नीची हो वह निन्दनीय कही है।

अन्यान्य अशुभलक्षणं —

---

* जगन्मोहन में समुद्र का मत है— यस्या न स्पृशते भूमिमङ्गुली च कनिष्ठिका। भर्तारं प्रथमं हत्वा द्वितीयेन सह स्थिता॥ यस्या न स्पृशते भूमिं कनिष्ठा विरला द्विजाः। सन्नतभ्रूकुटीगण्डा पुंश्चली चाप्यभागिनी॥ यस्या अनामिका ह्रस्वा तां विद्यात्कलहप्रियाम्। अङ्गुष्ठं तु व्यतिक्रम्य यस्याः पादे प्रदेशिनी॥ कुमारी कुरुते जारं यौवनस्यैव का कथा। (लक्षणप्रकाश पृष्ठ 133)

उच्छलद्धूलिचरणा सर्वस्थूलमहाङ्गुलिः।
बहिर्विनिपतत्पादा दीर्घपादप्रदेशिनी॥ 99॥
विरलाङ्गुलिकौ स्थूलौ पृथू पादौ च बिभ्रती।
सशब्दगमना स्थूलगुल्फा स्वेदयुतांह्रिका॥ 100॥

जो चलते समय पाँव से धूल उड़ाती हो; जिसके पाँव का अँगूठा दूसरी अङ्गुलियों से अधिक मोटा हो; जो चलते हुए आजू-बाजू बाहर रखती हो, जिसके पाँव का तर्जनी बहुत लम्बी हो; जिसके पाँव छूटी हुई अङ्गुली के मोटे और चौड़े हों; चलते हुए जिसके पैर में शब्द हो; जिसके जानु मोटे हों; जिसके पाँव पर पसीना बहुत आता हो (ऐसी कन्या सदोषा जाननी चाहिए)।

अन्यदप्याह —

उद्बद्धपिण्डिका स्थूल जङ्घा वायसजङ्घिका।
निर्मांसघटकच्छाय विश्लिष्टकृशजानुका॥ 101॥
बहुधारप्रस्रविका शुष्कसकटकट्यपि।
चतुर्विंशतितो न्यूनाधिकाङ्गुलकटी नता॥ 102॥
मृदङ्गयवकूष्माण्डो दरिकात्युच्चनाभिका।
दधती वलितं रोमावर्तिनं कुक्षिमुन्नतम्॥ 103॥

जिस स्त्री के पाँव की पिण्डल ऊँची और बन्धी हुई जैसी हो; जिसकी पिण्डलियाँ मांस रहित; घड़े के पैंदे जैसे; ढुलमुल; मोटे और कृश हों; जिसकी लघुनीति बहुत धारा वाली हो; जिसकी कमर सूखी; तंग और चौड़ाई में 24 अङ्गुल से कम या अधिक हो, जिसका पेट मृदङ्ग; जौ या भूरे कद्दू जैसा हो; जिसकी नाभि बहुत ऊँची हो; जिसकी कुक्षी करचली वाली; केश की भँवरी वाली और ऊँची हो (वह सदोषा होती है)।

अन्यदपि —

अष्टादशाङ्गुलन्यूनाधिकवक्षोरुहान्तरा।
तिलकं लक्ष्म वा श्यामं दधाना वामके स्तने॥ 104॥
कुचे वराङ्गेपार्श्वेऽपि वाम उच्चे मनाक् सति।
नारीप्रसविनी नारी दक्षिणे च पर (नर!) प्रसूः॥ 105॥
सङ्कीर्णपृथुलप्रोच्च निर्मांसांसयुतापि च।
स्थूलोच्चकुटिलस्कन्धा निम्ननिर्मांसकक्षिका॥ 106॥

जिसके दोनों स्तनों के बीच 18 अङ्गुल से न्यूनाधिक अन्तर हो; जिसके बायें स्तन पर तिल अथवा कोई काला चिह्न हो (स्त्री का बायाँ स्तन बायीं योनि का भाग

तथा बायाँ पासा जो दाहिने से ऊँचा हो तो वह कन्या को जन्म देती है और उपर्युक्त तीनों अवयव यदि बायें से दाहिनी ओर ऊँचे हों तो वह पुत्र को जन्म देती है अतएव) जिसका बायाँ स्तन बायीं गुह्याङ्ग का भाग और बायाँ पासा ऊँचा हो; जिसका खभा तंग; चौड़ा और मांस रहित हो; जिसका कंधा ऊँचा और टेढ़ा हो; जिसकी कुक्षी गहरी और मांस रहित हो (वह सदोषा है)।

तथा चान्यदप्याह —

मेषवल्लघुकग्रीवा दीर्घग्रीवा बकोष्ट्रवत्।
व्याघ्रास्या श्यामचिबुका हास्ये कूपकपोलिका॥ 107॥
श्यामश्वेतस्थूलजिह्वातिहासा काकतालुका।
जम्बूतरुफलच्छाय दशनावलिपीठिका॥ 108॥
आकेकराक्षी मार्जार नेत्रा पारापतेक्षणा।
कृष्णाक्षी चञ्चलालोकातिमौना बहुभाषिणी॥ 109॥

जिसकी ग्रीवा मेंढ़े जैसी छोटी अथवा बगुले अथवा ऊँट जैसी लम्बी हो; जिसका मुँह बाघ जैसा हो; जिसकी ठोड़ी काली हो; हँसते हुए जिसके गाल में कूप जैसे गड्ढे पड़ते हों; जिसकी जीभ काली; सफेद अथवा मोटी हो; जो बहुत हँसने वाली हो; जिसका तालू काक जैसा ऊँचा हो; मसूढ़े जामुनी वर्ण के हों; जिसकी दृष्टि बहुत कटाक्ष करती हों; जिसकी आँख बिलाव या पोरवे जैसी काली या चञ्चल हो; जो बहुत मौन रखे या बहुत बक-बक करे (वह सदोषा है)।

अन्यदप्याह —

स्थूलाधरशिरोवक्त्र नासिका शूर्पकर्णिका।
हीनाधरा प्रलम्बोष्ठी मिलद्भ्रूयुग्मका तथा॥ 110॥
अतिसङ्कीर्णविषम दीर्घलोमशभालका।
अङ्गुलत्रितयादूनाधिकभालस्थलापि च॥ 111॥
भालेन खण्डरेखेण रेखाहीनेन निन्दिता।
सूक्ष्मस्थूलस्फुटिताग्र कटयुल्लङ्घिकचोच्चया॥ 112॥

जिस स्त्री के नीचे का ओठ, सिर, मुँह और नाक मोटे हों; जिसके कान शूर्प जैसे हों; जिसके ओठ छोटे या लम्बे हों; जिसकी दोनों भृकुटियाँ साथ मिली हुई हों; जिसका कपाल बहुत तंग, ऊँचा-नीचा लम्बा; रोमयुक्त तीन अङ्गुल से न्यूनाधिक; खण्डित रेखा वाला अथवा बिल्कुल रेखा रहित हो; जिसके सिर के केश सूखे; जोड़े सिर से शाखा वाले और कमर से भी नीचे उतरे इतने लम्बे हों (वह सदोषा है)।

अन्यदप्याह —

एकस्मिन् कूपके स्थूल बहुरोमसमन्विता।
सपुष्पनखरा श्वेतनखी शूर्पनखी तथा॥ 113॥
उत्कटस्नायुदुर्दशी कपिलद्युतिधारिणी।
अतिश्यामातिगौरा च अतिस्थूलातितन्विका॥ 114॥
अतिदीर्घातिह्रस्वा च विषमाङ्ग्यधिकाङ्गिका।
हीनाङ्गी शौचविकला सूक्ष्म(रूक्ष!)कर्कशकाङ्गिका॥ 115॥

इसी प्रकार से जिस स्त्री के शरीर के रोमकूप में एक से अधिक मुख वाले और मोटे रोम निकलते हों; जिसके नख फूले हुए, सफेद या शूर्प जैसे हों; जिसकी नसें तेज न होने के कारण नहीं दीख सके ऐसी हों; जिसके शरीर का कान्ति भूरे वर्ण की हो; जो बहुत काली; बहुत गोरी; बहुत मोटी; बहुत पतली; बहुत लम्बी, बहुत छोटी; बिखरे हुए अङ्गवाली हो; जिसके शरीर में अङ्गुली व अन्य अवयव न्यूनाधिक हो, जिसकी चमड़ी शुष्क और सख्त हो और जो शरीर की पवित्रता न रखती हो (उसे दोष सहित जानना चाहिए)।

सञ्चारिष्णुरुगाघ्राता(-स्वरुगाकान्ता!) धर्मविद्वेषिणी तथा।
धर्मान्तररता चापि नीचकर्मरतापि वा॥ 116॥
अजीवत्प्रसवस्तोक प्रसवस्वसृमातृका।
रसवत्यादिविज्ञान रहितेदृक्कुमारिका॥ 117॥
दुःशीला दुर्भगा वन्ध्या दरिद्रा दुःखिताऽधमा।
अल्पायुर्विधवा कन्या स्यादेभिर्दुष्टलक्षणैः॥ 118॥*(विंशत्या कुलकम्)*

इसके अतिरिक्त जिसके शरीर को सञ्चारी रोग हुआ हो; जो सर्वधर्म से द्वेषभाव रखती हो या परधर्म में आसक्त हुई हो; जो नीच कर्म में सहज लगाव रखती हो; जिसकी मां और बहन की सन्तति जिन्दा नहीं रहती हो या कम होती हों और जिसे रसोई इत्यादि जीवनोपयोगी कार्यों-कलाओं का उचित ज्ञान नहीं हो– ऐसे (उक्त बीस श्लोकों में वर्णित) समस्त दोषों वाली कन्या अपलक्षणतः दुराचारिणी, दुर्भाग्यवाली, वन्ध्या, द्ररिद्री, पीड़ित, अल्पायुषी, अधम अथवा विधवा होती है।

उपाङ्गमथवाङ्ग स्याद्यदीयं बहुरोमकम्।
वर्जयेत्तां प्रयत्नेन विषकन्यासहोदरीम्॥ 119॥

जिसके हाथ-पाँव इत्यादि अङ्ग और अङ्गुली इत्यादि उपाङ्ग अत्यधिक रोम वाले हों, उस कन्या को विषकन्या की सहोदरी जानकर प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिए।

अथावर्त्तलक्षणफलं —

कटीकृकाटिकाशीर्षोदरभालेषु मध्यगः।
नासान्ते च शुभो न स्यादावर्तः सृष्टिगोऽपि सन्॥ 120॥

यदि कमर, ग्रीवा, मस्तक, उदर और कपाल के मध्यभाग और नासिका के अन्त में भ्रमर सीधा हो तो भी वह शुभ नहीं जानना चाहिए।

आवर्ता वामभागेऽपि स्त्रीणां संहारवृत्तयः।
न शुभास्तु शुभा भालदक्षिणेऽङ्गे च दृष्टितः॥ 121॥

स्त्रियों के बायें भाग पर विपरीत भ्रमर हों तो उनको शुभ नहीं जानना चाहिए परन्तु दाहिने भाग पर और विशेष रूप से कपाल के दाहिने भाग पर सीधे भ्रमर हों तो शुभ जाने।*

नामानुसारेणवरणविचारं —

देवोरगनदीशैल नक्षत्राणां पतन्त्रिणाम्।
श्वपाकप्रेष्यभीष्मानां सञ्ज्ञया वनिता त्यजेत्॥ 122॥

नाम के अनुसार देवता, सर्प, नदी, पर्वत, नक्षत्र, पक्षी, चण्डाल, सेवक और अन्य किसी भयङ्कर वस्तु की संज्ञा धारण करने वाली स्त्री वर्जित समझे।**

धराधान्यलतागुल्मसिंहव्याघ्रफलाभिधाम्।
त्यजेन्नरीं भवेदेषा स्वैराचारप्रिया यतः॥ 123॥

इसी प्रकार भूमि, धान्य, लता, गुल्म (पौधा) सिंह, बाघ और किसी फल का नाम धारण करने वाली स्त्री को भी प्रयत्न से वर्जित जानना चाहिए क्योंकि, ऐसी स्त्री स्वैच्छाचारिणी होती है।

अत्र लक्षणपरीक्षायाश्चावश्यकत्वमाह —

नापरीक्ष्य स्पृशेत्कन्यामविज्ञातां कदाचन।
निघ्नन्ति येन योगैस्ताः कदाचिद्दक्षनिर्मितैः॥ 124॥

विवेकी पुरुष को बिना परीक्षा किए कभी अज्ञात कन्याओं का स्पर्श नहीं करना चहिए क्योंकि वे कन्याएँ दक्ष मनुष्य के किए हुए मन्त्र, औषधादि के प्रयोग से विषमय होकर स्पर्श करने वाले पुरुष का प्राणान्त कर डालती है।

महौषधप्रयोगेण कन्या विषमयी किल।
जातेति श्रूयते ज्ञेया तैरेतैः सापि लक्षणैः॥ 125॥

---

* जगन्मोहन में समुद्र के मत से आया है— त्रिष्वावर्त्तो भवेद्यस्या ललाट उदरे भगे। त्रीणि सा भक्षयेत्नारी देवरे श्वसुरं पतिम्॥ आवर्त्तः पृष्ठतो यस्या न सा कल्याणभागिनी। बहून सा रमते नारी दुःखितान् कुरुते सदा॥ (लक्षणप्रकाश पृष्ठ 184 पर उद्धृत)

**भोज का मत है कि कन्या का नदी, पर्वत, पेड़, यूप, देवता और अन्तर-वाम देव, सागर, पौधे, गोत्र से नामादि नहीं होना चाहिए। जिसने रज देख लिया हो, परपुरुषरत हो, उससे विवाह नहीं करे— कन्या नदीपर्वतपादपानां नाम्नी तथा यूपदिवौकसां च। अन्तेरवामैरमरस्यसंज्ञा क्रमात्सरित् पादपगोत्रनाम्नीः॥ दृष्टरजाः परपुरुषरता न विवाह्या कन्यका सद्भिः॥ (राजमार्तण्ड 218-219)

ऐसा कई बार सुना भी जाता है कि 'दक्ष मनुष्य के किए बड़े औषध-प्रयोग से कन्या विषमयी हुई।' आगे विषकन्या के लक्षणों के सम्बन्ध में कहा जाएगा।*

विषकन्यालक्षणं —

यस्याः केशांशुकस्पर्शान्म्लायन्ति कुसुमस्रजः।
स्नानाम्भसि विपद्यन्ते बहवः क्षुद्रजन्तवः॥ 126॥
म्रियन्ते मत्कुणास्तल्पे तथा यूकाश्च वासति।
वातश्लेष्मव्यथामुक्ता सा च पित्तोदयान्विता॥ 127॥

जिसके केश और वस्त्र के स्पर्श से फूलों के हार कुम्हला जाते हों; जिसके स्नान के पानी में बहुत से क्षुद्र जीवों का प्राणान्त हो जाता हो, जिसके बिस्तर में खटमलों की मौत हो जाती हो; जिसके वस्त्र में जूएँ भी मरती हों, जो कफ-वात विकार से मुक्त हो किन्तु जिसे पित्त विकार होता हो—ऐसी कन्या विष कन्या हो सकती है।

जन्मकाले वारादिस्थित्यानुसारेणविचारं —

भौमार्कशनिवाराणां वारः कोऽपि भवेद्यदि।
तथाश्लेषाशतभिषकृत्तिकानां च सम्पदि॥ 128॥
द्वादशी वा द्वितीया वा सप्तमी वा तिथिर्यदि।
ततस्तत्र सुता जाता कीर्त्यते विषकन्यका॥ 129॥

जिस स्त्री के जन्मकाल में शनि, रवि और मङ्गल— इन तीनों में से कोई वार हो; आश्लेषा, शतभिषा और कृत्तिका नक्षत्रों में से कोई एक हों और द्वितीया, सप्तमी व द्वादशी— इन तीन तिथियों में कोई एक तिथि हो तब जन्म लेने वाली कन्या के विषकन्या होने की सम्भावना कही जाती है।**

---

* चाणक्य, शुक्र, बृहस्पति आदि राजशास्त्रियों ने विषकन्याओं के लक्षण दिए हैं। संस्कृत के कई काव्य ग्रन्थों में विषकन्याओं पर विचार किया गया है।

**मुहूर्तकल्पद्रुम में विषकन्यायोग आया है। जब रविवार, द्वितीया तिथि और शतभिषा नक्षत्र हो; मङ्गलवार, सप्तमी तिथि और आश्लेषा नक्षत्र हो तथा शनिवार, द्वादशी तिथि और कृत्तिका नक्षत्र हो- ऐसे योग में कन्या उत्पन्न हुई हो तो वह विषाङ्गना कही जाती है। ऐसी कन्या परिग्रहण की दृष्टि से त्याज्य है, ग्रहण करने पर बहुदोष प्रदायक होती है— मन्दारसूर्ये यदि वारुणाहिवह्न्यर्क्षभद्रातिथयोऽत्र जाता। विषाङ्गना तां परिवर्जयेन्ना तत्सङ्गते स्युर्बहुलादिदोषाः॥ (मुहूर्तकल्पद्रुम 14, 51)
यह मान्यता गणपति रावल ने भी दी है— सूर्यभौमार्किवारेषु भद्रातिथि शताभिधे। आश्लेषा कृत्तिका चेत्स्यात्तत्र जाता विषाङ्गना॥ (मुहूर्तगणपति 15, 73) जिस कन्या के जन्म लग्न में शत्रु क्षेत्र में पापग्रह हो तथा दो शुभग्रह भी हों तो वह विषकन्या होती है। इसी प्रकार लग्न में शनि, पाँचवें सूर्य एवं नवें मङ्गल हो तो भी विषाङ्गना होती है। विषकन्या दोष का परिहार करने के लिए सावित्रीव्रत करके पीपल से विवाह कराकर चिरञ्जीवी वर के लिए देना शुभ होता है- जनोर्लग्ने रिपुक्षेत्रे संस्थितः पापखेचरः। द्वौ सौम्यावपि योगेऽस्मिन् सञ्ज्ञाता विषकन्यका। लग्ने शनैश्चरो यस्याः सुतेऽर्को नवमे कुजः। विषाख्या सापि नोद्वाह्या त्रिविधा विषकन्यकाः॥ सावित्र्यादिव्रतं कृत्वा वैवध्वनिवृत्तये। अश्वत्थादिभिरुद्वाह्य दद्यात्तां चिरजीविने॥ (तत्रैव 15, 74-76)

अङ्गनासहव्यवहारविचारं —

गुरुस्वामिसुहृच्छिष्य स्वजनाङ्गनया सह।
मातृजामिसुतात्वेन व्यवहर्तव्यमुत्तमैः॥ 130॥

श्रेष्ठ पुरुषों को अपने गुरु, स्वामी, मित्र, शिष्य और सम्बन्धियों की स्त्रियों के साथ मां, बहन, और पुत्री के समान व्यवहार करना चाहिए। नियम यह है कि जो अपने से बड़ी हो वह मातृतुल्य, बराबर वय की हो वह बहनतुल्य और छोटी हो वह पुत्री के समान होती है।

सम्बन्धिनी कुमारी च लिङ्गिनी शरणागता।
वर्णाधिका च पूज्यत्व सङ्कल्पेन विलोक्यते॥ 131॥

श्रेष्ठ पुरुषों को अपनी सम्बन्धी, कुमारी, साध्वी या योगिनी आदि तथा शरणाश्रित और अपने से उच्च वर्ण की स्त्रियों को सदा ही पूज्य मानना चाहिए।

त्याज्यास्त्रियाः

सदोषां बहुलोभां च बहुग्रामान्तरप्रियाम्।
अनीप्सितसमाचारां चञ्चलां च रजस्वलाम्॥ 132॥
अशौचां हीनवृत्तां चातिवृद्धां कौतुकप्रियाम्।
अनिष्टा स्वजनद्विष्टां सगर्वां नाश्रयेत्स्त्रियम्॥ 133॥

अत्यधिक दोष वाली, अति लोभी, बस्ती-बस्ती घूमने वाली, दुराचारिणी, चञ्चल, रजस्वला, अपवित्र, हीन वृत्ति वाली, बहुत वृद्ध, नाटक आदि कौतुक देखने में बहुत तत्परता दिखाने वाली, अनचाही, स्वजन से द्वेष रखने वाली और अहङ्कारी स्त्री को कभी अङ्गीकार नहीं करना चाहिए।

परस्त्री विधवा भर्त्तात्यक्ता त्यक्तव्रतापि च।
राजकुलप्रतिवद्धा विवर्ज्या यत्नतो बुधैः॥ 134॥

बुद्धिमान पुरुष के लिए (तत्कालीन परम्परानुसार) यह उचित है कि जीवित पति की स्त्री, विधवा, परित्यक्ता, आदरपूर्वक किए हुए व्रत को भङ्ग करने वाली और राजद्वार में आने-जाने वाली स्त्रियों को विर्जित समझे।

दुर्गदुर्गतिदूतीष वैराचित्रैकभित्तिषु।
साधुवाददुशस्त्रीषु परस्त्रीषु रमेत न॥ 135॥

बन्दीगृह अथवा नारकीय गति को बुला ले जाने वाली दूती जैसी, वैररूप चित्र का अङ्कन करने में दीवार-माध्यम के समान और यशरूपी वृक्ष के छेदन में शस्त्र जैसी स्त्रियों में आसक्त नहीं रहना चाहिए।

अथोद्वाहवसरेप्रतिज्ञात्वचनपालननिर्देशं —

जगत्समक्षं स्त्रीपुंसौ विवाहे दक्षिणं करम्।
अन्योन्याव्यभिचाराय दत्तः किल परस्परम्॥ 136॥
अतो व्यभिचरन्तौ तौ निजं पुण्यं विलुम्पतः।
अन्योऽन्यघातकौ स्यातां परस्त्रीपुंद्रुहावपि॥ 137॥

लोकाचार के अनुसार स्त्री और पुरुष दोनों विवाह के समय धर्म-अर्थ-काम इन तीनों का आचरण एक दूसरे को छोड़कर नहीं करेंगे—ऐसी प्रतिज्ञा कर जगत् के समक्ष परस्पर दाहिने हाथ को थामते हैं। अतः यदि स्त्री-पुरुष दोनों अपने दिए हुए वचन को न पालकर व्यभिचार करें, तो वे उसका पुण्य खो देते हैं और परस्पर विश्वासघात करने वाले होते हैं। इसी प्रकार स्त्री परपुरुष के साथ व्यभिचार करे, तो वह पुरुष की विवाहिता स्त्री का घात करने वाली होती है और परस्त्री के साथ व्यभिचार करे तो परस्त्री के पति का घात करने वाला होता है, ऐसा जानना चाहिए।

वयानुसारेणस्त्रीरञ्जननिर्देशमाह —

बाला खेलनकैः काले दत्तैर्दिव्यफलाशनैः।
मोदते यौवनस्था तु वस्त्रालङ्करणादिभिः॥ 138॥
हृष्येन्मध्यवयाः प्रौढा रतिकीडासु कौशलैः।
वृद्धा तु मधुरालापैर्गौरवेण तु रज्यते॥ 139॥

बाला स्त्री सदैव उचित अवसर पर दिए हुए खिलौने और उत्तम फल-फूल एवं उपहार-आहार से प्रसन्न होती है। तरुणी अच्छे वस्त्राभूषणों से प्रसन्न होती है। प्रौढ़ा स्त्री काम-क्रीड़ा में कुशलता देखकर प्रसन्न होती है जबकि वृद्धा स्त्री मधुर वचन-व्यवहार और आदर-सत्कार से प्रसन्न होती है।

षोडशाब्दा भवेद्बाला त्रिंशताद्भूतयौवना।
पञ्चपञ्चाशता मध्या वृद्धा स्त्री तदनन्तरम्॥ 140॥

स्त्री 16 वर्ष की हो तो वहाँ बाला कही जाती है; 30 वर्ष तक की तरुणी; 50 वर्ष तक की मध्यमा या प्रौढ़ा और उसके ऊपर की उम्र वाली वृद्धा कहलाती है।*

---

* उक्त मत वात्स्यायन, कोक्कोक आदि ने दिया है। महाराणा कुम्भा ने कहा है कि सोलह वर्ष की कन्या बाला कही जाती है जबकि तरुणी स्त्री तीस वर्ष की वय वाली होती है। पचास वर्ष की आयु होने पर प्रौढ़ा और इसे अधिक वृद्धा होती है। बाला आहारादि बाह्यरति से अधिक प्रसन्न होती है जबकि तरुणी अन्तररति से तथा प्रौढ़ा अद्भुत प्रकार से सुरत करने से रञ्जित होती है। बाला स्त्रियाँ सदैव ताम्बूल, कुसुमहार से वशीभूत हो जाती हैं जबकि तरुणी आभूषण से, प्रौढ़ा अत्यन्त प्रेम के प्रदर्शन या मन्थन से और वृद्धा मधुर वचन-व्यवहार से वशीभूत होती है— षोडशाब्दाः भवेद्बाला तरुणी त्रिंशवर्षिणी। पञ्चाशदवर्षिका प्रौढा वृद्धा स्त्री तदनन्तरम्॥ भक्ष बाह्य रतैर्बाला तरुण्यभ्यन्तरेस्तथा। अद्भुतैः सुरतैः प्रौढा रज्यते कामिनी क्रमात्॥ ताम्बूल कुसुमैरबाला भूषणैस्तरुणीं भजेत्। अत्यन्त मन्थनैः प्रौढा वृद्धा मधुरजल्पनैः॥ (कामराजरतिसार 3, 76-78)

पद्मिन्यादिभेदेन स्त्री चतुर्विधा तदुक्तम् —

पद्मिनी चित्रिणी चैव शङ्खिनी हस्तिनी तथा।
तत्तदिष्टविधानेनानुकूल्या स्त्री विचक्षणैः॥ 141॥*

विचक्षण पुरुषो को पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी इन चारों प्रकार की स्त्रियों को शास्त्र में कहे हुए इष्ट प्रकार से अनुकूल रखना चाहिए॥ 141॥

तत्र लक्षणमुक्तम् —

हस्तिनी मद्यगन्धा च उग्रगन्धा च चित्रिणी।
शङ्खिनी क्षारगन्धा च पद्मगन्धा च पद्मिनी॥ 142॥

हस्तिनी स्त्री की मद्य जैसी गन्ध होती है; चित्रिणी की उग्रगन्ध; शङ्खिनी की क्षारीय और पद्मिनी की कमल जैसी सुगन्ध होती है।

हस्तिनी ह्यूरुशोभा स्यात्कटिशोभा च चित्रिणी।
शङ्खिनी पादशोभा च मुखशोभा च पद्मिनी॥ 143॥

हस्तिनी भेद वाली स्त्रियों के छतियें-उरु; चित्रिणी की कटि; शङ्खिनी के पाँव और पद्मिनी का मुँह बहुत सुन्दर होता है।

हस्तिनी सूक्ष्मकेशा च वक्रकेशा च चित्रिणी।
शङ्खिनी दीर्घकेशा च घनकेशा च पद्मिनी॥ 144॥

हस्तिनी के केश सूक्ष्म होते हैं; चित्रिणी के वक्रीय; शङ्खिनी के लम्बे और पद्मिनी के घने, गुच्छेदार होते हैं।

तस्य वश्यप्रयोगविचारं —

आसने वाथ शय्यायां जीवाङ्गे विनियोजयेत्।
जायन्ते नियतं वश्याः कामिन्यो नात्र संशयः॥ 145॥

जिस नासिका में स्वर प्रवाहमान हो, उस ओर यदि स्त्री को आसन अथवा बिछौने पर बिठाया जाए जो वह निश्चय ही वश में होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

अर्गला रक्षणे स्त्रीणां प्रीतिरेवा निरर्गला।
पदातिपरिवेषस्तुपत्यु क्लेशाय केवलम्॥ 146॥

पति की अनुपम प्रीति ही स्त्री को अनुचित मार्ग पर जाने से रोकती है। अन्यथा स्त्री के आस-पास उसकी रक्षा के लिए सेविका का परिवार रखना इसे केवल पति के क्लेश के लिए जानना चाहिए।

---

* स्मरदीपिका में आया है— पद्मिनी चित्रिणी चैव शङ्खिनी हस्तिनी तथा। प्रत्येकं च वरस्त्रीणां ख्यातं जातिचतुष्टयम्॥ (लक्षणप्रकाश पृष्ठ 189 पर उद्धृत)

न च ज्वरवती नृत्यश्लथाङ्गी पथि विक्लवा।
मासैकप्रसवा नारी काम्या षण्मासगर्भिणी॥ 147॥

ज्वर से पीड़ित, नृत्य करने से शीतल अवयव की, चलने से थकी हुई, छह मास की गर्भवती और प्रसूति हुए जिसे एक ही मास हुआ हो—ऐसी स्त्री अभोग्या है।

वृक्षाद्वृक्षान्तरं गच्छन प्राज्ञैश्चिन्त्योऽत्रवानरः।
मनो यत्र स्मरस्तत्र ज्ञानं वश्यकरं ह्यदः॥ 148॥

सुज्ञ पुरुष का यह कर्तव्य है कि वह अपने मन की तुलना उस वानर से करे जो कि एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर कूदता है अर्थात् जैसे बन्दर एक वृक्ष छोड़कर दूसरे पर जाता है वैसे ही मन एक विषय रखकर दूसरे विषय पर जाता है। जहाँ मन जाता है, वहाँ स्मर या कामदेव साथ ही रहता है। इसलिए मन को वशीभूत रखना चाहिए।

कामातुरस्त्रीलक्षणं —

कम्पनर्तनहास्याश्रु मोक्षप्रोच्चैःस्वरादिकम्।
प्रमदा सुरतोन्मत्ता कुरुते तत्र निःसहा॥ 149॥

काम विकार सहन करने में अशक्त हुई और रत्यर्थ उन्मत्त हुई स्त्री शरीर कम्पाती है; नाचती है; हँसती है; आँसू निकालती है और जोर से बोलती है इत्यादि लक्षणों से अपनी मनोदशा प्रकट करती है।

इत्यमनन्तर निमित्तविचारं —

रतान्ते श्रुयतेऽकस्माद्घण्टानादस्त्वनुत्थितः।
येन तस्यैव पञ्चत्वं पञ्चमास्या ततो भवेत्॥ 150॥

जो पुरुष सहवास करने के बाद बिना बजे ही घण्टे का निनाद सुनता हो, उसका पाँच महीने में मरण होता है, ऐसा जानना चाहिए।

भोगकालविचारं —

पक्षान्निदाघे हेमन्ते नित्यमन्यर्तुषु त्र्यहात्।
स्त्रियं कामयमानस्य जायते न बलक्षयः॥ 151॥

जो गृहस्थ ग्रीष्म ऋतु में पन्द्रहवें दिन, हेमन्त ऋतु में प्रतिदिन और अन्य ऋतुओं में तीसरे दिन सहवास करता है, उसका बल क्षीण नहीं होता॥ 151॥

त्र्यहाद्वसन्तशरदोः पक्षाद्वर्षानिदाघयोः।
सेवेत कामिनीं कामं हेमन्त शिशिरे बली॥ 152॥

बली पुरुष को बसन्त और शरद— इन दोनों ऋतुओं में तीसरे दिन; वर्षा और ग्रीष्म ऋतुओं में पन्द्रहवें दिन तथा हेमन्त और शिशिर ऋतुओं में इच्छानुकूल सहवास करना चाहिए।

अतीर्ष्यातिप्रसङ्गोऽतिदानमत्यागमस्तथा।
चत्वारोऽमी न कर्तव्याः कामिभिः कामिनीष्वपि॥ 153॥

सकाम पुरुष को कभी कामिनियों से भी बहुत ईर्ष्या, अधिक प्रसङ्ग, अधिक दान और अधिक गमन– ये चार चीजें नहीं करनी चाहिए।

अतीर्ष्यातो हि रोषः स्यादुद्वेगोऽतिप्रसङ्गतः।
लोभोऽतिदानतः स्त्रीणामत्यागमादलज्जता॥ 154॥

जो पुरुष स्त्री पर बहुत ईर्ष्या रखता है तो वह क्रोध का शिकार हो जाता है; बहुत प्रसङ्ग करने से उद्वेग पाता है, द्रव्यादि बहुत देने से स्त्री का लोभ बढ़ता है और नित्यगमन स्त्री निर्लज्ज हो जाती है।

अन्यदप्याह —

वितन्वतीं क्षुतं जृम्भां स्नानपानाशनानि च।
मूलकर्म च कुर्वाणां कुवेषा च रजस्वलाम्॥ 155॥
तथान्यनरसंयुक्तां पश्येत्कामी न कामिनीम्।
एवं हि मानसं तस्यां विरज्येतास्य निश्चितम्॥ 156॥

कभी ऐसी स्त्री की ओर पुरुष को नहीं देखना चाहिए जो छींकती हो; जम्हाई लेती हो; स्नान करती हो; भोजन और लघुशङ्कादि करती हो। कुवेषा या गन्दे वस्त्रों में हो; रजस्वला हो और किसी पुरुष के साथ वार्तालाप करती हो। यदि ऐसा किया जाता है तो उक्त स्त्री से पुरुष का मन विरक्त हो जाता है।

अत्यालोकादनालोकात्तथानालापनादपि।
प्रवासादतिमानाच्च त्रुट्यति प्रेम योषिताम्॥ 157॥

बार-बार देखने से; बिल्कुल न देखने से; बहुत बोलने से; विदेशगमन से और अति अहङ्कार से स्त्री का प्रेम टूटता है।.

विरक्तस्त्रीलक्षणं —

न प्रीतिवचनं दत्ते नालोकयतिं सुन्दरम्।
उक्ता धत्ते क्रुधं द्वेषान्मित्रद्वेषं करोत्यलम्॥ 158॥
विरहे हृष्यति व्याजादीर्ष्यामपि करोत्यलम्।
योगे सीदति साबाधं वदनं मोटयत्यथ॥ 159॥
शेते शय्यागता शीघ्रं स्पर्शादुद्विजते तराम्।
कृतं किमपि न स्तौति विरक्तेर्लक्षणं स्त्रियाः॥ 160॥

जिस स्त्री का राग पुरुष से उतर गया हो वह प्रेम सहित नहीं बोलती है। अच्छी तरह सामने नहीं देखती; पुकारने पर क्रोध करती है; द्वेष रखकर पुरुष के

मित्र के साथ ईर्ष्या करती है। पति के वियोग से प्रसन्न होती है। किसी बहाने से ईर्ष्या करती हो; पति का संयोग होने से दुखानुभूति करती हो; मुँह बहुत मोड़ती हो; शय्या पर आकर ऊँघ जाए; पति के स्पर्श करने से उद्वेग पाती हो और पति के किसी भी काम की प्रशंसा नहीं करती हो तो ये राग सहित स्त्री के लक्षण कहे गए हैं।

अन्तर्प्रसङ्गं अन्यजने न प्रकाशयेत् —

विश्रम्भोक्तिमुपालम्भमाङ्गिकं वैकृतं तथा।
रतिक्रीडां च कामिन्या नापरासु प्रकाशयेत्॥ 161॥

स्त्री के प्रेमभरे बोल अथवा उसका दिया हुआ उपालम्भ, कटाक्षयुक्त देखना आदि क्रीड़ाओं और उसके साथ रति-क्रीड़ा अन्य किसी स्त्री या पुरुष को नहीं बतानी चाहिए।

अन्यदपि —

कामिन्या वीक्ष्यमाणाया जुगुप्साजनकं बुधः।
श्लेष्मक्षेपादि नो कुर्याद्विरज्येते तथाहि सा॥ 162॥

सुविज्ञ को स्त्री के देखते हुए कभी दुर्भावना उपजाने वाला कार्य नहीं करना चाहिए न ही श्लेष्म से भरी अपनी नाक साफ करने को उद्यत होना चाहिए। इससे नारी में विरक्त होती है।

दत्ते यां कन्यकां यस्मै माता भ्राता पिताथवा।
देवतेव तया पूज्यो गतसर्वगुणोऽपि सन्॥ 163॥

माता-पिता या उनके अभाव में भ्राता परम्परानुसार जिसके साथ विवाह कर दे, कन्या को चाहिए कि वह उसकी देवतुल्य सेवा करें भले ही वह सर्वगुण रहित हो।*

पितृभर्तृसुतैर्नार्यो बालयौवनवार्धके।
रक्षर्णीयाः प्रयत्नने कलङ्कः स्यात्कुलेऽन्यथा॥ 164॥

कन्या जब बालिका हो तब पिता को; युवावस्था में पति को और वृद्ध होने पर पुत्र को स्त्री की रक्षा करनी चाहिए, यह कर्तव्य है। ऐसा नहीं करने पर कुल में कलङ्क लगता है।**

पत्नीकर्तव्यमाह —

---

* मनु का वचन है— यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वानुमते पितुः। तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत्॥ (मनुस्मृति 5, 151)
इसी प्रकार भागवत में आया है— स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता। तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम्॥ (भागवत 7, 11, 25)

**मनु का कथन है— बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने। पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम्॥ (मनु. 5, 148)

दक्षा तुष्टा प्रियालापा पतिचित्तानुगामिनी।
कालौचित्याद्व्ययकरी या सा लक्ष्मीरिवापरा॥ 165॥

जो स्त्री समझदार; सदा सन्तोषी; मधुर वचन बोलने वाली; पति का मन जैसे प्रसन्न रहे, वैसे ही आचरण करने वाली और समयोचित रूप से व्यय करने वाली हो, उसे लक्ष्मी के समान जानना चाहिए।

शयिते दयिते शेतेऽस्मात्पूर्वं तु विबुध्यते।
भुंक्ते भुक्तवति ज्ञात सत्कृत्या स्त्रीमतल्लिका॥ 166॥

जो स्त्री अपने पति के सो जाने पश्चात सोती है, उससे पूर्व जगे; उसके भोजन करने के बाद स्वयं करे और पति की सेवा किस प्रकार अच्छी तरह की जाए– यह भलीभाँति जानती हो, उसे श्रेष्ठ नारी समझना चाहिए।

न कुत्सयेद्वरं बाला श्वशुरप्रमुखांश्च या।
ताम्बूलमपि नादत्ते दत्तमन्येन सोत्तमा॥ 167॥

जो स्त्री अपने पति और सास-ससुर आदि सहित अपने परिवार के दोष नहीं बताती हो और परपुरुष के दिए ताम्बूलादि का स्पर्श न करे, उस स्त्री को उत्तम जाने।

कुलस्त्रिया न गन्तव्यमुत्सवे चत्वरेऽपि च।
देवयात्राकथास्थाने न तथा रङ्गजागरे॥ 168॥

कुलीन स्त्री को कभी (अकेले) मेले या उत्सव में; चौराहे पर; यात्रा पर, कथा-स्थल, नाटक-लीला और जागरण में नहीं जाना चाहिए।

सुपत्नीलक्षणं —

या दृष्ट्वा पतिमायान्तमभ्युत्तिष्ठति सम्भ्रमात्।
तत्पादन्यस्तदृष्टिश्च दत्ते तस्यासनं स्वयम्॥ 169॥
भाषिता तेन सव्रीडं नम्रीभवति च क्षणात्।
स्वयं सविनयं तस्य परिचर्यां करोति च॥ 170॥
निर्व्याजहृदया पत्यौ श्वश्रूषु व्यक्तभक्तिभाक्।
सदा नम्रा ननान्दृणां बद्धस्नेहा च बन्धुषु॥ 171॥
सपत्नीष्वपि सप्रीतिः परिवारेषु वत्सला।
सनर्मपेशलालापा कमितुर्मित्रमण्डले॥ 172॥
या च तेद्द्वेषिषु द्वेष संश्लेषकलुषाशया।
गृहश्रीरिव सा साक्षाद्गेहिनी गृहमेधिनाम्॥ 173॥

जो स्त्री अपने पति को आया जानकर शीघ्रता से उठ जाए और उसके पाँवों की ओर देखते हुए स्वयं आसन प्रदान करे; पति यदि बातचीत करे तो तत्काल लज्जा

से विनम्र हो जाए; विनयपूर्वक पति की सेवा में तत्परता दिखाए; पति पर कपट रहित हृदय रखे; सास आदि बड़े परिवार जनों के प्रति भक्तिभाव रखे; ननदों के सम्मुख नम्रता को प्रदर्शित करे; पति के भाइयों से स्नेहपूर्ण व्यवहार करे; अपनी सौत हो तो उस पर भी प्रीति रखे; दास-दासी पर दया करे; पति की मित्र मण्डली के साथ नम्रता से चतुर वचन बोले और पति के शत्रुओं के साथ वैर रखे--ऐसी गृहस्थ स्त्री को साक्षात् लक्ष्मी जाननी चाहिए।

निषिद्धकार्याणि —

निषिद्धं हि कुलस्त्रीणां गृहद्वारनिषेवणम्।
वीक्षणं नाटकादीनां गवाक्षावस्थितिस्तथा॥ 174॥

कुलीन स्त्रियों को घर के द्वार पर नहीं बैठे रहना चाहिए।* नाटक आदि न देखें और गवाक्षों, अवलोकन में स्थित होकर बाहर देर तक दृष्टिपात नहीं करना चाहिए।

अङ्गप्रकटनं क्रीडा कौतुकं जल्पनं परैः।
कार्मणं शीघ्रयानं च कुलस्त्रीणां न युज्यते॥ 175॥

सम्भ्रान्त परिवारों की स्त्रियों को वस्त्र से ढकने के योग्य अङ्ग का प्रदर्शन करना, क्रीड़ा-कौतुक करना, परपुरुष के साथ वार्तालाप, काम में रुचि न लेना और गमन में अतिशीघ्रता दर्शाना उचित नहीं है।

अङ्गप्रक्षालनाभ्यङ्ग मर्दनोद्वर्तनादिकम्।
कदाचित् पुरुषैर्नैव कारयेयुः कुलस्त्रियः॥ 176॥

कभी सम्भ्रान्त स्त्रियों को अपने स्नान में पुरुष की सहायता नहीं लेनी चाहिए। इसी प्रकार तैलाभ्यङ्ग, उबटन, मसाज आदि भी पुरुषों से नहीं करवाना चाहिए।

लिङ्गिन्या वेश्य दास्या स्वैरिण्या कारुकस्त्रिया।
युज्यते नैव सम्पर्कः कदापि कुलयोषिताम्॥ 177॥

स्त्रियों को कभी योगिनी, वेश्या, दासी, कुलटा और कारु-कर्मत्रों (शिल्पियों) की महिलाओं से घनिष्ठ सम्पर्क नहीं रखना चाहिए।**

मङ्गलाय कियांस्तन्यालङ्कारो धार्य एव हि।
प्रवासे प्रेयसः स्थातुं युक्तं श्वश्वादि सन्निधौ॥ 178॥

यदि पति परदेश में हो तो पत्नी को सौभाग्यसूचक किञ्चित् अलङ्करणों

---

* तुलनीय— चिरन्तिष्ठेन्न च द्वारे गच्छेनैव परालये। (शिवपुराण रुद्र. पार्वती. 54, 22)

**तुलनीय— न रजक्या न बन्धक्या तथा लिङ्गिन्या न च। न च दुर्भगया क्वापि सख्यित्वं कारयेत्क्वचित्॥ (शिवपुराण तत्रैव 54, 36)

(मङ्गलसूत्रादि) को अवश्य धारण किए रहना चाहिए। ऐसे समय में अपने सास-ससुर आदि के पास ही रहना चाहिए।

कोपान्य वेश्म संस्थानं सम्पर्कों लिङ्गिभिस्तथा।
उद्यानाद्यटनं पत्युः प्रवासे दूषणं स्त्रियाः॥ 179॥

पति के परदेश जाने पर भी क्रोध करना, औरों के घर रहना, योगिनी, संन्यासिनी की सङ्गत करना और उद्यानों में विहार करना जैसे कार्य सम्भ्रान्त परिवारों की स्त्रियों को दोष लगाने वाले कहे गए हैं।

अन्यदपि —

अञ्जनं भूषनं गानं नृत्यं दशनमार्जनम्।
नर्माक्षेपं च शारादि कीडाश्चित्रादिवीक्षणम्॥ 180॥
अङ्गरागं च ताम्बूलं मधुरद्रव्यभोजनम्।
प्रोषितप्रेयसी प्रीति प्रदमन्यदपि त्यजत्॥ 181॥

सम्भ्रान्त स्त्रियों को अपने पति के परदेश जाने पर अञ्जन-सुरमे का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार बड़े आभूषण नहीं पहने। गायन, नर्तन, दिखाकर दाँतुन करना, मसखरी और आक्षेपपूर्ण वचन-व्यवहार, सोगठेबाजी जैसी क्रीड़ा, उत्तेजिक चित्रादि दर्शन, अङ्गराग-विलेपानुलेपन, ताम्बूल, मिष्ठान्न खाना और जिससे हृदय में प्रीति उत्पन्न हो ऐसे कार्य नहीं करने चाहिए।

रजस्वलायां निषेधकार्याणि —

सदैव वस्तुनः स्पर्शः रजन्या तु विशेषतः।
सन्ध्याटनमुडुप्रेक्षां धातुपात्रे च भोजनम्॥ 182॥
माल्याञ्जने दिवास्वापं दन्तकाष्ठं विलेपनम्।
स्नानं पुष्टाशनादर्शालोकौ मुञ्चेद्रजस्वला॥ 183॥

रजस्वला स्त्री को सर्वदा और मुख्यरूप से रात्रि में किसी वस्तु को नहीं छुना चाहिए। सन्ध्याकाल में घूमना नहीं चाहिए। नक्षत्रगणों को भी नहीं देखें व धातु के पात्र में भोजन नहीं करें। इसी प्रकार पुष्प माला नहीं पहने; आँखों में अञ्जन नहीं करे; दिवस में निद्रा नहीं ले; दाँतुन और स्नान नहीं करे; चन्दनादि का आलेपन नहीं करे; पुष्टिकारक अन्न का आहार नहीं ले और उसे दर्पण में भी नहीं देखना चाहिए।

मृत्तिका काष्ठपाषाणपात्रेऽश्नीयाद्रजस्वला।
देवस्थाने शकृद्गोष्ठ जलेषु न रजःक्षिपेत्॥ 184॥

रजस्वला स्त्री को परम्परानुसार मिट्टी, लकड़ी या पत्थर के पात्र में भोजन करना चाहिए और कभी अपनी ऋतु को देवस्थान, गोष्ठ-गौशाला और पवित्र जल में नहीं डालनी चाहिए।

स्नात्वैकान्ते चतुर्थेऽह्नि वर्जयेदन्यदर्शनम्।
सुशृङ्गारा स्वभर्तारं सेवेत कृतमङ्गला॥ 185॥

रजस्वला को चतुर्थ दिवस एकान्त में स्नानकर परपुरुष को नहीं देखना चाहिए अपितु सुन्दर बनाव-शृङ्गारकर, मङ्गलकृत स्वपति का सेवन करना चाहिए।

ऋतुकालावधिं —

निशाः षोडश नारीणामृतुः स्यात्तासु चादिमाः।
तिस्रः सर्वैरपि त्याज्याः प्रोक्ता तुर्यापि केन चित्॥ 186॥

सामान्यतया स्त्रियों की सोलह रात तक ऋतु होती है। उनमें से पहली तीन रात्रि भोग में वर्जनीय है, ऐसा आचार्यों का मत हैं किन्तु कतिपय विद्वान् चतुर्थ रात्रि भी वर्जनीय कहते हैं।

ऋतुदिवसानुसारेण सन्तानोद्भवविचारं —

चतुर्थ्यां जायते पुत्रः स्वल्पायुर्गुणवर्जितः।
विद्याचारपरिभ्रष्टो दरिद्रः क्लेशभाजनः॥ 187॥

यदि चतुर्थ रात्रि को गर्भ रहे तो अल्पायु वाला, गुणरहित, विद्या और आचारहीन दरिद्री और क्लेश भोगने वाला पुत्र उत्पन्न होता है।

पञ्चम्यां पुत्रिणी नारी षष्ठ्यां पुत्रस्तु पुत्रवान्।
सप्तम्यामप्रजा कन्या चाष्टम्यामीश्वरः सुतः॥ 188॥

यदि पाँचवीं रात्रि को गर्भ रहे तो पुत्र को प्रसव करनेवाली कन्या हो; छठी रात्रि को गर्भ रहे तो पुत्रवन्त पुत्र होगा; सातवीं रात को गर्भ रहे तो बाँझ कन्या होगी और आठवीं रात को गर्भ रहे तो सामर्थ्य-ऐश्वर्यवान् पुत्र होता है।

नवम्यां सुभगा नारी दशम्यां प्रवरः सुतः।
एकादश्यामधर्मा स्त्री द्वादश्यां पुरुषोत्तमः॥ 189॥

यदि नवीं रात्रि को गर्भ रहे तो सुन्दर कन्या होगी; दसवीं रात्रि को रहे तो श्रेष्ठ पुत्र होगा; ग्याहरवीं रात्रि को रहे तो अधर्मी कन्या हो और बारहवीं रात को यदि गर्भ रहे तो पुरुषों में उत्तम पुत्र उत्पन्न होता है।

त्रयोदश्यां सुता पापा वर्णसङ्करकारिणी।
प्रजायते चतुर्दश्यां सुपुत्रो जगतीपतिः॥ 190॥

अगर तेरहवीं रात्रि को गर्भ रहे तो वर्णसङ्कर करने वाली पाप-कन्या हो; चौदहवीं रात्रि को गर्भ रहे तो पृथ्वीपति जैसा पुत्र होता है।

राजपत्नी महाभोगा राजवंशकरा सती।
जायते पञ्चदश्यां तु बहुपुण्या च सुव्रता॥ 191॥

यदि पन्द्रहवीं रात को गर्भ रहे तो बहुत भाग्यशाली, राजवंश चलाने वाली, राजा की रानी, बहुत सुख भोगने वाली, बहुत पुण्योपार्जन करने वाली और पतिव्रता पुत्री होती है।

विद्याविनयसम्पन्नः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
आश्रयः सर्वभूतानां षोडश्यां जायते पुमान्॥ 192॥

इसी प्रकार यदि सोलहवीं रात को गर्भ ठहरे तो विद्वान, विनयी, सत्यवादी, इन्द्रिय विजयी और सब जीवों का आश्रय देने वाला पुत्र होता है।

समविषमरात्रिविचारं —

समायां निशि पुत्रः स्याद्विषमायां तु पुत्रिका।
स्त्रीणामृतुरते कार्यं न च दन्तक्षतादिकम्॥ 193॥

चौथी, छठी इत्यादि सम संख्यक रात्रियों को गर्भ रहे तो पुत्र होता है और पाँचवीं, सातवीं इत्यादि विषम संख्यक रात्रियों में गर्भ ठहरें तो पुत्री का जन्म होता है। ऋतुवाली स्त्री के साथ सहवास करते समय दन्तक्षत या नखघात नहीं करना चाहिए।

दिवा-निशाकालविचारं —

दिवा कार्यो न सम्भोगः सुधिया पुत्रमिच्छता।
दिवासम्भोग सञ्जातो जायतेऽह्यबलाङ्गकः॥ 194॥

पुत्र की आकांक्षा रखने वाले ज्ञानी पुरुष को दिवसकाल में सहवास नहीं करना चाहिए। दिन में संभोग से उत्पन्न हुआ पुत्र बहुत निर्बल होता है।

किमर्थं कामाह —

पुत्रार्थमेव सम्भोगः शिष्टाचारवतां मतः।
ऋतुस्नाता पवित्राङ्गी गम्या नारी नरोत्तमैः॥ 195॥

यह पुरातन शिष्ट उक्ति है कि पुत्र के लिएं स्त्रीसङ्ग करें। अतएव ऋतुमती स्त्री स्नानादि से पवित्र हो जाए तब ही उत्तम पुरुष को उसके साथ सम्भोग करना चाहिए।

अन्यो व्यसनिनां कामः सर्वधर्मार्थबाधकः।
सद्भिः पुनः स्त्रियः सेव्याः परस्परमबाधया॥ 196॥

धर्म और धन का सर्वथा विनाश कर डाले– ऐसा विलक्षण काम विकार व्यसनी पुरुषों को होता है परन्तु उत्तम पुरुषों को तो धर्म तथा धन का नाश नहीं हो, उस रीति से स्त्रियों का सेवन करना श्रेयस्कर है।

भोग्यावस्थामाह —

दृष्ट एव ध्रुवं पुष्पे नारी स्यान्मैथुनोचिता।
सेव्या पुत्रार्थमापञ्चपञ्चाशद्वत्सरं पुनः॥ 197॥

ऐसी मान्यता रही है कि स्त्री जब तक पुष्पवती होती रहे, वह भोग्या है और पुष्पवती होने की अवधि से लेकर 55 वर्ष की आयु तक सन्तानार्थ उसे भोगना चाहिए।

बलक्षयो भवेदूर्ध्वं वर्षेभ्यः पञ्चसप्ततेः।
स्त्रीपुंसयोर्न युक्तं तन्मैथुनं तदनन्तरम्॥ 198॥

पुरुष को पचहत्तर वर्ष की आयु तक सहवास करना चाहिए, यह मर्यादा है। यदि स्त्री-पुरुष इसका उलङ्घन करते हैं तो उसका बल क्षीण हो जाता है। इसलिए स्त्री के लिए भोगकाल पचपन व पुरुष के लिए पचहत्तर वर्ष कहा गया है, इसके बाद नहीं।

स्त्रियां षोडशवर्षायां पञ्चविंशतिहायनः।
बुद्धिमानुद्यमं कुर्याद्विशिष्टसुतकाम्यया॥ 199॥

पच्चीस वर्ष की आयु वाले सुज्ञ पुरुष को सोलह वर्ष की कन्या के साथ विशिष्ट पुत्र के अर्थ से सहवास करना चाहिए (ऐसी तत्कालीन परम्परा रही होगी किन्तु वर्तमान में अठारह वर्ष निर्धारित है)।

तदा हि प्राप्तवीर्यौ तौ सुतं जनयतः परम्।
आयुर्बलसमायुक्तं सर्वेन्द्रियसमन्वितम्॥ 200॥

ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस आयु वर्ग में स्त्री-पति दोनों ही बली होते हैं, अतः वे आयुष्य, बल और समस्त इन्द्रियों से युक्त पुत्र को उत्पन्न करते हैं।

सन्तानार्थे आयुविचारं —

न्यूनषोडशवर्षायां न्यूनाब्दपञ्चविंशतिः।
पुमान्यं जनयेद्गर्भं स प्रायेण विपद्यते॥ 201॥

यह मत है कि पच्चीस वर्ष से कम आयु का पुरुष सोलह वर्ष से कम आयु की स्त्री के साथ सहवास करे तो वह गर्भ प्रायः गर्भाशय में ही नष्ट हो जाता है।

अल्पायुर्बलहीनो वा दारिद्र्योपद्रुतोऽथवा।
कुष्ठादिरोगी यदि वा भवेद्वा विकलेन्द्रियः॥ 102॥

अथवा होने वाली सन्तति अल्पायु वाली, निर्बल, दरिद्री, कुष्टादि रोगों वाली और विकल-अङ्गवाली होती है।

मनस्थित्यानुसारेणजायते सन्ततिं —

प्रसन्नचित्त एकान्ते भजेन्नारीं नरो यतः।
यादृङ्मनाः पिताधाने पुत्रस्तत्सदृशो भवेत्॥ 203॥

पुरुष को प्रसन्न चित्त से एकान्त में ही स्त्री सेवन करना चाहिए क्योंकि जिस समय पिता का जैसा मन होता है, वैसी ही सन्तति होती है।

भजेन्नारीं शुचिः प्रीतः श्रीखण्डादिभिरुन्मदः।
अश्राद्धभोजी तृष्णादिबाधया परिवर्जितः॥ 204॥

जिस दिन श्राद्ध का भोज नहीं किया हो और तृषा, क्षुधादि शारीरिक वेदना लक्षित नहीं हो, तब कामी को श्रीखण्ड-चन्दन, अगरु, केसरादि का शरीर पर आलेपन कर, पवित्र होकर प्रीतिपूर्वक स्त्रीसङ्ग करना चाहिए।

स्वरप्रवाहानुसारेण रतिविचारं —

सविभ्रमवचोभिश्च पूर्वमुल्लाभ्य वल्लभाम्।
समकालपतन्मूल कमलक्रोडरेतसम्॥ 205॥
पुत्रार्थं रमयेद्धीमान् बहद्दक्षिणनासिकम्।
प्रवहद्वामनाडिस्तु कामयेतान्यदा पुनः॥ 206॥

पुरुष को जब दक्षिण नासिका का स्वर चलता हो तब विलासकारी वचनों से स्त्री में कामोत्तेजना कर इन्द्रिय के कमलाकार मूल प्रदेश में शुक्र सम काल में मिश्रित हो, उस रीति से पुत्र के लिए सहवास करना चाहिए और यदि पुत्री की इच्छा हो तो जब बायीं नासिका का स्वर प्रवाह हो तब सहवास करना चाहिए।*

गर्भाधानकाले वर्जनीयनक्षत्राः

गर्भाधान मघा वर्ज्या रेवत्यपि यतोऽनयोः।
पुत्रजन्मदिने मूला श्लेषे स्तस्ते च दुःखदे॥ 207॥

गर्भधारण के अवसर पर मघा और रेवती—इन दोनों नक्षत्र को वर्जित जानना चाहिए क्योंकि इनसे पुत्र के जन्म समय में मूल और आश्लेषा नक्षत्र आते हैं और ये नक्षत्र बहुत कष्टकारी सिद्ध होते हैं।**

---

* सारावली में कहा गया है—द्विपदादयो विलग्नात् सुरतं कुर्वन्ति सप्तमे यद्वत्। तद्वत्पुरुषाणामपि गर्भाधानं समादेश्यम्॥ अस्ते शुभयुतदृष्टे सरोषकलहं भवेद्ग्राम्यम्। सौम्यं सुरतं वात्स्यायन-सम्प्रयोगिकाख्यातम्॥ (बृहज्जातक भट्टोत्पलीय विवृत्ति 4, 2 पर उद्धृत)

**ज्योतिष का मत है कि मूल नक्षत्र के पहले चरण में जन्म लेने वाला बालक पिता, द्वितीय चरण में माता के लिए अशुभ होता है जबकि तृतीय चरण में जन्मा जातक धनक्षयकारी माना जाता है। इसी प्रकार चौथे में जन्म शुभफलद होता है। इसी प्रकार आश्लेषा नक्षत्र के प्रथम चरण में जन्मा शिशु शुभ स्वीकार्य है। द्वितीय चरण में जन्मा शिशु धनक्षयकारी होता है। तृतीय माता के लिए कष्टदायी और चतुर्थ चरण में जन्मा बालक पिता के लिए नेष्टप्रद होता है—आद्ये पिता नाशमुपैति मूलपादे द्वितीये जननी तृतीये। धनं चतुर्थोऽस्य शुभोऽथ शान्त्या सर्वत्र सत्स्यादहिभे विलोमम्॥ (मुहूर्तचिन्तामणि 2, 55) श्रीपति का मत है गण्डान्त के आदि पाद में यदि बालक का जन्म हो तो पिता के लिए अशुभकारी होता है। द्वितीय में माता के लिए अशुभ, तृतीय में जन्मे तो धनक्षय किन्तु चतुर्थ पाद में शुभ होता है। आश्लेषा नक्षत्र के अन्त में जन्मे जातक का फल भी उक्तानुसार ही होता है—तदाद्यपादके पिता विपद्यते जनन्यथ। घनक्षयस्तृतीयके चतुर्थकः शुभावहः॥ प्रतीपमन्त्यपादतः फलं तदैव सार्प्यभे। तदुक्त दोष शान्तये विधेय मन्त्र शान्तिकम्॥ (ज्योतिषरत्नमाला 4, 69-70)

रत्नानीव प्रशस्तेऽह्नि जाताः स्युः सूनवः शुभाः।
अतो मूलमपि त्याज्यं गर्भाधाने शुभार्थिभि॥ 208॥

उत्तम दिन को उत्पन्न हुए पुत्र रत्नों के तरह होते हैं। इसलिए कल्याणार्थी पुरुषों को गर्भाधान के समय मूल नक्षत्र का भी त्याग करना चाहिए।

आधानाद्दशमे जन्म दशमे कर्म जन्मभात्।
कर्मभात् पञ्चमे मृत्युः कुर्यादेषु न किञ्चिन॥ 209॥

गर्भाधान के नक्षत्र से दसवाँ जन्म नक्षत्र, जन्म नक्षत्र से दसवाँ कर्म नक्षत्र और कर्म नक्षत्र से पाँचवाँ मृत्यु नक्षत्र कहलाता है। इसलिए इन चारों (गर्भ, जन्म, कर्म व मृत्यु) नक्षत्रों में कोई भी काम नहीं करना चाहिए।

अथ सङ्गकालाज्जातस्य पुञ्जन्मयोगं —

पापाः षट्त्रायगाः सौम्यास्तनुत्रिकोणकेन्द्रगाः।
स्त्रीसेवासमये सौम्ययुक्तेन्दुः पुत्रजन्मदः॥ 210॥

स्त्रीसङ्ग के समय पापग्रह (रवि, शनि, मङ्गल, राहु, केतु) तीसरे, छठें अथवा ग्यारहवें स्थान में हों; सौम्यग्रह (बुध, गुरु, शुक्र, चन्द्र) पहले, चौथे, सातवें, दसवें, पाँचवें अथवा नवें स्थान पर हों और चन्द्र शुभ ग्रह के योग में हो तो पुत्र जन्म होता है।*

अन्यदप्याह —

पुराणे रजसि क्षीणे नवासृक्शुक्रसञ्चये।
स्त्रीणां गर्भाशये जीवः स्वकर्मवशगो विशेत्॥ 211॥

जब ऋतु सम्बन्धी पुराने रज का विनाश हो और नवीन रुधिर व शुक्र का संमिश्रण हो तब नारी के गर्भाशय में स्वकर्मवशात् जीव स्थान बनाता है।

स्त्रीपुंनपुसकयोगाश्च —

नारी रक्तेऽधिके शुक्रे नरः साम्ये नपुंसकः।
अतो वीर्यविवृद्ध्यर्थं वृष्ययोगाञ्श्रयेत्पुमान्॥ 212॥

संयोगकाल में यदि स्त्री का रक्त अधिक हो तो कन्या पुरुष के शुक्र का आधिक्य हो तो पुत्रोत्पति होती है। यदि स्त्री का रज और पुरुष का शुक्र एक-सा हो तो नपुंसक सन्तति होती है। अतएव वृष्य-शुक्र वृद्ध्यर्थ उचित उपाय करना अपेक्षित है।

वृष्यवस्तुनामाह —

---

* इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए वराहमिहिरकृत बृहज्जातक का दूसरा, तीसरा व चौथा अध्याय देखना चाहिए।

यत्किञ्चिन्मधुरं स्निग्धं बृंहणं बलवर्धनम्।
मनः प्रह्लादनं चैव तत्सर्वं वृष्यमुच्यते॥ 213॥

ऐसी वस्तुएँ जो मधुर, चिकनी, पुष्ट, बल की वृद्धि और हृदय में हर्षोत्पन्न करने वाली हों, वे सब वृष्य कहलाती हैं। (जैसे- दूध, उड़द, कौञ्च बीज, तालमखाना, शतावरी, अश्वगन्धा, श्वेतमूसली जैसे पदार्थ इसी गुण वाले हैं)।

जीवस्य गर्भकालेस्थित्यादीनां —

पितुः शुक्रं जनन्याश्च शोणितं कर्मयोगतः।
आसाद्य कुरुते जीवः सद्यो वपुरुपक्रमम्॥ 214॥

गर्भकाल में जीव पिता के शुक्र एवं माता के रुधिर को कर्मयोग से पाकर तत्काल ही अपना शरीर गठित करने लगता है।

गर्भेजीवस्य सप्तसप्तभि अहोरात्रानुसारेण क्रमाह —

भवेदेतदहोरात्रैः सप्तभिः सप्तभिः क्रमात्।
कललं चार्बुदं चैव ततः पेशी ततो घनः॥ 215॥

गर्भ में शुक्र-रज समिश्रण के साथ ही सात दिनों में कलल (रज-शुक्र मिश्रण) रूप तैयार होता है। अगले सात दिनों में कललार्बुद (बुलबुले जैसा) बनता है। इसके बाद के सात दिन में अर्बुद की थैली बनती है और अगले सात दिन में उस थैली का घनाकार तैयार होता है।*

मासानुसार गर्भतौलप्रमाणाह —

प्रथमे मासि तत्तावत्कर्षन्यूनं पलं भवेत्।
द्वितीयेऽभ्यधिकं किञ्चित्पूर्वस्मादथ जायते॥ 216॥

गर्भ पहले मास में 150 रत्ती के बराबर तौल का होता है और दूसरे मास में पहले मास की अपेक्षा थोड़ा अधिक होता है।

अधुना दोहदविचारं —

जनन्याः कुरुते गर्भस्तृतीये मासि दोहदम्।
गर्भानुभावतश्चैत दुत्पद्येत शुभाशुभम्॥ 217॥

---

* वराहमिहिर ने गर्भकालीन मासाधिपति के लिए 'बृहज्जातक' एवं 'लघुजातक' में कहा है कि गर्भ के पहले मास में कलल (रज-वीर्य मिश्रण), दूसरे मास में घन (पिण्ड), तीसरे मास में अङ्कुर (अवयव), चौथे मास में अस्थि, पाँचवें मास में चर्म, छठे मास में अङ्गज या केश और सातवें मास में चैतन्य होता है। सातों मासों के अधिपति क्रमशः शुक्र, मङ्गल, गुरु, सूर्य, चन्द्र, शनि और बुध होते हैं। इसके बाद आठवें, नवें और दसवें मास के स्वामी क्रमशः लग्नेश, चन्द्र और सूर्य होते हैं। महीनों के अधिपति के शुभाशुभत्व से गर्भ का शुभ या अशुभ फल होता है— कललघनाङ्कुरास्थिचर्माङ्गजचेतनताः सितकुजजीवसूर्यचन्द्रार्किबुधाः परतः। उदयपचन्द्रसूर्यनाथाः क्रमशो गदिता भवति शुभाशुभं च मासाधिपतेः सदृशम्॥ (बृहज्जातक 4, 16)

वह गर्भ तीसरे मास लगते ही माता का दोहद (हूँस या कुछ खाने की इच्छा)* उत्पन्न करता है। उक्त दोहद गर्भ के प्रभावानुसार ही शुभाशुभ का बोधक होता है।

पुंनाम्नि दोहदे जाते पुमान्स्त्रीसञ्ज्ञके पुनः।
स्त्री क्लीबाह्वे पुनः क्लीबं स्वप्नेऽप्येवं विनिर्दिशेत्॥ 218॥

यदि स्त्री को पुरुष प्रजाति की वस्तु का दोहद हो तो पुत्र के होने की सम्भावना होती है और स्त्री प्रजाति की वस्तु अभीष्ट हो तो पुत्री होगी। इसी प्रकार नपुंसक प्रजाति की वस्तु वाञ्छित हो तो नपुंसक सन्तान हो। गर्भिणी को आने वाले स्वप्न** का फल भी इसी प्रकार से जानना चाहिए।

अपूर्णादोहदाद्वायुः कुपितोऽन्तः कलेवरम्।
सद्यो विनाशयेद्गर्भं विरूपं कुरुतेऽथवा॥ 219॥

यदि दोहद पूर्ण नहीं हो तो उससे गर्भिणी के शरीर में वायु कुपित हो जाती है और गर्भ का विनाश करती है अथवा गर्भ को विरूप करती है।

पञ्चममासे गर्भस्थितिं —

मातुरङ्गानि तुर्ये तु मासे मांसलयत्यलम्।
पाणिपादशिरोऽङ्कूरा जायन्ते पञ्च पञ्चमे॥ 220॥

उक्त गर्भ चौथे मास में माता के शरीर को बहुत पुष्ट करता है और पाँचवें मास में उस गर्भ में से हाथ के दो, पाँव के दो और शिर का एक इस प्रकार कुल पाँच अङ्कुर बाहर आते हैं।

---

* गर्भकाल में महिलाएँ प्रायः कुछ-न-कुछ विशेष आहार या वस्तु की आकांक्षा करती दिखाई देती हैं। कालिदास ने वृक्षों में भी इस प्रकार की कामनाएँ देखी हैं। प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने कहा है कि दोहद से आशय ऐसा संस्कारमय द्रव्य है जो प्रसव-कारण परिलक्षित होता है- दोहदं वृक्षादीनाम् प्रसवकारणं संस्कारद्रव्यम् (मेघदूत, उत्तरमेघ पृष्ठ 132)। इसी बात को नैषधीयचरितम् में श्रीहर्ष ने अभिव्यक्त किया है कि दोहद ऐसे द्रव या द्रव्य की फूँक स्वीकारनी चाहिए जो वृक्ष, पौधों एवं लतादि में पुष्प प्रसवित करने का सामर्थ्य प्रदान करती है— महीरुहाः दोहदसेकशक्ति-राकालिकं कोरकमुद्गिरन्ति। (नैषधीय. 3, 21)
कामिनी के स्पर्श से प्रियङ्गु विकसित होता है तथा बकुल वृक्ष मुखासवपान, अशोक पादाघात, तिलक दृष्टिपात, कुरबक आलिङ्गन, मन्दार मधुरवचन, चम्पक वृक्ष मृदु मुस्कान व हास्य तथा कनैल का वृक्ष नीचे नृत्य करने से पुष्पित होता है—स्त्रीणां स्पर्शात्प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्पादाघातादशोकास्तिलककुरबकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम्। मन्दारो नर्मवाक्यात्पटु-मृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवाताच्चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात् कर्णिकारः॥ (मेघदूत 2, 18)

**कल्पसूत्र में नारी को इस काल में होने वाले सपनों का सुन्दर वर्णन आया है। इन सपनों के आधार पर ही पुत्र के महापुरुष होने का पूर्वानुमान प्रकट किया गया है। महारानी त्रिशला को आए चौदह महास्वप्नों में गज, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी, पुष्पमाला, चन्द्र, सूर्य, ध्वजा, कुम्भ, पद्मसरोवर, समुद्र, विमान, रत्नराशि व निर्धूम अग्नि हैं—गय वसह सीह अभिसेय दाम ससि दिणयरं झय कुंभं। पउमसर सागर विमाण भवण रयणुच्चय सिहिं च॥ (कल्पसूत्र 33, 1)

षष्ठे तूषचिनोत्युच्चैरात्मनः पित्तशोणिते।
सप्तमे पूर्वमानात्तु पेशी पञ्चशतीगुणा॥ 221॥

उक्त गर्भ छठे मास में उसके पित्त और रक्त को बढ़ता है और सातवें मास में पूर्व कथित पेशी या थैली तौल में पहले से पाँच सौ गुनी हो जाती है।

करोति नाभिप्रभवां नाडीसप्तशती तथा।
नवसङ्ख्याः पुनस्तत्र धमनी रचयत्यसौ॥ 222॥

इसके बाद, वह गर्भ वृद्धि को प्राप्त करता हुआ नाभि से निकलने वाली 700 नाड़ियाँ और 9 धमनियाँ उत्पन्न करता है।

नाड्यः सप्तशतानि स्यूर्विंशत्यूनानि योषिताम्।
भवेयुः षंढदेहे तु त्रिंशदूनानि तान्यपि॥ 223॥

उक्त सात सौ नाड़ियों में से स्त्री के शरीर में 680 और नपुंसक के शरीर में 670 नाड़ियाँ होती है अर्थात् पुरुष से स्त्री के शरीर में 20 और नपुंसक के शरीर में 30 नाड़ियाँ कम होती हैं।

नव स्त्रोतांसि पुंसा स्युरेकादश तु योषिताम्।
दन्तस्थानानि कस्यापि द्वात्रिंशत्$_{32}$ पुण्यशालिनः॥ 224॥

पुरुष के शरीर में नौ स्त्रोत (द्वार) होते हैं और स्त्री के शरीर में ग्यारह। इसी प्रकार किसी-किसी भाग्यशाली पुरुष के बत्तीस दन्त होते हैं।

सन्धीन् पृष्ठकरण्डस्य कुरुतेऽष्टादश स्फुटम्।
प्रत्येकमन्त्रयुग्मं च व्यामपञ्चकमानकम्॥ 225॥

जीव पृष्ठकरण्ड (पीठ की अस्थियों) की 18 सन्धियाँ करता हैं और प्रत्येक जीव दोनों मिलकर पाँच वाम जितनी लम्बी आँत को जोड़ता है।

करोति द्वादशाङ्गे च पांशुलीनां करण्डकान्।
तथा पांशुलिकाषट्क मध्यस्थः सूत्रधारवत्॥ 226॥

गर्भ में स्थित जीव सूत्रधार की तरह शरीर में बारह पसली के करण्डक और छह पसलियों का निर्माण करता है।

लक्षानां रोमकूपानां कुरुते कोटिमत्र च।
अर्धतुर्या रोमकोटीस्तिस्रः सश्मश्रुमूर्धजाः॥ 227॥

गर्भ में स्थित जीव करोड़ में एक लाख कम अर्थात् 99 लाख रोमकूप और सिर के तथा दाड़ी, मूँछ के सब मिलाकर कुल साढ़े तीन करोड़ रोम उत्पन्न करता है।

अष्टमे मासि निष्पन्न प्रायः स्यात्सकलोऽप्यसौ।
तथौजोरूपमाहारं गृह्णात्येष विशेषतः॥ 228॥

उक्त गर्भ प्रायः आठवें मास में परिपक्व होता है और विशेषकर ओजाहार (रूप, आहारादि) प्राप्त करता हुआ पुष्ट होता है।

जीवस्य गर्भावासावधिं —

गर्भे जीवो वसत्येवं वासराणां शतद्वयम्।
अधिकं सप्तसप्ताया दिवसार्धेन च ध्रुवम्॥ 229॥

सामान्यतया कोई जीव गर्भवास में साढ़े 277 दिवस तक निवास करता है अर्थात् यह गर्भावधि कही गई है।

गर्भस्त्वधोमुखो दुःखी जननीपृष्ठसम्मुखः।
बद्धाञ्जलिर्ललाटे च पच्यते जठराग्निना॥ 230॥

गर्भ में स्थित जीव माता की पीठ की ओर नीचा मुँह किए, अपनी ललाट पर बद्धाञ्जलि रूप में बहुत दुःख में रहता है। वह अपनी माता की जठराग्नि से ही परिपक्व होता है।

असौ जागर्ति जाग्रत्यां स्वपत्यां स्वपिति स्फुटम्।
सुखिन्यां सुखवान् दुःखी दुःखवत्यां च मातरि॥ 231॥

इसी प्रकार जब माँ जगती है तो गर्भ जगता है और माता के सोने पर गर्भ भी सो जाता है। माँ जब सुखानुभूति करे तो गर्भ भी सुखी होता है और माँ के दुखी होने पर गर्भ भी खेद पाता है।

पुरुषो दक्षिणे कुक्षौ वामे स्त्री यमलौ द्वयोः।
ज्ञेयं तूदरमध्यस्थं नपुंसकमसंशयम्॥ 232॥

यदि पुरुष जाति का गर्भ हो तो वह दाहिनी ओर होता है। स्त्री जाति का हो तो बायीं ओर यदि यमल सन्तति या जुड़वाँ हो तो उभय पार्श्व में और नपुंसक जाति का गर्भ हो तो कुक्षी के मध्यभाग में अवस्थित रहता है।

गण्डातादीनां विचारं —

गण्डान्तो मूलमश्लेषा विषमस्थानगा ग्रहाः।
कुदिनं मातृदुःखं च न स्युर्भाग्यवतां जनौ॥ 233॥

भाग्यशाली मनुष्य के जन्म समय गण्डान्त*, मूल नक्षत्र, आश्लेषा नक्षत्र,

---

* गण्डान्त तीन प्रकार के हैं- तिथिगण्डान्त, नक्षत्रगण्डान्त तथा लग्न या राशि गण्डान्त। ये अनिष्टकारी होते हैं। शुभकार्यों के प्रसङ्ग में इनका त्याग कर दिया जाना चाहिए— गण्डान्त त्रिविधं प्रोक्तं नक्षत्रतिथिराशिजम्। नवपञ्चचतुर्थ्यंते ह्योकार्द्धघटिकामितम्॥ (मुहूर्तदीपकटीका 20) अश्विनी एवं रेवती के पूर्व व बाद की दो-दो घटी, मघा व आश्लेषा के पूर्व व बाद की दो-दो घटी, मूल व ज्येष्ठा के पूर्व व बाद की दो-दो घटी तक गण्डान्त होता है। ऐसे में इनकी शान्ति करवाई जाती है। त्रिविध गण्डान्त के विषय में ज्योतिष की मान्यता यह भी है कि नक्षत्र, तिथि व लग्न या राशि संज्ञक तीनों

विपरीत स्थानगत ग्रह और बुरे दिवस नहीं होते हैं और प्रसव के समय माता को दु:ख भी नहीं होता है।

मूलाश्लेषार्क्षफलमाह —

पितुर्मातुर्धनस्य स्यान्नाशायांह्रित्रयं क्रमात्।
शुभो मूलस्य तुर्यांह्रिरश्लेषाया व्यतिक्रमात्॥ 234॥

जन्मकाल में मूल नक्षत्र का पहला, दूसरा व तीसरा चरण क्रमश: पिता, माता एवं धन का नाश करता है। चौथा चरण शुभ होता है। इसके विपरीत आश्लेषा नक्षत्र का पहला चरण शुभ और दूसरा, तीसरा व चौथा चरण क्रमश: पिता, माता व धन का नाश करता है, ऐसा जानना चाहिए।**

ही गण्डान्त का त्याग करना चाहिए। नक्षत्र गण्डान्त में नौ 2 के अन्त में 2 घटी, तिथि में पाँचवीं 2 के बाद 1 घटी तथा लग्न या राशि गण्डान्त में चौथी 2 के अन्त वाली घटी का त्याग किया जाना चाहिए। आश्लेषा, मूल एवं गण्डान्त की निवृत्ति के लिए अपने निमित्त शुभैच्छु जनों को विधिपूर्वक सूतकान्त में तीसरे मास में अथवा वर्ष के अन्त में, उसी जन्म नक्षत्र में उसकी शान्ति शास्त्रोक्त विधि से करवानी चाहिए, ऐसा वशिष्ठ का मत है— नैर्ऋत्य भौजङ्गमगण्डदोषनिवारणायाभ्युदयाय नूनम्। पितामहोक्तां रुचिरां च शान्ति प्रकुर्याद्वंशस्य हिताय नूनम्॥ शास्त्रोक्तरीत्या खलु सूतकान्ते मासे तृतीयेऽप्यथ वत्सरान्ते। कुर्याच्छान्तिं तद्दक्षे वा तद्दोषस्यापनुत्तये॥ (वशिष्ठसंहिता 42, 22 एवं 27-28)

**मुहूर्त ग्रन्थों में आया है कि जो शिशु मूल नक्षत्र के प्रथम चरण में जन्मा हो वह पिता; द्वितीय चरणोत्पन्न पुत्र माता और तृतीय चरणोत्पन्न पुत्र धनादि का क्षय करता है जबकि चतुर्थ चरणोत्पन्न शिशु शुभ होता है। इस के विपरीत आश्लेषा नक्षत्र के चतुर्थ चरण में जन्मा शिशु पिता के लिए घातक है, तृतीय चरणोत्पन्न शिशु माता के लिए, द्वितीय चरण में उत्पन्न बालक धन का क्षयकारक होता है जबकि प्रथम चरणोत्पन्न शिशु इन सब दृष्टियों से उत्तम होता है। मूलादि नक्षत्र में शिशु के जन्म पर आवश्यक शान्ति करवाएँ—कृच्चाथमूलाङ्घ्रिषूत्थ स्तातास्वाम्बित्तहेष्टोवि- सदृशमहिभे स्नानहोमैश्च शान्ति:॥ (मुहूर्ततत्त्व 3, 6)

धाराधिप भोज का कथन है कि गण्डान्त में उत्पन्न जातक को देखना शुभ नहीं होता, अन्य आचार्यों का कहना है कि होम, दान के बाद उसे देखना शुभ होता है—गण्डप्रसूतं पुरुषं शुभमाहुरपश्यताम्। अन्ये तु होमपूर्वेण दानेन दर्शनं शुभम्॥ (राजमार्तण्ड 138)

यह भी कहा गया है— मूलामघाश्चिचरणे प्रथमे च नूनं पौष्णेन्द्रयोश्च फणिनश्चरणे चतुर्थे। मातु: पितु: स्ववपुषोपि करोति नाशं जातो यदा निशि दिनेप्यथ सन्ध्ययोश्च॥ (तत्रैव 135)

गर्गसंहिता (पीयूषधाराटीका में 2, 57 पर उद्धृत), ज्योतिर्निबन्ध (पृष्ठ 240), राजमार्तण्ड आदि में नक्षत्रशान्ति की विधि दी गई है। राजमार्तण्ड में निम्न श्लोक मिलते हैं— कांस्यपात्रं प्रकुर्वीत पलै: षोडशभिर्बुध:। अष्टाभिर्वा चतुर्भिर्वा द्वाभ्यां वा शोधनं स्मृतम्॥ तन्मध्ये स्थापितं शङ्खं नवनीतप्रपूरितम्। राजचन्दनमभ्यर्च्य शतपत्रसहस्रकै:॥ दैवज्ञ: सोपवासश्च शुक्लाम्बरधर: शुचि:। सोमोहमिति सञ्चिन्त्य कुर्यादेवमतन्द्रित:॥ जपेत्साहस्रिहं जाप्यं श्रद्दधान: समाहित:। दद्याद्वै दक्षिणामिष्टां गण्डदोषोपशान्तये॥ शुद्धचामीकरं दद्यात्ताम्रपात्रं तिलान्वितम्। गण्डदोषोपशान्त्यर्थं ज्योतिर्वेदविदे शुचि:॥ ॐ अमृतात्मने नम:॥ इति मन्त्र:। (राजमार्तण्ड 143-147)

शूरमहाठ शिवराज ने 'ज्योतिस्सारसागर' के मत को उद्धृत करते हुए स्पष्ट किया है कि अश्विनी, मघा व मूल नक्षत्र की 3, 4, 9 आदि घटी का; रेवती, आश्लेषा नक्षत्र की अन्तिम 1, 11, 6 घटियों का त्याग करना चाहिए—अश्विनीपौष्णमूलादौ त्रि$_3$वेद$_4$नव$_9$नाडिका। रेवतीसर्पशक्रान्ते मास-रुद्र-रसस्तथा॥ (ज्योतिर्निबन्ध पृष्ठ 70, श्लोक 31)

आद्यः षष्ठस्त्रयोविंशो द्वितीयो नवमोऽष्टमः।
अष्टाविंशश्च मूलस्य मुहूर्ता दुःखदा जनौ॥ 235॥

मूल नक्षत्र के तीस मुहूर्त्त में पहला, दूसरा, छठवाँ, आठवाँ नवाँ, तेरहवाँ अथवा अठाईसवाँ मुहूर्त जन्म के समय हो तो माता के लिए दुःखदायी जानना चाहिए।

परजातजन्मविचारं —

भौमार्कशनिवाराश्चे दसंपूर्णं च भं तथा।
भद्रा तिथिस्त्रिसंयोग परजातः पुमान् भवेत्॥ 236॥

यदि सन्तान के जन्म के समय रवि, मङ्गल, शनि– इनमें से एक वार, अपूर्ण नक्षत्र और भद्रा तिथि (2, 7, 12) इन तीनों का योग हो तो उत्पन्न हुई सन्तति व्यभिचारी होती है।

अधुना जारजातं —

गुरुर्न प्रेक्षते लग्नं सार्केन्दु च तथा विभुः।
सक्रूरेन्दुयुतोऽर्कैश्चेच्चतुर्थे भे परात्मजः॥ 237॥

यदि लग्न में सूर्य और चन्द्रमा हो, लग्न का स्वामी और गुरु लग्न को न देखे, और चतुर्थ स्थान में पापग्रह सहित चन्द्र और सूर्य हो तो किसी परपुरुष से सन्तति उत्पन्न हुई है, ऐसा जानना चाहिए।*

अधुना दन्तोद्भवफलं —

यदि दन्तैः समं जन्म यदि वा दशनाः शिशोः।
स्युर्मध्य सप्तमासस्य कुलनाशस्तदा ध्रुवम्॥ 238॥
शान्तिकं तत्र कर्तव्यं दुर्निमित्तविनाशकम्।

जो शिशु दन्त सहित जन्मा हो या सात मास के भीतर बालक के दन्त उत्पन्न हो जाए तो निश्चित ही कुल का विनाश होता है। इसलिए उस अल्प लक्षण के नाश के हेतु (ज्योतिषशास्त्र निर्दिष्ट) शान्ति और पुष्टिकर्म करना अपेक्षित है।**

जन्मप्रभृतितो दन्ताः पूर्णाः स्युर्वत्सरद्वये॥ 239॥
सप्तमाद्दशवर्षान्तर्निपत्योद्यन्ति ते पुनः।

---

* यवनेश्वर का मत है— अजीवभागेऽप्यनवीक्षिते वा जीवेन चन्द्रेऽथ विलग्नभे वा। जातं परोद्भूतमिति ब्रुवन्ति वाच्यो जनेनाथ बलावलोकात्॥ (बृहज्जातक भट्टोत्पलीय विवृति 5, 6 पर उद्धृत) उक्त योगों में यदि चन्द्रमा गुरु की राशि या द्रेष्काणादि में हो तो परजात नहीं समझना चाहिए— गुरुक्षेत्रगते चन्द्रे तद्युक्ते वाऽन्यराशिगे। तद्द्रेष्काणे तदंशे वा न परेजात इष्यते॥ (तत्रैवोद्धृत गार्गि वचन)

**बल्लालसेन कृत 'अद्भुतसागर' में इस प्रकार की विभिन्न शान्तियों का वर्णन आया है। वैसे राजमार्तण्डोक्त शान्ति, पुष्टिकर्म के विषय में पूर्व 234वें श्लोक की पाद टिप्पणि में कहा गया है। इनमें साम्प्रदायिक शान्तियाँ भी विचारणीय हो सकती है। मत्स्यपुराण में जननोत्पात शान्ति के अर्थ में विप्रों को सन्तुष्ट करने का निर्देश है।

सामान्यतया जन्म दिन से लेकर दो वर्ष पूरे हो, उतने समय में बालक के सम्पूर्ण दांत आते हैं और सातवें वर्ष से लगाकर दसवें वर्ष के भीतर सब दांत एक बार गिरकर पुनः नए दांत आ जाते हैं।

दन्तसङ्ख्यानुसारेणफलोच्यते —

राजा द्वत्रिंशता दन्तैर्भोगी स्यादेकहीनया॥ 240॥
त्रिंशता तनुवित्तोऽष्टाविंशत्या सुखितः पुमान्।
एकोनत्रिंशता निःस्वो हीनैर्दन्तैरतोऽधमः॥ 241॥

जिसके पूरे 32 दांत हों वह राजा होता है। इसी प्रकार 31 दांत वाला भोगी, 30 दांत वाला अल्प द्रव्य वाला, 28 वाला सुखी, 29 वाला दरिद्री और यदि 28 से कम दांत हो तो ऐसा व्यक्ति अधम होता है।

कुन्दपुष्पोपमाः श्लक्ष्णाः स्निग्धा ह्यरुणपीठिकाः।
तीक्ष्णदंष्ट्रा घना दन्ता धनभोगसुखप्रदाः॥ 242॥

कुन्द के फूल की आभा वाले, महीन, मुलायम, लाल मसूढ़ों वाले, तीक्ष्ण दाढ़ वाले और सुदृढ़– ऐसे दांत धन, भोग और सुखप्रदाता जानने चाहिए।

खरद्वीपिरदा धन्याः पापाश्चाखुरदास्तथा।
द्विपक्तिविरलश्यामकरालासमदन्तकाः॥ 243॥

गधे और सिंह के दांत की तरह मनुष्य के दांत हों तो वे श्रेष्ठ जानने चाहिए किन्तु यदि दो पंक्तियों से ऊगे हुए, छूटे-छूटे, काले, विकराल और बिखरे हुए या असमान दांत आए हुए हों तो वे पापकारी व दुःखद होते हैं।

सङ्गमोपरान्त निषिद्धकर्मादीनां —

निरोधभङ्गमाधाय परिज्ञाय तदास्पदम्।
विमृश्य जलमासन्नं कृत्वा द्वारनियन्त्रणम्॥ 244॥
इष्टदेवनमस्कार नष्टापमृतिभीः शुचिः।
रक्षामन्त्रपवित्रायां शय्यायां पृथुताजुषि॥ 245॥
सुसंवृतपरीधानः सर्वाहारविवर्जकः।
वामपार्श्वेन कुर्वीत निद्रां भद्राभिलाषुकः॥ 246॥*(त्रिभिर्विशेषकम्)*

कल्याण के अभिलाषी पुरुष को स्त्रीसङ्ग के बाद मल-मूत्र की शङ्का हो तो टालनी चाहिए; शङ्का न हो तो मल-मूत्र का स्थान कहाँ है, यह देख रखना चाहिए; सब आहार का त्याग करना; पास में जल रखना; द्वार बन्द करना; पवित्र होकर इष्टदेव को नमस्कार कर अपमृत्यु का भय टालना चाहिए। इसके बाद स्वयं पवित्र होकर रक्षामन्त्र से पवित्र की हुई चौड़ी शय्या के बिछोने पर अच्छी तरह ओढ़कर

बायीं करवट से सोना चाहिए।

निशाकाले निद्राविचारं —

अनादिप्रभवा जीवे तमोहेतुस्तमोमयी।
प्राचुर्यात्तमसः प्रायो निद्रा प्रादूर्भवेन्निशि॥ 247॥

समस्त प्राणियों को अनादि काल से लगी हुई निद्रा स्वयं तमोगुणी होने से अन्धकारमय रात्रि के समय में ही प्रायः प्रकट होती है अर्थात् रात्रि निद्रा के लिए है।

श्लेष्मावृतानि स्रोतांसि श्रमादुपरतानि च।
यदाक्षाणि स्वकर्मभ्यस्तदा निद्रा शरीरिणाम्॥ 248॥

जिस समय संज्ञावाहन स्रोत (नाड़ियाँ) कफ से भरती हैं और इन्द्रियाँ श्रम से अपना काम बन्द कर देती हैं तब तब प्राणियों को निद्रा होती है।

निवृत्तानि यदाक्षाणि विषयेभ्यो मनः पुनः।
न निवर्तेत वीक्षन्ते तदा स्वप्नान् शरीरिणः॥ 249॥

जब इन्द्रियाँ थक जाने के कारण अपना काम बन्द करती हैं परन्तु मन अपना काम निरन्तर करता रहता है, तब प्राणियों को स्वप्न आते हैं।

अतिनिद्रा अनुचितं —

अत्यासक्त्यानवसरे निद्रा नैव प्रशस्यते।
एषा सौख्यायुषी काल रात्रिवत्प्रणिहन्ति च॥ 250॥

अति आसक्ति से और असमय की निद्रा अच्छी नहीं होती है क्योंकि वह निद्रा कालरात्रि की तरह सुख और आयुष्य का नाश करती है।

संर्वधयति सैवेह युक्त्या निद्रा सुखायुषी।
अनवच्छिन्नसन्ताना सुधाकुल्येव वीरुधः॥ 251॥

जिस प्रकार अविच्छिन्न करके दी गई अमृत समान लता सुखावसर पाकर बहुत काल तक जीवित रहती है, वैसे ही निद्रा ऐसी युक्ति से ली जाए कि उससे सुख व आयु की अभिवृद्धि हो।

रजन्यां जागरो रूक्षः स्निग्धः स्वापश्च वासरे।
रूक्षस्निग्धमहोरात्रमासीनप्रचलयितम्॥ 252॥

रात्रि को जागृत रहना रूक्ष है और दिन को सोना स्निग्ध माना गया है। दिन को बैठ रहना और रात को उद्यम करना– यह रूक्ष-स्निग्ध (जैसा कि आजकल की दिनचर्या में होता जा रहा है) जानना चाहिए।

दिवाकाले निद्रायोग्यकारणं —

क्रोधभीशोकमद्यस्त्री भारयानाध्वकर्मभिः।
परिक्लान्तैरतीसार श्वासहिक्कादिरोगिभिः॥ 253॥
वृद्धबालाबलक्षीणैः क्षुत्तृट्शूलादिविह्वलैः।
अजीर्णिप्रमुखैः कार्यो दिवास्वापोऽपि कर्हिचित्॥ 254॥
धातुसाम्यं वपुःपुष्टिस्तेषां निद्रागमाद्भवेत्।
रसः स्निग्धो घनः श्लेष्मा मेदस्व्यह्नि शयीत न॥ 255॥

क्रोध के कारण, भय, शोक, मद्यपान, स्त्रीसङ्ग, भारवाह, वाहन में बैठना और रास्ते पर गमन इत्यादि कारणों से, थके हुए, अतिसार, श्वास, हिचकी जैसे रोगों से पीड़ित; वृद्ध, बालक, दुर्बल, बीमारी आदि भोगने से क्षीणकाय, क्षुधा, तृषा शूल आदि से पीड़ित और अजीर्णादि रोगों से उपद्रव पाए हुए मनुष्यों को दिन में भी किसी भी समय हो जाना चाहिए क्योंकि उनके शरीर में विषम हुआ धातु ऐसा करने से सम होता है; शरीर को पुष्टि मिलती है, रस-धातु स्निग्ध होता है और शुद्ध कफ पुष्ट होता है किन्तु जिसके शरीर में मेद भरा हो, उस मनुष्य को दिन में कदापि नहीं सोना चाहिए।*

वातोपचयरौक्ष्याभ्यां रजन्याश्चाल्पभावतः।
दिवा स्वापःसुखो ग्रीष्मे सोऽन्यदा श्लेष्मपित्तकृत्॥ 256॥

ग्रीष्म ऋतु में शरीर में वायु का सञ्चार होता है, हवा रूक्ष होती है और रात छोटी होती है। इन तीनों कारणों से उस ऋतु में दिन का सोना सुखकारक माना गया है किन्तु दूसरी ऋतु में ऐसा करने से कफ, पित्त का विकार उत्पन्न होता है।

दिवा स्वापो निरन्नानामपि पाषाणपाचकः।
रात्रिजागरकालार्थं भुक्तानामप्यसौ हितः॥ 257॥

मनुष्य यदि कुछ भी खाए बिना दिन में सोता रहे, तो उसके पेट में कदापि पाषाण हो तो वह भी पच जाता है। रात को जगना हो तो दिन को भोजन के बाद भी सोये रहना हितकारक है।

---

* सुश्रुतसंहिताकार का मत है कि सभी ऋतुओं में दिवस शयन निषिद्ध है किन्तु ग्रीष्म ऋतु में दिन में शयन निषिद्ध नहीं है। यदि बालक, वृद्ध, स्त्रीसेवन से कृश, क्षतरोगी, क्षीण, मद्यप, यान-वाहन-यात्रा अथवा परिश्रम करने से थके हुए, भोजन न करने वाले, मेद-स्वेद-कफ-रस-रक्त से क्षीण हुए और अजीर्ण रोगी मुहूर्तमात्र यानी 48 मिनट तक दिन में सो सकते हैं। इसके अतिरिक्त जिन लोगों ने रात्रि को जागरण किया हो, वे भी जागरण के आधे समय तक दिन में सो सकते हैं— सर्वर्तुषु दिवास्वापः प्रतिषिद्धोऽन्यत्र ग्रीष्मात्। प्रतिषिद्धेष्वपि तु बालवृद्धस्त्रीकर्शितक्षतक्षीण-मद्यनित्ययानवाहनाध्वकर्मपरिश्रान्तनामभुक्तवतां मेदःस्वेदकफरसरक्तक्षीणानामजीर्णिनां च मुहूर्तं दिवास्वपनमप्रतिषिद्धम्। रात्रावपि जागरितवतां जागरितकालादर्धमिष्यते दिवास्वपनम्। (सुश्रुतसंहिता शारीर. 4, 38)

उल्लासोपसंहरति —

यातेऽस्ताचलचूलिकान्तरभुवं देवे रवौ यामिनी-
यामार्धेषु विधेयमित्याभिदधे सम्यग्मया सप्तसु ॥
यस्मिन्नाचरिते चिराय दधते मैत्रीमिवाकृत्रिमां
जायन्ते च वंशवदाः शुचिधियां धर्मार्थकामाः स्फुटम् ॥ 258 ॥

इस प्रकार से सूर्यास्त के बाद रात के सात चौघड़ियों तक का कृत्य मैंने सम्यक् प्रकार से यहाँ कहा है। शुद्ध मन वाले मनुष्यों को इन कृत्यों का आचरण करने से धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों पुरुषार्थ मित्र की भाँति प्रकटीभूत हो जाते हैं।

इति श्रीजिनदत्तसूरि विरचिते विवेकविलासे दिनचर्यायां पञ्चमोल्लासः ॥ 5 ॥

इति श्रीजिनदत्त सूरि कृत विवेकविलास में दिनचर्या का पाँचवाँ उल्लास पूर्ण हुआ।

अथ ऋतुचर्या नाम षष्ठोल्लासः ॥ 6 ॥

अथोल्लासप्रयोजनाह —

कालमाहात्म्यमस्त्येव सर्वत्र बलवत्तरम्।
ऋत्वौचित्यात्तदाहार विहारादि समाचरेत्॥ 1 ॥

सर्वत्र काल माहात्म्य अपना प्रबल सामर्थ्य रखता है। इसलिए कालानुसार ऋतु[1] को जैसा उचित लगे, उस रीति से आहार-विहार आदि करना चाहिए।

---

1. वर्ष में ऋतुएँ छह हैं। चैत्र-वैशाख में वसन्त ऋतु; ज्येष्ठ-आषाढ में ग्रीष्म; श्रावण-भाद्रपद में वर्षा; आश्विन-कार्तिक में शरद; मार्गशीर्ष-पौष में हेमन्त और माघ-फाल्गुन में शिशिर ऋतु होती है।

षड्ऋतुचर्याविर्णनं प्रथमे वसन्तचर्यां —

वसन्तेऽभ्यधिकं क्रुद्धः श्लेष्माग्निं हन्ति जाठरम्।
तस्मादत्र दिवास्वापं कफकृद्वस्तु च त्यजेत्॥ 2 ॥

वसन्त ऋतु में कफ का अतिशय प्रकोप होता है और उससे लोगों की जठराग्नि मन्द पड़ जाती है। इसलिए इस ऋतु में दिन को निद्रा लेनी चाहिए और कफ को बढ़ाने वाली समस्त वस्तुओं को वर्जित जानना चाहिए।

व्यायामधूमकवल ग्रहणोद्वर्तनाञ्जनम्।
वमनं चात्र कर्तव्यं कफोद्रेकनिवृत्तये॥ 3 ॥

वसन्त में कफ के प्रकोप की शान्ति के निमित्त व्यायाम और धूमपान करने चाहिए। मुँह में औषधी का कवल लेना, विलेपन करना, आँखों में अञ्जन और औषधी लेकर वमन भी करना चाहिए।

भोज्यं शाल्यदि चास्निग्धं तिक्तोष्णकटुकान्वितम्।
अतिशीतं गुरु स्निग्धं पिच्छिलामद्रवं नतु॥ 4 ॥

इस ऋतु में बहुत स्निग्ध नहीं और जिसके भीतर तीखा और कडुआ रस हो, ऐसा चावल आदि अन्न आहार में गरम लेना चाहिए। इसके विपरीत बहुत ठण्डा, पचने में अधिक समय लेने वाला, घृतादि स्निग्ध वस्तुएँ, चिकना, कच्चा और पतला अन्न इस ऋतु में भक्षण नहीं करना चाहिए।

श्लेष्मघ्न्युञ्जीत मात्राया पानकानि च।
स्वं कृष्णागुरुकाश्मीर चन्दनैश्च विलेपयेत्॥ 5॥

इसमें कफ का नाश करने वाले पेय, शरबत आदि का यथेष्ट उपयोग किया जा सकता है और अपने शरीर पर मलयागिरि चन्दन, अगरु, काश्मीरी केशर का लेपन करना चाहिए।

पवनो दक्षिणश्चूत मञ्जरी मल्लिकास्रजः।
ध्वनिर्भृङ्गपिकानां च मधौ कस्योत्सवाय न॥ 6॥

बसन्तऋतु में चलने वाली दक्षिण दिशा की पवन, आम की मञ्जरी, मल्लिकापुष्प की मालाएँ और भ्रमर और कोकिला के मधुर स्वर किसके मन को हर्ष उत्पन्न नहीं करते? अर्थात् सबका का ही मन हर्षित करती हैं।

अथ ग्रीष्मचर्या —

ग्रीष्मे भुञ्जीत सुस्वादु शीतं स्निग्धं द्रवं लघु।
यदत्र रसमुष्णांशुराकर्षत्यवनेरपि॥ 7॥

ग्रीष्म ऋतु में मधुर, शीतल, स्निग्ध, पतला और हल्का अन्न लेना चाहिए क्योंकि यह ऋतु सूर्य-भूमि के भी सब रसों को खींच लेती है॥ 7॥

पयः शाल्यादिकं सर्पिरथमस्तु सशर्करम्।
अत्राश्रीयाद्रसालाश्च पानकानि हिमानी च॥ 8॥

इस ऋतु में भैंस का दूध, चावल आदि धान्य और घृत भक्षण करना चाहिए। दही अथवा छाछ पर आया हुआ पानी शक्कर डालकर पीना चाहिए और श्रीखण्ड आदि शीतल पेय उपयोग में लाने चाहिए।

पिबेज्ज्योत्स्नाहतं तोयं पाटलागन्धबन्धुरम्।
मध्याह्नं कायमाने वा नयेद्धारागृहेऽथवा॥ 9॥

इस ऋतु में चन्द्रमा की किरणों से शीतल हुआ और पाटलापुष्प की सुगन्ध से मन को हरने वाला जल पीना चाहिए। दोपहर का समय वाटिका में निर्मित आवास या धारागृह, जलहौद के पास व्यतीत करना चाहिए।

वल्लभाङ्गलतास्पर्शात्तापश्चात्र प्रशाम्यति।
व्यजनं सलिलार्द्रं च हर्षोत्कर्षाय जायते॥ 10॥

ग्रीष्म में अपनी प्रिया के अङ्गरूप बेल को स्पर्श करने से ताप की शान्ति होती है और जल से भीगा हुआ व्यंजन या पङ्खा बहुत ही आराम-आनन्द देता है।

सौधोत्सङ्गे स्फुरद्वायौ मृगाङ्कद्युतिमण्डिते।
चन्दनद्रवलिप्ताङ्गो गमयेद्यामिनीं पुनः॥ 11॥

इस ऋतु में पवन से आनन्द उत्पन्न कराने वाली और चन्द्रमा की किरणों से शोभित चाँदनी (वितान) में शरीर पर सुगन्ध युक्त चन्दन का आलेप करके रात्रि का समय व्यतीत करना चाहिए।

दुर्बलाङ्गस्तथात्यम्ल कटूष्णलवणान रसान्।
नाद्याद्व्ययाममुद्दाम व्यवसायं सुधास्त्यजेत्॥ 12॥

बुद्धिशाली पुरुष का ग्रीष्मकाल में शरीर में बल कम होने से अति खट्टा, कटु और खारा– ये तीन रस और गरम-गरम अन्न नहीं खाना चाहिए और व्यायाम व बहुत उद्यम भी नहीं करना चाहिए।

मृद्वीकाहृद्यपानीनि सितांशुकविलेपने।
धारागृहाणि च ग्रीष्मे मदर्यान्त मुनीनपि॥ 13॥

दाख के निर्मित स्वादिष्ट शर्बत, सफेद और हल्के वस्त्र, सफेद विलेपन और धारागृह* ये सब वस्तुएँ इस ऋतु में मुनियों में भी मद उत्पन्न कर दें ऐसी कही गई है।

अथ वर्षर्तुचर्या:

प्रावृषि प्राणिनां दोषाः क्षुभ्यन्ति पवनादयः।
मेघवातधरावाष्प जलशीकरयोगतः॥ 14॥

पावस ऋतु में बादल के पवन से, भूमि से निकलने वाली भाप से और जल के बिन्दुओं से मनुष्य के वातादि दोष कुपित होते हैं।

एते ग्रीष्मातिपाताद्धि क्षीणाङ्गानां भवन्त्यलम्।
धातुसाम्यकरस्तस्माद्विधिः प्रावृषि युज्यते॥ 15॥

---

* अपराजितपृच्छा में धारागृह का वर्णन इस प्रकार आया है— पदैर्द्वादशभिर्वास्तु योजयेज्जलयन्त्रके। पदस्थाने तथा देवान् पश्चात् कर्म समाचरेत्॥ कृते सप्तपदे क्षेत्रे ब्राह्मभद्रं पदत्रये। विंशतिस्तम्भसम्युक्तं पदिका स्तम्भशालिका॥ मध्ये चतुष्किका कार्या ब्रह्मणः पदमाश्रिता। वेदिकास्तत्र कर्तव्याश्चतुर्विंशतिपाद्युता:॥ वास्तुं प्रपूजयेत्प्राज्ञो जलयन्त्रोचितं तथा। षोडशाङ्घ्रिसमायुक्तमन्यथा दोषकृद् भवेत्॥ चतुरश्रं समं क्षेत्रं स्तम्भैर्द्वादशभिर्युतम्। पद्माकृति शुभं मध्ये जलयन्त्रं तु सुव्रत॥ अनभावृष्टिः कर्तव्या आयवास्तुसमन्वितम्। नानाविचित्ररूपाणि चतुर्दिक्षु प्रकल्पयेत्॥ चतरश्रीकृते क्षेत्र सप्तभागविभाजिते। भद्राणि त्रिपदानि स्युः कोणे कूपाश्च कारेयत्॥ विषमाः कूपिकाः कार्याः समा वै दोषदास्तथा। यन्त्रतो द्विगुणोच्छ्रायं त्रिगुणं च तथायते॥ अधस्तात्तु पुनर्मध्ये धाराख्यं मण्डपं शुभम्। स्तम्भैर्द्वादशभिर्युक्तमेकेन कलशेन च॥ चतुष्काश्चतुर्दिक्षु द्वौ द्वौ स्तम्भौ च कल्पयेत्। करोटकं समायुक्तं कलशैश्चैकषष्टिभिः॥ रथिकाकूटघण्टाभिः सुवृत्तं शुक्रनासकैः। भ्रमश्च दर्शयत्तोयं विचित्रैर्मणिकुट्टिमैः॥ तद्बाह्यतस्तु प्राकारं कपिशीर्षविवर्जितम्। हट्टयन्त्रसमाकीर्णं सजलैः सारणैर्युतम्॥ परिखा तत्र बाह्ये तु सप्तहस्तप्रमाणतः। काननं त्वेवमाख्यातं नृपाणां क्रीडनार्थकम्॥ ग्रीष्मे क्रीडां प्रकुर्वन्ति नृपा नरसमन्विताः। धडालीनां च मध्यस्थं प्रविष क्रीडमानसैः॥ देर्शयन्ति विचित्राणि रूपाणि चेव मूर्ध्वतः। सर्वाङ्गश्रोतसः सन्धौ वृष्टिं कुर्वन्ति मेघवत्॥ अवृष्टिगर्जिताः शब्दा विद्युद्द्योतकान्विताः। एवमायासतो ग्रीष्मे पर्यटन्ति नृपा मुदा॥ (अपराजित 89, 1-16)

ग्रीष्म का ताप आदि सेवन से कृशकाय लोगों के वातादि दोष बहुत कुपित हो जाते हैं। अतएव इस ऋतु में वात, पित्त, कफ, रस, रक्त आदि आठ धातु जिससे साम्य स्थिति में रहें और बिगड़े नहीं– ऐसे समधात उपाय करने आवश्यक हैं।

कूपव्योम्नोः पयः पेयं न सरःसरिता पुनः।
नावश्यायातपग्राम यानाम्भः क्रीडनं श्रयेत्॥ 16॥

इस ऋतु में कूप का और पुनर्वसु नक्षत्र के बाद बरसात का जल पीना चाहिए किन्तु तालाब या नदी का जल नहीं पीना चाहिए। कुहर में, धूप में अथवा बाहर गाँव नहीं जाना चाहिए। जलक्रीड़ा भी नहीं करनी चाहिए।

वसेद्वेश्मनि निर्वाते जलोपद्रववर्जिते।
स्फुरच्छकटिकाङ्गारे कुङ्कुमोद्वर्तनाञ्चितः॥ 17॥

इस ऋतु में धनवान पुरुष को शरीर पर केसर का आलेप कर पवन अथवा जल का उपद्रव जहाँ नहीं हो और खूब चमकती हुई आग की सिगड़ी जहाँ रखी हुई हो, ऐसे गृह में रहना चाहिए।

केशप्रसादनासक्तो रक्तधूपितवस्त्रभृत्।
मिताशी चात्र यस्तस्मै स्पृहयन्ति स्वयं स्त्रियः॥ 18॥

जो व्यक्ति इस ऋतु में केशों को सुगन्धमय तेल लगाकर साफ कर रखे और रक्त चन्दन, अगरु आदि के धूप से सुगन्धित वस्त्र पहने और परिमित भोजन करे, उसे स्त्रियाँ स्वयं चाहती है।

अथ शरदृतुचर्या —

शरत्काले स्फुरत्तेजः पुञ्जस्यार्कस्य रश्मिभिः।
तप्तानां दुष्यति प्रायः प्राणिनां पित्तमुल्बणम्॥ 19॥

शरद ऋतु में तेज सूर्य की किरणों के ताप से परितप्त हुए मनुष्यों का पित्त प्रायः कुपित हो जाता है।

पानमन्नं च तत्तस्मिन् मधुरं लघु शीतलम्।
सतिक्तकटुकं सेव्यं क्षुधितेनाशु मात्रया॥ 20॥

अतएव इस ऋतु में सुधीजनों को भूख लगते ही शीघ्र और मधुर, हल्का, शीतल, कुछ कटु और कुछ तीक्ष्ण अन्नपान परिमित रूप से लेना चाहिए।

रक्तोमाक्षो विरेकश्च श्वेते माल्यविलेपने।
सरोवारि च रात्रौ च ज्योत्स्नामत्र समाश्रयेत्॥ 21॥

इस ऋतु में रक्तमोक्षण करना चाहिए। इसी प्रकार दस्तावर, जुलाब लेना, श्वेत पुष्पहार पहनना, सफेद चन्दन का शरीर पर लेप करना, सरोवर का निर्मल जल

पीना और यथानुकूल रात्रि को चाँदनी में बैठना चाहिए।

पूर्वानिलमवश्यायं दधि व्यायाममातपम्।
क्षारं तैलं च यत्नेन त्यजेदत्र जितेन्द्रियः॥ 22॥

जितेन्द्रिय पुरुष को इस ऋतु में पूर्व दिशा का पवन-पुरवाई, धूँअर, दही, व्यायाम, धूप, क्षारीय वस्तु और तेल का प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिए।

सौरभोद्गरसाराणि पुष्याण्यामलकानि च।
क्षीरमिक्षुविकाराश्च शरद्यङ्गस्य पुष्टये॥ 23॥

इस ऋतु में सुगन्धित पुष्प, आंवले, दूध के साथ-साथ ईख से तैयार होने वाला गुड़, शक्कर आदि वस्तुएँ शरीर को पुष्टि प्रदान करने वाली है।

अथ हेमन्तर्तुचर्या —

हेमन्त शीतबाहुल्या व्रजनीदैर्ध्यतस्तथा।
वह्निः स्यादधिकस्तस्माद् युक्तं पूर्वाह्णभोजनम्॥ 24॥

हेमन्त ऋतु में जाड़ा अधिक होने से और रात लम्बी होने से जठराग्नि बहुत प्रदीप्त होती है। अतएव इस ऋतु में दोपहर पूर्व भोजन करना उचित है।

अम्लस्वादूष्णसुस्निग्धमन्न क्षारं च युज्यते।
नैवोचितं पुनः किञ्चिद्वस्तु जाड्यविधायकम्॥ 25॥

हेमन्त में खट्टा-मीठा, गरम, चिकना और खारा अन्नपान सेवन करना उचित है किन्तु ऐसी वस्तु का प्रयोग नहीं करें जो जठराग्नि को भारी होती हो।

क्लर्यादभ्यङ्गमङ्गस्य तैलेनातिसुगन्धिना।
कुङ्कुमोद्वर्तनं चित्रं नव्यं वासो वसीत च॥ 26॥

इस ऋतु में अति सुगन्धित तेल से शरीर का मसाज, मर्दन करना, केसर का लेप करना और नवीन वस्त्र पहनना चाहिए।

सेवनीयं च निर्वातं कर्पूरागरुधूपितम्।
मन्दिरं भासुराङ्गार शकटीभासुरं नरैः॥ 27॥

इसी प्रकार हेमन्त ऋतु में मनुष्य को बिना (तेजी से आती-जाती) वायु के, कर्पूर और कृष्णागर चन्दन की धूप से सुगन्धित और तेज आग की सिगड़ी से तपे हुए घर में रहना चाहिए।

युवती साङ्गरागा च पीनोन्नतपयोधरा।
शीतं हरति शय्या च मृदूष्णस्पर्शशालिनी॥ 28॥

इस अवधि में शरीर पर सुगन्ध, अङ्गराग का विलेपन और पुष्ट व ऊँचे स्तन से चित्त को आकर्षित करने वाली तरुण स्त्री और कोमल एवं उष्ण स्पर्श वाली

शय्या– ये शीत का निवारण करने वाली कही हैं।

अथ शिशिरर्तुचर्या —

उत्तराशानिलाद्रूक्षं शीतमत्र प्रवर्तते।
शिशिरेऽप्यखिलं कृत्यं ज्ञेयं हेमन्तवद्बुधैः॥ 29॥

और अब अन्त में, शिशिर ऋतु के सम्बन्ध में कहा जा रहा है कि इसमें उत्तर दिशा के पवन से रूक्ष सर्दी पड़ती है। इसलिए सुज्ञपुरुषों को इसमें भी हेमन्त ऋतु के ही अनुसार ही सर्व कृत्य जानने चाहिए।

उल्लासोपसंहरति —

ऋतुगतमिति सर्वं कृत्यमेतन्मयोक्तं
निखिलजनशरीरे क्षेमसिद्ध्यर्थमुच्चैः।
निपुणमतिरिदं यः सेवते तस्य न स्याद्
वपुषि गदसमूहः सर्वदाभ्यर्णवर्ती॥ 30॥

इस प्रकार से छहों ऋतुओं में आचरणीय सर्व कृत्य सकल मनुष्यों के शरीर के स्वास्थ, कुशलार्थ मैंने कहे हैं। जो मनुष्य निपुण बुद्धि से इनके अनुसार आचरण करेगा, उसके शरीरस्थ रोग-समुदाय जो कि नित्य ही मनुष्यों के पास ही रहता है, वह कभी प्रकट नहीं हो सकेगा।

इति श्रीजिनदत्तसूरि विरचिते विवेकविलासे ऋतुचर्यायां षष्ठ उल्लासः॥ 6॥

इस प्रकार श्रीजिनदत्त सूरि कृत विवेकविलास में ऋतुचर्चा नामक छठा उल्लास पूरा हुआ।

अथ वर्षचर्या नाम सप्तमोल्लासः ॥ 7 ॥

अधुना संवत्सरीयकृत्योच्यते —

दुष्प्राप्यं प्राप्य मानुष्यं कार्यं तत् किञ्चिदुत्तमैः।
मुहूर्तमेकमप्यस्य याति नैव यथा वृथा॥ 1॥

उत्तम मनुष्यों को चाहिए कि यह दुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्त कर ऐसा कोई कार्य करना चाहिए कि जिससे अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाए।

तदर्थे निर्देशमाह —

दिवा यामचतुष्केण कार्यं किमपि तन्नरैः।
निश्चिन्तहृदयैर्येन यामिन्यां सुप्यते सुखम्॥ 2॥

मनुष्यों को दिवस के चारों ही प्रहर में ऐसे कोई कृत्य करने चाहिए ताकि रात्रि में निश्चिन्तता से, सुखपूर्वक निद्रा लग सके।

अष्टमासानुसारेण कृत्यं—

तत् किञ्चिदष्टभिर्मासैः कार्यं कर्म विवेकिना।
एकत्र स्थीयते येन वर्षाकाले यथासुखम्॥ 3॥

विवेकी पुरुष को वर्ष के आठ मास में ऐसा कोई कृत्य करना चाहिए कि जिससे वर्षाकाल में सुखपूर्वक एक स्थल पर स्थिर रह सके।

वृद्धावस्थार्थे युवावयोपयोगमाह —

यौवनं प्राप्य सर्वार्थसार्थसिद्धिनिबन्धनम्।
तत्कुर्यान्मतिमान्येन वार्धके सुखमश्नुते॥ 4॥

बुद्धिमान् पुरुष को समस्त कार्य जिससे साध्य हो सके, ऐसी यौवनावस्था पाकर ऐसे कार्यों का सम्पादन करना चाहिए कि जिससे वृद्धावस्था में सुख मिल सके।

पुनर्जन्मार्थकलासिद्धि आवश्यकत्वं —

अर्जनीयं कलावद्भिस्तत्किञ्चिज्जन्मनामुना।
ध्रुवमासाद्यते येन शुद्धं जन्मान्तरं पुनः॥ 5॥

कलावान मनुष्यों को इस जीवन में कोई ऐसी कला-वस्तु अवश्य हासिल करनी चाहिए कि जिससे निधनोपरान्त पवित्र जन्म निश्चय पूर्वक प्राप्त हो सके।*

सधर्माणधर्माचार्यश्च पूजननिर्देशं —

प्रतिवर्षं सहर्षेण निजवित्तानुमानतः।
पूजनीयाः सधर्माणो धर्माचार्याश्च धीमता॥ 6॥

बुद्धिमान पुरुष को प्रतिवर्ष अपने वित्त से यथा-सामर्थ्य सहधर्मी और अपने धर्माचार्यों का हर्षपूर्वक पूजन करना चाहिए।

वृद्धजनसम्मानं च तीर्थसेवननिर्देशं —

गोत्रवृद्धा यथाशक्ति सम्मान्या बहुमानतः।
विधेय तीर्थयात्रा च प्रतिवर्षं विवेकिना॥ 7॥

विवेकी पुरुष को चाहिए कि वह अपने कुल के वृद्ध तथा सम्मान्य पुरुषों का यथाशक्ति प्रतिवर्ष बहुत मान से सत्कार, बहुमान करे।** अपने कल्याण के लिए प्रति वर्ष ही तीर्थाटन भी करना चाहिए।

प्रतिसंवत्सरं ग्राह्यं प्रायश्चित्तं गुरोः पुरः।
शोध्यमानो भवेदात्मा येनादर्श इवोज्ज्वलः॥ 8॥

इसी प्रकार प्रतिवर्ष गुरु की सन्निधि में पहुँचकर प्रायश्चित-आलोयना ग्रहण करनी चाहिए। इससे अपनी आत्मा दर्पण के समान निर्मल होती है।

पित्रादिदिवस कार्यनिर्देशं —

जातस्य नियतो मृत्युरिति ज्ञापयितुं जने।
पित्रादिदिवसः कार्यः प्रतिवर्षं महात्मभिः॥ 9॥

जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित है#— ऐसा लोगों को ज्ञात करने के लिए महात्मा पुरुषों के अपने पिता-माता आदि के पुण्य-दिवस पर (बरसी, श्राद्ध) प्रतिवर्ष करना चाहिए।×

---

* युगप्रधान जिनदत्तजी का यह निर्देश बहुत उपयोगी है। यह जीवन को सार्थक करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण सोच है। निधनोपरान्त यशःकाया के निमित्त भी इस प्रकार का विचार होना चाहिए, जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है— जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धा कवीश्वराः। नास्ति येषां यशःकाये जरा मरणजं भयम्॥ (नीतिशतक 24)

**मनु का भी निर्देश है— अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम्॥ (मनुस्मृति 2, 121)

गीता में भी कहा है— जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। (गीता 2, 27)

× यह मान्यता है कि इससे पुत्र, आयु, आरोग्य, अतुल ऐश्वर्य और अभिलषित वस्तुओं की भी प्राप्ति होती है, जैसा कि जाबालि का मत है— पुत्रानायुस्तथाऽऽरोग्यमैश्वर्यमतुलं तथा। प्राप्नोति पञ्चमान् कृत्वा श्राद्धं कामांश्च पुष्कलान्॥

उल्लासोपसंहरति —

इति स्फुटं वर्षविधेयमेतल्लोकोपकाराय मयाभ्यधायि।
जायेत लोकद्वितयेऽप्यवश्यं यत्कुर्वतां निर्मलता जनानाम्॥ 10॥

इस प्रकार मैनें यहाँ प्रतिवर्ष करने योग्य कृत्य को लोकोपकार के लिए कहा है। ये कृत्य करने वाले मनुष्य इहलोक और परलोक में अवश्य निर्मल होते हैं।

इति श्रीजिनदत्तसूरि विरचिते विवेकविलासे वर्षचर्यायां सप्तमोल्लासः॥ 7॥

इस प्रकार श्रीजिनदत्त सूरि कृत विवेकविलास में वर्षचर्या संज्ञक सातवाँ उल्लास सम्पूर्ण हुआ।

अथ जन्मचर्या नाम अष्टमोल्लासः ॥ 8 ॥

अधुना आवासयोग्यदेशलक्षणं —

सद्धर्मदुर्गसुस्वामि व्यवसायजलेन्धने।
स्वजातिलोकरम्ये च देशे प्रायः सदा वसेत्॥ 1॥

(इस उल्लास में सर्वप्रथम आवास योग्य देशादि पर विचार है) जिस देश में उत्तम धर्म, दुर्ग, सुस्वामी, उद्यम, जल और ईन्धन– ये छह बातें अच्छी हों और अपनी ही जाति के लोगों का निवास हो, उस देश में प्रायः निवास करना चाहिए।

गुणिनः सूनृतं शौचं प्रतिष्ठा गुणगौरवम्।
अपूर्वज्ञानलाभश्च यत्र तत्र वसेत्सुधीः॥ 2॥

जहाँ गुणी लोग बसते हों और सत्य व्यवहार, पवित्रता, प्रतिष्ठा, गुण का आदर और अपूर्व ज्ञान का लाभ होता हो– वहाँ बुद्धिशाली पुरुष को रहना चाहिए।

सम्यग्देशस्य सीमादि स्वरूपं स्वामिनस्तथा।
ज्ञातिमित्रविपक्षाद्यमवबुद्ध्य वसेन्नरः॥ 3॥

विवेकी पुरुष को जहाँ रहना हो, उस देश की सीमा आदि वहाँ के राजा की रीति-नीति, अपनी जाति और अपने मित्र व विपक्ष आदि का स्वरूप, स्थिति भलीभाँति पहचान कर ही रहना चाहिए।*

निषिद्धदेशादीनां —

बालराज्यं भवेद्यत्र द्वैराज्यं यत्र वा भवेत्।
स्त्रीराज्यं मूर्खराज्यं वा यत्र स्यात्तत्र नो वसेत्॥ 4॥

---

* मत्स्यपुराण में आवास योग्य स्थलों का वर्णन इस प्रकार हुआ है— राजा सहायसंयुक्तः प्रभूतयवसेन्धनम्। रम्यमानतसामन्तं मध्यमं देशमावसेत्॥ वैश्यशूद्रजनप्रायमनाहार्यं तथा परैः। किञ्चिद् ब्राह्मणसंयुक्तं बहुकर्मकरं तथा॥ अदेवमातृकं रम्यमनुरक्तजनान्वितम्। करैरपीड़ितं चापि बहुपुष्पफलं तथा॥ अगम्यं परचक्राणां तद्वासगृहमापदि। समदुःखसुखं राज्ञः सततं प्रियमास्थितम्॥ सरीसृपविहीनं च व्याघ्रतस्करवर्जितम्। एवं विधं यथालाभं राजा विषयमावसेत्॥ (मत्स्य. 217, 1-5)

जहाँ बालक राजा अथवा वैराज्य* हों या फिर (दो राजा हों) स्त्री राज्य** हो– वहाँ विवेकी पुरुषों को नहीं बसना चाहिए।

देशविषयार्थनिमित्तन्यवलोकननिर्देशं —

स्ववासदेशक्षेमाय निमित्तान्यवलोकयेत्।
तस्योत्पातादिकं वीक्ष्य त्यजेत्तं पुनरुद्यमी॥ 5॥

व्यक्ति को अपने निवास क्षेत्र और समस्त देश के क्षेम-कल्याण के लिए निमित्त-शकुन का अवलोकन करते रहना चाहिए। यदि कभी कोई उत्पात दिखाई दे तो उस स्थान अथवा देश का उद्यमी पुरुष को शीघ्र त्याग करना चाहिए।

अथ निमित्तक्रमे उत्पातवर्णनं —

प्रकृतस्यान्यथाभाव उत्पातः स त्वनेकधा।
स यत्र तत्र दुर्भिक्षं देशराज्यप्रजाक्षयः॥ 6॥

ब्रह्माण्ड जो वस्तु अपने जिस स्वरूप में नित्य रहती है, उसमें कोई परिवर्तन होना सामान्यतः उत्पात कहलाता है।# इसके अनेक प्रकार हैं। वह उत्पात जहाँ हो, वहाँ दुर्भिक्ष, देश और राज्य का भङ्ग और जनता का विनाश कहा जाता है।

अथ दैवोत्पात सफलमाह —

देवानां वैकृतं भङ्गश्चित्रेष्वायतनेषु च।
ध्वजश्चोर्ध्वमुखो यत्र तत्र राष्ट्राद्युपप्लवः॥ 7॥

जहाँ चित्रार्चा अथवा देवालय की प्रतिमाओं के स्वरूप में कुछ अन्तर हो अथवा भङ्ग दिखाई दे, ध्वजा ऊँची चढ़ती हुई दीखे तो वहाँ राष्ट्रादि का उपद्रव होता है।

मृगपक्षिवैकृत्यं सफलं —

जलस्थलपुरारण्यजीवान्यस्थानदर्शनम्।
शिवाकाकादिकाक्रन्दः पुरमध्ये पुरच्छिदे॥ 8॥

जहाँ जलचर जीव भूमि पर और भूचर जीव जल में; नगर के जीव वन में

---

* वैराज्य का वर्णन महाभारत के शान्तिपर्व, अग्निपुराण आदि में आया है। जिस काल में राजा की उत्पत्ति नहीं हुई और जहाँ पर जिसकी लाठी, उसकी भैंस जैसा शासन चलाया जाता था, उस अवस्था का नाम विराज या वैराज्य रहा है।

**स्त्रीराज्य का वर्णन वात्स्यायन के कामशास्त्र, बृहत्संहिता (स्त्रीराज्यनृसिंहवनखस्थः॥ 14, 22) इत्यादि में देशाचार के सन्दर्भ में मिलता है। यह राज्य कश्मीर से कहीं आगे विद्यमान भी रहा है।

वराहमिहिर कृत बृहत्संहिता, समाससंहिता, अद्भुतसागर और देवतामूर्तिप्रकरणं में इन अद्भुतों, उत्पातों या वैकृतों का विस्तार से वर्णन आया है। समाससंहिता में कहा है— यः प्रकृतिविपर्यासः सर्वः सङ्क्षेपतः स उत्पातः। क्षितिगगन दिव्यजातो यथोत्तरं गुरुतरो भवति॥ (बृहत्संहिता भट्टोत्पलीयविवृति 44, 1 पर उद्धृत)

और वन्य जीव नगर में स्वाभाविक रीति से दिखाई देने लगें और सियार और कौआ आदि बहुत कोलाहल करते हों, उस नगर का नाश होता है।

उपस्करवैकृत्यं सफलमाह —

छत्रप्राकारसेनादि दाहाद्यैर्नृपभीः पुनः।
अस्त्राणां ज्वलनं कोशान्निर्गमः स्वयमाहवे॥ 9॥

छत्र, चहारदीवारी, सेना आदि को यदि अग्नि का उपद्रव हो, तो राजा को भय की आशङ्का जाननी चाहिए और यदि आयुध-असबाब जलते दिखाई दें अथवा अपने अभियान में से बाहर निकल जाएँ तो संग्राम की आशङ्का कहनी चाहिए।

अन्यायकुसमाचारौ पाखण्डाधिकता जने।
सर्वमाकस्मिकं जातं वैकृतं देशनाशनम्॥ 10॥

यदि मनुष्यों में अन्याय, दुराचार और पाखण्ड का अधिकाधिक प्रसार हो, तो देश का नाश होता है और भी परिवर्तन एकाएक हो तो भी देशभङ्ग होता है।

शक्रचापानुसारेण निमित्तफलमाह—

प्रावृष्यैन्द्रं धनुर्दुष्टं नाह्नि सूर्यस्य सम्मुखम्।
रात्रौ दृष्टं सदा शेष काले वर्णव्यवस्थया॥ 11॥

वर्षाकाल में इन्द्रधनुष यदि दिन को सूर्य के सम्मुख दीखे तो इसमें कोई दोष नहीं परन्तु वही रात्रि को दिखाई दे तो अशुभ जानना चाहिए और शेष समय दीखे तो उसके वर्ण के अनुसार शुभाशुभ फल जानना चाहिए।

सितरक्तपीतकृष्णं सुरेन्द्रस्य धनुर्यदि।
भवेद्विप्रादिवर्णानां चतुर्णां नाशनं क्रमात्॥ 12॥

यदि उक्त इन्द्रधनुष सफेद, लाल, पीला और काला दीखे तो क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र समुदाय का विनाश करने वाला होता है।

वृक्षवैकृत्यं सफलमाह —

अकाले पुष्पिता वृक्षाः फलिताश्चान्यभूभुजे।
अल्पेऽल्पं महति प्राज्यं दुर्निमित्ते फलं वदेत्॥ 13॥

यदि असमय ही वृक्षों के फूल-फल आए तो राजा को दुर्निमित्त समझना चाहिए। उपर्युक्त दुष्ट निमित्त अल्प हों तो अल्प और अधिक हों तो उनका अधिक फल कहना चाहिए।

अश्वत्थोदुम्बरवटप्लक्षाः पुनरकालतः।
विप्रक्षत्रियविट्शूद्र वर्णानां क्रमतो भिये॥ 14॥

अश्वत्थ, उदुम्बर, बरगद और प्लक्ष– इन चार वृक्षों में असमय ही फूल-

फल आ जाएँ क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों को भय उत्पन्न होता है।

वृक्षे पत्रे फले पुष्पे वृक्षः पुष्पं फलं दलम्।
जायते चेत्तदा लोके दुर्भिक्षादि महाभयम्॥ 15॥

यदि वृक्ष पर वृक्ष, पत्र पर पत्र, फल पर फल और फूल पर फूल लगा हुआ दिखाई दे तो जगत् में बहुत भयङ्कर दुर्भिक्ष आदि होता है।

पशुपक्षिवैकृत्यं सफलमाह —

गोध्वनिर्निशि सर्वत्र कलिर्वा दर्दुरः शिखी।
श्वेतकाकश्वगृध्रादि भ्रमणं देशनाशनम्॥ 16॥

यदि रात्रि में सर्वत्र गायों का रम्भाना सुना जाए, जहाँ-तहाँ कलह होता जान पड़े, मेंढ़क के शिखा उत्पन्न हो जाए और सफेद कौआ, कुत्ते व गीद्ध आदि पक्षी इधर- उधर घूमते दिखाई दें तो देश का नाश जानना चाहिए।

अपूज्यपूजा पूज्यानामपूजा करिणीमदः।
शृगालोऽह्निलपेद्रात्रौ तित्तिरिश्च जगद्भिये॥ 17॥

यदि पूजने योग्य पुरुषों की पूजा नहीं हो और नहीं पूजने योग्य पुरुषों की पूजा हो, हथिनी के गण्डस्थल में मद भरा प्रतीत हो, सियार दिन को शब्द करे और रात्रि को तीतर पक्षियों का बोलना हो तो जगत् भयकारक होते हैं।

खरस्य रसतश्चापि समकालं यदा रसेत्।
अन्यो वा नखरो जीवो दुर्भिक्षादि तदा भवेत्॥ 18॥

जिस काल में गधा रेंकता हो, उसी समय उसके साथ कोई दूसरा नाखून वाला पशु भोंकता सुनाई दे तो दुर्भिक्ष आदि फल होता है।

अन्यजातेरन्यजातेर्भाषणं प्रसवः शिशोः।
मैथुनं च खरीसूतिदर्शन चापि भीप्रदम्॥ 19॥

अन्य जाति के जीव अन्य जाति के जीवों के साथ सम्भाषण या सङ्गम करें और अन्य जाति के जीवों से अन्य जाति के जीवों की सन्तति हो और गधी प्रसव करती दीखे तो भय हो– ऐसा जानना चाहिए।

मांसाशनं स्वजातेश्च विनौतून्भुजगांस्तिमीन्।
काकादिरपि भक्ष्यस्य गोपनं सस्यहानये॥ 20॥

बिलाव, सर्प और मछली– इन तीनों जीवों के अतिरिक्त शेष जीव यदि अपनी ही जाति के जीवों का मांस भक्षण करें तथा काग आदि भी जो उनका भक्ष छिपाएँ तो धान्य का विनाश होता है।

उत्पातफलस्य स्थानाह —

अन्तःपुरपुरानीककोशयानपुरोधसाम्।
राजपुत्रप्रकृत्यादेरपि रिष्टफलं भवेत्॥ 21॥*

उक्त उत्पातों का फल किसे, कहाँ होता है कि अन्तःपुर, नगर, सेना, कोष, वाहन, पुरोहित, राजा, राजपुत्र और प्रधान इत्यादि राज्य परिवार को (दैवकल्पित) उत्पात का फल होता है।

फलपाकावधिं च शान्त्यर्थनिर्देशं —

पक्षमासर्तुषण्मास वर्षमध्ये न चेत्फलम्।
रिष्टं तद्व्यर्थमेव स्यादुत्पन्ने शान्तिरिष्यते॥ 22॥

यदि एक पखवाड़े में, एक मास, दो मास अथवा एक वर्ष में उक्त उत्पात का फल नहीं तो उस उत्पात को व्यर्थ जानना चाहिए और यदि फल हो तो शीघ्र सम्बन्धित शान्ति करवानी हितकारी है।**

तत्रैव विपर्ययविचारं —

दौस्थ्ये भाविनि देशस्य निमित्तं शकुनाः सुराः।
देव्यो ज्योतिषमन्त्रादि सर्वं व्यभिचरेच्छुभम्॥ 23॥

यदि देश की परिस्थिति बुरी होने को हो तो निमित्त, शकुन, देवी-देवता, ज्योतिष और मन्त्रादि शुभ हों तो भी विपरीत फल देते हैं।

प्रवासयन्ति प्रथमं स्वदेवान् परदेवताः।
दर्शयन्ति निमित्तानि भङ्गे भाविनी नान्यथा॥ 24॥

देश-प्रदेशादि का नाश होने वाला हो तब ही पराए देव अपने देव को निष्कासित कर डालते हैं और दुष्टोत्पात दिखाते हैं किन्तु देशादि का भङ्ग होने का न हो तो ऐसा नहीं होता है।

अधुना आग्नेयादि चतुर्नक्षत्रमण्डलं वर्णनं —

विशाखा भरणी पुष्यं पूर्वफा पूर्वभा मघा।
कृत्तिका चेति नक्षत्रैराग्नेयं मण्डलं मतम्॥ 25॥

(अब भूकम्पादि के फलाफल के लिए मण्डलों के विषय में कहा जा रहा

---

* तुलनीय—आत्मसुतकोशवाहनपुरदारपुरोहितेषु लोके च। पाकमुपयाति दैवं परिकल्पितमष्टधा नृपतेः॥ (बृहत्संहिता 46, 7) तथा गर्ग वचन — पुरे जनपदे कोशे वाहनेऽथ पुरोहिते पुत्रेष्वात्मनि भृत्येषु पश्यते दैवमष्टधा॥ (तत्रैव भट्टोत्पलीय विवृति में उद्धृत)

**मत्स्यपुराण के 228वें अध्याय में अद्भुत शान्तियों का वर्णन 29 श्लोकों में आया है। इसी प्रकार से बृहत्संहिता भी शान्ति के उपाय लिखे गए हैं।

है) नक्षत्रों के 'अग्निमण्डल' के अन्तर्गत विशाखा, भरणी, पुष्य, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाभाद्रपदा, मघा और कृतिका–ये सात नक्षत्र आते हैं।

चित्रा हस्तोऽश्विनी स्वातिर्मृगशीर्षं पुनर्वसुः।
उत्तरा फाल्गुनीत्येतद्वायव्यं मण्डलं विदुः॥ 26॥

द्वितीय 'वायुमण्डल' के अन्तर्गत चित्रा, हस्त, अश्विनी, स्वाती, मृगशीर्ष, पुनर्वसु और उत्तराफाल्गुनी– ये सात नक्षत्र कहे जाते हैं।

पूर्वाषाढोत्तराभाद्राश्लेषार्द्रामूलरेवती।
शततारेति नक्षत्रैर्वारुणं मण्डलं भवेत्॥ 27॥

तृतीय 'वारुणमण्डल' के अन्तर्गत पूर्वाषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद, आश्लेषा, आर्द्रा, मूल, रेवती और शतभिषा– ये सात नक्षत्र आते हैं।

अनुराधाभिजिज्जयेष्ठोत्तराषाढा धनिष्ठिका।
रोहिणी श्रवणोऽप्येभिर्ऋक्षैर्माहेन्द्रमण्डलम्॥ 28॥

चतुर्थ 'माहेन्द्रमण्डल' के अन्तर्गत अनुराधा, अभिजित्, ज्येष्ठा, उत्तराषाढ़ा, धनिष्ठा, रोहिणी और श्रवण– ये सात नक्षत्र आते हैं।

मण्डलानुसारेणोत्पात फलपाककालं —

मासैरष्टभिराग्नेये द्वाभ्यां वायव्यके पुनः।
मासेन वारुणे सप्तरात्रान्माहेन्द्रके फलम्॥ 29॥

इन मण्डलों में होने वाले उत्पातों का फल क्रमशः आग्नेयमण्डल में 8 मास में, वारुणमण्डल में 2 मास में, वारुणमण्डल में 1 मास में और माहेन्द्रमण्डल में फल 7 रात्रि में सामने आता है।*

---

* मुहूर्ततत्त्वं में आया है कि भूकम्प जिस मण्डल में होते हैं, उस मण्डल के स्वभावानुसार ही द्रव्य, प्राणी एवं देश प्रभावित होते हैं। 'वायव्यमण्डल' के अन्तर्गत मृगशिरा, अश्विनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती और पुनर्वसु ये सात नक्षत्र आते हैं और इनमें यदि भूकम्प (अन्योत्पात भी हो तो) मगध देश में राजा, जल, धान्य की क्षति करने वाला होता है। दूसरे, 'आग्नेयमण्डल' में विशाखा, पुष्य, पूर्वाभाद्रपद, भरणी, कृत्तिका, मघा एवं पूर्वाफाल्गुनी ये सात नक्षत्र होते हैं और यदि इनमें भूकम्प आए तो अङ्ग देश की प्रजा, राजा एवं जल के लिए हानिहारक होता है। तीसरे, 'माहेन्द्रमण्डल' में अनुराधा, ज्येष्ठा, रोहिणी, उत्तराषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा (एवं अभिजित्) इन सात नक्षत्रों में भूकम्प आए तो गुर्जर देश की प्रजा व राजा के लिए विनाशकारी होता है। इसी प्रकार चतुर्थ, 'वारुणमण्डल' के अन्तर्गत शेष नक्षत्र अर्थात् मूल, उत्तराभाद्रपद, रेवती, आश्लेषा, शतभिषा, पूर्वाषाढ़ और आर्द्रा इन सात नक्षत्रों में भूकम्प आए तो चीन देशवासियों एवं राजा के लिए घातक समझें— भूकम्पोहन्तिवर्णान् प्रहरत, उडुपाश्व्यर्यमाब्यादितेये वायोर्भूपाम्बुसस्यं मगधमनलजे मण्डलेङ्गानृपाम्भः। द्वीशेज्याजाङ्घ्रियाम्याग्निपितृयुग, इहैन्द्रेनृपं गुर्जराश्च मित्रद्वन्द्वाजविश्वत्रिषु, परभगणेवारुणे भूपचीनान्॥ (मुहूर्ततत्त्वं 2, 4, 16)

वराहमिहिर ने इन फलों को विस्तार से लिखा है। उसका मूल उत्स गर्गसंहिता रहा है। इन्हीं मतों

तत्र मण्डलोत्पातमाह —

भूमिकम्पो रजोवृष्टिर्दिग्दाहोऽकालवर्षणम्।
इत्याद्याकस्मिकं सर्वमुत्पात इति कीर्त्यते॥ 30॥

भूकम्प, धूलवृष्टि, दिशाओं में दावानल, असमय वृष्टि इत्यादि लक्षण अचानक प्रकट हों तो वे सब 'उत्पात' कहे जाते हैं।

ईत्यनीतिप्रजारोगरणाद्युत्पातजं फलम्।
मण्डलाख्यासमं प्रायो वह्निवाय्वादिकं तथा॥ 31॥

ईति*, अनीति, प्रजा में शारीरिक रोग, संग्राम इत्यादि उत्पात के फल मण्डल के नामानुसार जानने चाहिए। जैसे अग्निमण्डल में उत्पात हो तो अग्निकाण्ड उपद्रव, वायुमण्डल में हो तो अन्धड़-तूफान का उपद्रव इत्यादि जाने।

उत्पातोऽपि च माहेन्द्रे वारुणे मण्डले च यः।
स शुभः पुनरित्यूचे तस्मिन् सर्वं शुभं वदेत्॥ 32॥

उत्पात भी यदि वारुण अथवा माहेन्द्र मण्डल के अन्तर्गत हों, तो शुभकारी

को संक्षिप्त रूप से 'समासंहिता' में कहा है— आर्यम्णपूर्वं भचतुष्टयं च शशाङ्कमादित्यमथाश्विनी च। वायव्यमेतत्पवनोऽत्र चण्डो मासद्वयेनाशुभदः प्रजानाम्॥ अजैकपादं बहुलाभरण्यो भाग्यं विशाखा गुरुभं मघा च। क्षुदग्निशस्त्रामयकोपकारि पक्षैस्त्रिभिर्मण्डलमग्निसंज्ञम्॥ प्राजापत्यं वैष्णवं मैत्रमैन्द्रं विश्वेसं स्याद्वासवं चाभिजिच्च। ऐन्द्रं ह्येतन्मण्डलं सप्तरात्रात् कुर्यात्तोयं हृष्टलोकं प्रशान्तम्॥ आर्हिर्बुध्न्यं वारुणं मूलमाप्यं पौष्णं सार्पं मन्मथारीश्वरं च। सद्यः पाकं वारुणं नाम शस्तं तोयप्रायं हृष्टलोकं प्रशान्तम्॥ उल्काहरिश्चन्द्रपुरं रजश्च निर्घातभूकम्पकुप्रदाहाः। वातोऽतिचण्डो ग्रहणं रवीन्द्वोर्नक्षत्रता-तारागणवैकृतानि॥ व्यभ्रे वृष्टिर्वैकृतं चातिवृष्टिर्धूमोऽनग्निर्विस्फुलिङ्गार्चिषो वा। वन्यं सत्त्वं ग्राममध्ये विशेद्वा रात्रावैन्द्रं कार्मुकं दृश्यते वा। सन्ध्याविकारः परिवेषखण्डा नद्यः प्रतीपा दिवि तूर्यनादः। अन्यच्च यत्स्यात् प्रकृतेः प्रतीपं तन्मण्डलैरेव फलं निगाद्यम्॥ (सविवृत्ति बृहत्संहिता 34, 23 पर उद्धृत)

'अमृतकुम्भ' नामक अल्पज्ञात ग्रन्थ में आया है— अर्यम्णचित्रादिति भैन्दवाश्विस्वात्योऽर्कभं चेति गणोऽनिलस्य। याम्याजपादाग्निभगोऽपि पौष्णमघाविशाखा हुतभुग्गणोऽयम्॥ तोयेशाहिर्बुध्न्यरक्षोम्बुपूषासर्पेशानं वारुणाग्निश्च भानि। मैत्रं ब्राह्मं वैष्णवं वासवैंद्र वैश्वं चैन्द्रोऽयं भवर्गोऽभिजिच्च॥ (मुहूर्तदीपक श्लोक 55 की टीका में उद्धृत)

इनका फल इस प्रकार कहा गया है— वायोर्गणात्कोऽपि यदोपसर्गो भवेत्तदानीं पवनोऽतिचण्डः। सिक्ता भवेद्वा रुधिरेण भूमिर्लोके नृप चापि महानधर्मः॥ वह्नेर्गणे नेत्ररुजोऽतिसारः पृथ्व्यर्घहानिर्ज्वलनप्रकोपः। गाश्चाल्पदुग्धास्तरवोऽतिफलाः स्युर्गर्भप्रपातश्च नितम्बिनीनाम्॥ गावो बहुक्षीरघृतादियुक्ता वृक्षाः प्रजाः क्षेमसुभिक्षयुक्ताः। मेघाः प्रभूताम्बुमुचो भवन्ति वर्गे जलेशस्य च सोपवर्गे॥ महेन्द्रवर्गे वनितासु सौख्यं प्रजाश्च सर्वा मुदिता भवन्ति। निकामवर्षी मघवा धरित्री प्रभूतसस्याधिगमश्च विद्यात्॥ (तत्रैवोद्धृत)

* कामन्दक एवं नारदपुराणकार ने छह प्रकार की ईतियाँ बताई हैं— अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभाः मूषिकाः खगाः। अत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः॥ (कामन्दकीयनीतिसार एवं नारदपुराण पूर्व. 77, 94)

भी कहा है। इसलिए इनमें कोई उत्पात हुए हों तो उनका शुभफल कहना चाहिए।

दिक्कोणाश्रितेफलं —

आग्नेये पीड्यते याम्या वायव्ये पुनरुत्तरा।
वारुणे पश्चिमा चात्र पूर्वा माहेन्द्रमण्डले॥ 33॥

यदि अग्नि मण्डल में उत्पात हो तो दक्षिण दिशा पीड़ित होती है। वायुमण्डल में हो तो उत्तर दिशा, वरुण मण्डल में हो तो पश्चिम देश पीड़ित हों और महेन्द्र मण्डल में उत्पात हो तो पूर्व दिशा पीड़ित होती है (जैसा कि 29वें श्लोक की पाद टिप्पणि में स्पष्ट किया गया है)।

अधुना मयूरचित्रकं च ताजिकसम्मतार्घकाण्डं —

मासर्क्षात्पूर्णिमा हीना समाना यदि वाधिका।
समर्घं च समार्घं च महर्घं च कमाद्भवेत्॥ 34॥

यदि किसी मास के नक्षत्र से पूर्णिमा कम हो तो वस्तुओं के भाव में गिरावट होती है। यदि नक्षत्र समान हो तो भाव पड़े रहते हैं और नक्षत्रावधि अधिक हो तो भावों में बढ़ोत्तरी होती है।*

रविवारविचारं —

एकमासे रवेर्वाराः स्युः पञ्च न शुभप्रदाः।
अमावास्यार्कवारेण महर्घत्वविधायिनी॥ 35॥

एक मास में यदि पाँच रविवार पड़ते हों तो शुभ नहीं होते** और जिस मास में अमावस्या के दिन रविवार हो तो महंगाई होगी, ऐसा जाने।

सङ्क्रान्तिविचारं —

---

* उक्त श्लोक मयूरचित्रकं में 16, 19 पर आया है। अल्प पाठान्तर है— मासर्क्षात्पूर्णिमा हीना समाना यदि वाधिका। समर्घं च समार्घं च महर्घं च भवेत् क्रमात्॥
बाजार भावों के सम्बन्ध में ताजिकनीलकण्ठी, ताजिकभूषण, ताजिकसार, मयूरचित्रकम्, बृहत्संहिता, गार्गिसंहिता, मेघमाला, त्रैलोक्यज्योतिष, घाघभड्डरी की कहावतें, हायनभास्कर, वर्षकल्पलता, वर्षप्रबोध, संवत्सरविचार आदि में पर्याप्त वर्णन मिलता है। यहाँ पूर्णिमा के नक्षत्र के सम्बन्ध में कथित निर्देश के प्रसङ्ग में यह जानना चाहिए कि पूर्णिमा पर जो नियमित नक्षत्र आता है, वह मास नक्षत्र कहा जाता है जैसे कि चैत्र पूर्णिमा को चित्रा नक्षत्र, वैशाखी पूर्णिमा को विशाख, ज्येष्ठ पूर्णिमा को ज्येष्ठा इत्यादि।

**नारद का मत है कि महीनों में यदि पाँच रविवार हो तो रोग, पाँच मङ्गलवार हो तो भय, पाँच शनिवार हो तो दुर्भिक्ष पड़ता है। अन्य वार हो तो शुभकर्ता जानना चाहिए— पञ्चार्कवारेदुर्भिक्षं पञ्चभौम महद्भयम्। पञ्चमन्दे च दुर्भिक्षे शेषा वारा शुभावहाः॥ (मयूर. 16, 31)

वारेष्वर्कार्किभौमानां सङ्क्रान्तिर्मृगकर्कयोः।
यदा तदा महर्घं स्यादीतियुद्धादिकं तथा॥ 36॥*

यदि कर्क की संक्रान्ति (दक्षिणायन) और मकर संक्रान्ति (उत्तरायण) रविवार, शनिवार अथवा मङ्गलवार को हो तो महंगाई, अतिवृष्टि, दुकाल, युद्धादि होते हैं।

सूर्यस्य पादविचारं—

मृगकर्काजगोमीनेष्वर्को वामांह्रिणा निशि।
अह्नि सप्तसु शेषेषु प्रचलेद्दक्षिणांह्रिणा॥ 37॥

ऐसी मान्यता है कि मकर, कर्क, मेष, वृषभ और मीन–इन 5 राशियों में सूर्य रात्रि को बायें पाँव और शेष सात राशियों में दाहिनी पाँव पर प्रचलनमान होता है।

स्वे स्वे राशौ स्थिते स्वास्थ्यं भवेद्यौस्थ्यं व्यतिक्रमे।
चिन्तनीयस्ततो यत्नाद्रात्र्यहः प्रोक्त सङ्क्रमः॥ 38॥

रात और दिन को बताया संक्रान्ति काल प्रयत्नपूर्वक विचारना चाहिए क्योंकि, वह अपनी-अपनी राशि में हो तो स्वास्थ्य देता है और विपरीत हो तो दुःखद होता है।

रोहिणीशकटभेदं —

आर्द्रान्त्याङ्घ्रौ तथा स्वातौ सति राहौ यदा शशी।
रोहिणीशकटस्यान्तर्याति दुर्भिक्षकृत्तदा॥ 39॥

यदि आर्द्रा नक्षत्र के प्रथम चरण में अथवा स्वाती नक्षत्र में राहु के होते हुए चन्द्रमा रोहिणी शकट का भेदन करे, तो उससे दुर्भिक्ष होता है।**

मूसलयोगादीनां सफलं —

---

* यह श्लोक नारदीयमयूरचित्रकं के मत से तुलनीय है—सङ्क्रान्तिर्जायते यत्र भास्करे भूसुते शनौ। तस्मिन मासिभयं घोरं दुर्भिक्ष दृष्टितो भयम्॥ (मयूर. 16, 20)

**नारद का मत है कि यदि आषाढ़ मास में चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्र के दक्षिण या दाहिनी ओर से होकर पास या दूर विचरण करता है, तो जगत के लिए कष्टकारी सिद्ध होता है। यदि चन्द्रमा रोहिणी से उत्तर या वाम ओर से होकर जाता है तब उत्पात होता है तथा दूर होकर गमन करने पर लोक का सुख जानना चाहिए। शकट के आकार वाले रोहिणी नक्षत्र के मध्य में यदि चन्द्रमा गमन करता है तब शोक, रोग, भय और दुःख को देने वाला होता है। यदि रोहिणी के पीछे हो अथवा अथवा आगे हो तो स्त्रियाँ कामियों के वशीभूत होती हैं— दक्षिणेन यदा याति रोहिण्यां रोहिणीपतिः। दूरस्थो निकटस्थो वा जगत्कष्टप्रदायकः॥ उतरस्यां यदा याति रोहिण्यां रोहिणीपतिः। सोपसर्गा तदावृष्टिरस्पृशन् सुखिनो जनाः॥ रोहिणी शकटमध्यगः शशी शोकरोगभय दुःखदः स्मृतम्। शीतरश्मिमनुयाति रोहिणी कामिनो हि वशगास्तदाङ्गनाः॥ (मयूर. 6, 31-33) तुलनीय— त्रैलोक्यज्योतिष रोहिणीयोगलक्षणं (श्लोक 23-32)

भौमस्याधो गुरुश्चेत्स्यादुर्वधोऽपि शनैश्चरः।
ग्रहाणां मुशलं ज्ञेयमिदं जगदरिष्टकृत्॥ 40॥

यदि कभी ऐसा योग बने कि मङ्गल के नीचे गुरु और गुरु के नीचे शनि हो तो 'मूसल' संज्ञक योग होता है। यह जगत् में अनर्थ उत्पन्न करने वाला होता है।

शनिमीने गुरुः कर्के तुलायामपि मङ्गलः।
यावच्चरति लोकस्य तावत्कष्टपरम्परा॥ 41॥

शनि यदि मीन राशि में, गुरु यदि कर्क राशि में और मङ्गल तुला राशिगत हो, तो उनकी अवधि तक जगत् में कष्ट निरन्तर रहते हैं।*

गुरोः सप्तान्त्यपञ्चद्विस्थानगा वीक्षका अपि।
शनिराहुकुजादित्याः प्रत्येकं देशभञ्जनम्॥ 42॥

यदि शनि, राहु, मङ्गल और सूर्य– ये चार ग्रह पाँचवें और दूसरे स्थान पर स्वयं आए अथवा इनकी दृष्टि इन स्थानों पर पड़े तो उपर्युक्त चार ग्रहों में एक-एक ग्रह भी देशभङ्ग कर सकते हैं।

शुक्रार्किभौमजीवानामेकोऽपीन्दुं भिनत्ति चेत्।
पतत्सुभटकोटीभिः प्रेतप्रीता तदाजिभूः॥ 43॥

शुक्र, शनि, मङ्गल और बृहस्पति– इन में कोई भी ग्रह यदि चन्द्रमण्डल का भेदन करें, तो करोड़ों योद्धा संग्राम में कूद पड़े और इससे रणभूमि करोड़ो प्रेतों की बलि मिलने से सन्तुष्ट होती है।

तत्र वृष्टिविचारं—

कुम्भमीनान्तरेऽष्टम्यां नवम्यां दशमीदिने।
रोहिणी चेत्तदा वृष्टिरल्पा मध्याधिका क्रमात्॥ 44॥

कुम्भ और मीन संक्रान्ति के बीच रोहिणी नक्षत्र है, वह यदि अष्टमी के दिन आता है तो अल्पवृष्टि, नवमी के दिन आए तो मध्यम और दशमी को आए तो अधिक वृष्टि होती है।

शाकस्त्रिघ्नो युतो द्वाभ्यां चतुर्भक्तोऽवशेषितः।
समाङ्के ह्यल्पका वृष्टिर्विषमे प्रचुरा पुनः॥ 45॥

जो शक संवत्सर हो उसको तीन गुना करके उसमें 2 जोड़े और उस संख्या को 4 से भाजित करते हुए यदि सम संख्या शेष रहे तो अल्पवृष्टि और विषम संख्या शेष बचे तो प्रचुर वृष्टि होती है।

---

* तुलनीय— मीनराशिगते मन्दे-कर्कटस्थे बृहस्पतौ। तुलाराशिगते भौमे तदा दुर्भिक्षमादिशेत्॥ (मयूर. 2, 49)

चतुर्विधमेघप्रकारमाह —

मेघाश्चतुर्विधास्तेषां द्रोणाह्वः प्रथमो मतः।
आवर्तः पुष्करावर्तस्तुर्यः संवर्तकस्तथा॥ 46॥

मेघों के चार प्रकार कहे गए हैं। इनमें से पहले का नाम 'द्रोण' है, दूसरे का 'आवर्त', तीसरे का 'पुष्करावर्त' और चौथे का नाम 'संवर्तक' है।

आषाढदशमी रोहिणीफलं —

आषाढे दशमी कृष्णा सुभिक्षाय सरोहिणी।
एकादशी तु मध्यस्था द्वादशी दुःखदायिका॥ 47॥

आषाढ़ कृष्णा दशमी तिथि को रोहिणी नक्षत्र हो तो उस वर्ष सुभिक्ष होता है और द्वादशी को रोहिणी हो तो दुष्काल कहना चाहिए।

सूर्यराश्यात्परमङ्गलफलं —

रविराशेः पुरो भौमो वृष्टिसृष्टिनिरोधकः।
भौमाद्या याम्यगाश्चन्द्र श्चोत्तरो वृष्टिनाशनः॥ 48॥

सूर्य जिस राशि पर हो, उस राशि से आगे मङ्गल हो तो वह वृष्टि को रोकने वाला होता है और मङ्गल आदि ग्रह सूर्य राशि के दक्षिण भाग में और चन्द्र यदि उत्तर भाग में हो तो वृष्टि का नष्टकर्ता होता है।

रेवत्यादिगतमङ्गलफलं —

रेवतीरोहिणीपुष्य मघोत्तरपुनर्वसु।
सेवते चेन्महीसूनुरूनं तज्जगदम्बुदैः॥ 49॥

यदि रेवती नक्षत्र, रोहिणी, पुष्य, मघा, उत्तरा और पुनर्वसु– इन नक्षत्रों में मङ्गल हो तो देश में अल्प वृष्टिकारक होता है।

गर्गमुनिवचनप्रमाणं —

चित्रास्वातिविशाखासु यस्मिन्मासे न वर्षणम्।
तन्मासे निर्जला मेघा इति गर्गमुनेर्वचः॥ 50॥

जिस महीने में चित्रा, स्वाति और विशाखा– इन नक्षत्रों में वृष्टि नहीं हो तो उस मास में मेघ बिना जल के होते हैं, ऐसा गर्गाचार्य* का कथन है।

वाडवमुनिप्रमाणं —

---

* गर्गमुनि कृत गर्गसंहिता और मयूरचित्रकं में इस प्रकार के विचार रहे हैं। उत्पलभट्ट ने बृहत्संहिता की टीका में इन वचनों को यथास्थान उद्धृत किया है।

अश्लेषायां यदा भद्रे कर्के सङ्क्रमते रविः।
तदा च प्रचुरा वृष्टिरित्यूचे वाडवो मुनिः॥ 51॥

जिस दिन सूर्य की कर्क राशिगत संक्रान्ति हो उस दिन आश्लेषा नक्षत्र हो तो बहुत वृष्टि हो, ऐसा वाडव मुनि* का वचन है।

सङ्क्रान्त्यासञ्चरणफलं —

तुलासङ्क्रान्तिषट्कं चेत्स्वस्याः स्वस्यास्तिथेश्चलेत्।
तदा दुःस्थ जगत्सर्वं दुर्भिक्षडमरादिभिः॥ 52॥

यदि तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ और मीन– ये छह संक्रान्तियाँ अपनी-अपनी तिथि से चलती हों तो दुकाल आदि से सब जगत् को पीड़ा होती है।

भौमवारेदीपोत्सवफलं —

दीपोत्सवदिने भौमवारो वह्निभयावहः।
सङ्क्रान्तीनां च नैकट्ये शुभकर्मादिकं न हि॥ 53॥

दीपावली के दिन यदि मङ्गलवार हो तो अग्नि का उपद्रव होता है और संक्रान्ति वेला भी समीप हो तो शुभ कार्यादि नहीं करना चाहिए।

ज्येष्ठामावस्याचिह्नानुसारेणफलं —

अस्तस्थानं रवेर्ज्येष्ठजामायां वीक्ष्य चिह्नितम्।
तदुत्तरेण चेदिन्दोरस्तस्तच्छुभदं भवेत्॥ 54॥

ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या के दिन सूर्यास्त होने के स्थान को चिह्नित कर दें और शुक्ल पक्ष की द्वितीया को चन्द्र यदि सूर्य से उत्तर की ओर से अस्त हो तो शुभफल कहना चाहिए।**

तथा चाषाढे सितेप्रतिपद्दिने पुनर्वसुविचारं —

यावती भुक्तिराषाढे शुक्लप्रतिपदादिने।
पुनर्वसोश्चतुर्मास्यां वृष्टिः स्यात्तावती शुभा॥ 55॥

---

* वाडवमुनि का कोई ग्रन्थमत ज्योतिषशास्त्र में सम्प्रति प्रचलित नहीं है। गुजरात में वाडव जाति के लोगों ने ज्योतिष का प्रचार किया है, जैसा कि मुहूर्तदीपककार महादेव ने स्वयं को कान्हजी वाडव का पुत्र कहा है—श्रीमद्रैवतराजपूजितपदः श्रीकाह्नजिद्वाडवः सूनुस्तस्य मुहूर्तदीपमकरोदेनं महादेववित् (श्लोक 58) किन्तु महादेव और जिनदत्तजी के बीच लगभग पाँच सौ वर्षों का अन्तराल है।

**नारदीय मयूरचित्रकं में कहा है कि ज्येष्ठ के शुक्ल पक्ष की द्वितीया के चन्द्रमा के उदयकाल पर विचार करें और ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या के सूर्यास्तकाल पर विचार करें। सूर्य से उत्तर में यदि चन्द्रमा हो तो उत्तम समय होता है। यदि मध्य में हो तो मध्यम तथा दक्षिण में हो तो अधम समय जानना चाहिए—चन्द्रोदयन्निरोक्षेत द्वितीयालब्धजन्मनः। ज्येष्ठोत्तरेष्वमायां च भानोरस्तं विलोकयेत्॥ यद्युत्तरे शशी मध्यम्वायाति दक्षिणे: रवेः। उत्तमो-मध्यमो-नी ३: कालः सम्पद्यते तदा॥ (मयूर. 16, 28-29)

आषाढ़ शुक्ला प्रतिपदा को पुनर्वसु नक्षत्र का जितना भाग हो, उतनी ही वृष्टि पावसकाल में होगी, ऐसा जानना चाहिए।

इत्यमनन्तर वास्तुशुद्धगृहक्रमाह —

वैशाखे श्रावणे मार्गे फाल्गुन क्रियते गृहम्।
शेषमासेषु न पुनः पौषो वाराहसम्मतः॥ 56॥

(अब वास्तु-शास्त्रानुसार भूमिपरीक्षा, गृहविधि कही जा रही हैं) वैशाख, श्रावण, मार्गशीर्ष और फाल्गुन– इन चार मासों में नए गृह का निवेश करें, अन्य किसी मास में नहीं किन्तु आचार्य वराहमिहिर के मतानुसार पौष मास में भी गृहनिवेश किया जा सकता है।*

रव्यसङ्क्रान्त्यानुसारेण द्वारविचारं —

मृगसिंहकर्ककुम्भेऽर्के प्राक्प्रत्यग्मुखं गृहम्।
वृषाजालितुलास्थे तूदग्दक्षिणमुखं शुभम्॥ 57॥
कन्यायां मिथुने मीने धनस्थे च रवौ सति।
नैव कार्यं गृहं कैश्चिदिदमप्यभिधीयते॥। 58॥

कर्क, सिंह, मकर और कुम्भ– इन चार राशियों में से चाहे जिस राशि में सूर्य हो तब पूर्व अथवा पश्चिम दिशा की ओर गृह बनाना चाहिए। मेष, वृषभ, तुला और वृश्चिक– इन चार में से किसी भी राशि में सूर्य हो तब उत्तर या दक्षिणाभिमुख गृह बनाना चाहिए। मिथुन, कन्या, धनु और मीन– इन चार में से किसी भी राशि में सूर्य हो तो नवीन गृह नहीं बनाएँ, ऐसा कई ग्रन्थकारों का मत है।**

---

* गृहारम्भ में मासानुसार फल विश्वकर्मा ने इस प्रकार बताया है— चैत्रे शोककरं विद्याद् वैशाखे च धनागमम्॥ ज्येष्ठे गृहाणि पीड्यन्ते आषाढे पशुनाशनम्। श्रावणे धनवृद्धिश्च शून्यं भाद्रपदे भवेत्॥ कलहश्चाश्विने मासे भृत्यनाशनश्च कार्तिके। मार्गशीर्षे धनप्राप्तिः पौषे च धनसम्पदः॥ माघे चाग्निभयं कुर्यात् फाल्गुने श्रीः शुभोत्तमा॥ (ज्ञानप्रकाशदीपार्णव 1, 3-6)
महेश्वराचार्य का मत है कि गृहारम्भ के लिए श्रावण, मार्गशीर्ष, वैशाख, पौष तथा फाल्गुन मास शुभ है किन्तु चन्द्रमा सम्मुख हो, पृष्ठभाग में नहीं। मेष, वृश्चिक, तुला और वृष राशिस्थ सूर्य हो तब उत्तर-दक्षिणाभिमुख गृह बनाए। इसी प्रकार कुम्भ, सिंह, कर्क और मकर राशिस्थ सूर्य हो तब पूर्व-पश्चिमाभिमुख गृह बनाया जाना चाहिए— कार्यं श्रावणमार्गशीर्षसहिते वैशाखमास्यालयं पौषे फाल्गुनसंयुतेन च विधावग्रस्थिते पृष्ठगे। याम्योदङ्मुखमादि वृश्चिकतुलागोस्थे रवौ स्याद् गृहं प्रत्यक् प्राङ्मुखजं गृहं घटहरी कीटं च नक्रं गते॥ (वृत्तशतं 66)

** श्रीपति का मत है कि कर्क (श्रावण), नक्र (माघ), सिंह और कुम्भ राशि के सूर्य में (कुम्भ संक्रान्ति विशिष्ट फाल्गुन मास में) पूर्वमुखी द्वार व पश्चिम दिशा में दरवाजे का मुख; तुला, मेष, वृष, वृश्चिक राशि के सूर्य में दक्षिण और उत्तर दिशा में द्वारमुख रख रखकर गृह निर्माण करना चाहिए। यहाँ कुम्भ के रवि और फाल्गुन मास को एकत्र करने से एकवाक्यता होती है— कर्किनक्रहरिकुम्भगतेऽर्के पूर्वपश्चिममुखानि गृहाणि। तौलिमेषवृश्चिकयाते दक्षिणोत्तरमुखानि च कुर्यात्॥ (रत्नमाला 17, 15)

योगाक्षांशकायव्ययादीनां परीक्षणं निर्देशं —

सुयोगर्क्षं सुतारांश स्थिरांशमधिकायकम्।
अद्विर्द्वादशकत्रित्रिकोणषट्काष्टकं शुभम्॥ 59॥

वास्तु विचार के लिए योगादि को देखना चाहिए। अतएव जहाँ योग, नक्षत्र और तारा– ये तीनों उत्तम, लग्नांश स्थिर और व्यय से आय अधिक सिद्ध होती हैं जबकि द्विर्द्वादश (दूसरा-बारहवाँ) त्रि-त्रिकोण (तीन पाँच या तीन नौ) और षट्काष्टक (छह-आठ)– ये तीन बुरे योग न हो तो वह गृह शुभ जानना चाहिए।

श्रीपतिमत्यानुसारेण मासफलविचारं —

शोको धान्यं मृतिपशुहती द्रव्यवृद्धिर्विनाशो
युद्धं भृत्यक्षतिरथ धनं स्त्री च वह्नेर्भयं च।
लक्ष्मीप्राप्तिर्भवति भवनारम्भकर्तुः क्रमेण
चैत्रादूचे मुनिरिति फलं वास्तुशास्त्रोपदिष्टम्॥ 60॥*

चैत्रादि चन्द्रमास में गृह निर्माण करने पर शोक, वैशाख में धन-धान्य, ज्येष्ठ में मृत्यु, आषाढ़ में पशुहरण व नाश, श्रावण में द्रव्यवृद्धि, भाद्रपद में विनाश होता है। इसी प्रकार आश्विन में युद्ध, कार्तिक में नौकरों-भृत्यों का क्षय, मार्गशीर्ष में धनवृद्धि व पौष में स्त्री प्राप्ति, माघ में अग्निभय और फाल्गुन में भवन निर्माण से लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। यह फल वास्तुशास्त्र के उपदेष्टाओं ने चैत्रादि मास के क्रम से कहा है।

अथ सूत्रपातार्थे नक्षत्राणि —

पुष्यध्रुवमृदुस्वाति हस्तवासववारुणे।
प्रथमो वेश्मनां सूत्र प्रारम्भः सद्धि रिष्यते॥ 61॥

पुष्य, हस्त, स्वाती, विशाखा, ज्येष्ठा, शतभिषा, रोहिणी, उत्तरा, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपदा, मृगशिरा, चित्रा, अनुराधा और रेवती– इन नक्षत्रों में से किसी भी नक्षत्र को देखकर गृहार्थ प्रथम सूत्रपात किया जाना चाहिए, ऐसा विद्वानों का मत है।

तदनन्तरे आयादि परीक्षणं —

समाधिकव्ययं कर्तुः समनाम यमांशकम्।
कुमासधिष्ण्यवारं च गृहं वर्ज्यं प्रयत्नतः॥ 62॥

जहाँ समान आय हो अथवा आय से अधिक व्यय हो और अपने स्वामी के साथ मिलते नाम को धारण करने वाला, यमांश में आया हुआ और दुष्ट मास, दुष्ट

---

* यह श्लोक ज्योतिषरत्नमाला (17, 14) का है और परवर्ती कई ग्रन्थों में ज्यों का त्यों मिलता है।

नक्षत्र, दुष्ट वार को निर्मित किए भवन का प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिए।

अथायानयनमाह —

विस्तारेण हतं दैर्घ्यं विभजदेष्टामिस्तथा।
पूर्वादिदिक्षु चाष्टानां ध्वजादीनामवस्थितिः ॥ 63 ॥

गृह के लिए इष्ट भूमि की लम्बाई और चौड़ाई को गुणा करे और प्राप्त संख्या को आठ से भाजित करें। ऐसा करते हुए जो शेष रहे उसे आय कही जाती है। यह आय पूर्वादि दिशा क्रम से ध्वजादि आठ प्रकार की कही जाती है।*

ध्वजादि नामानुसारेण दिक्स्थितिं —

ध्वजो धूमो हरिः श्वा गौः खरेभौ वायसोऽष्टमः।
पूर्वादिदिक्षु चाष्टानां ध्वजादीनामवस्थितिः ॥ 64 ॥

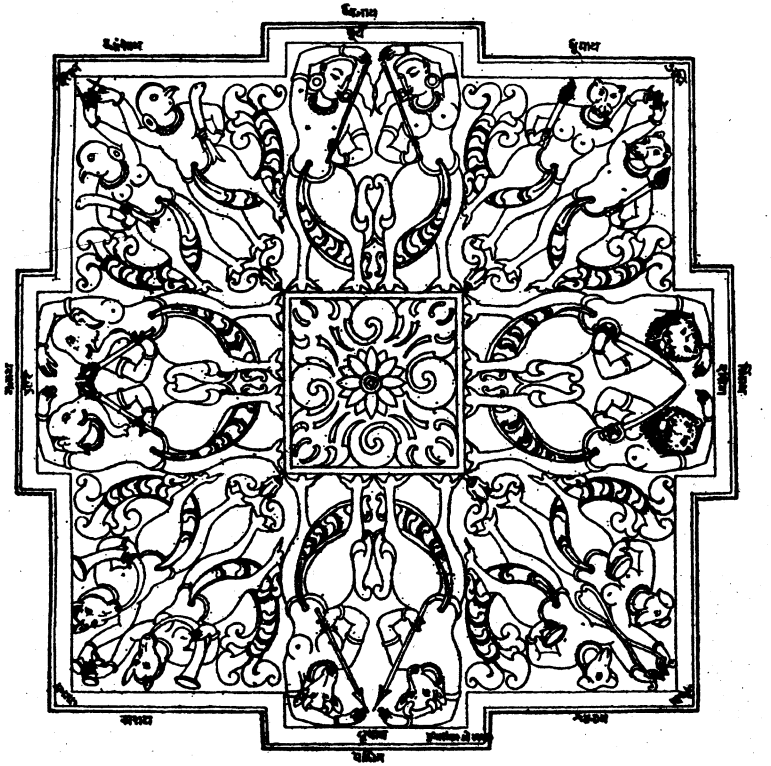

---

* आयादि के लिए मेरी सम्पादित सूत्रधार मण्डन कृत आयतत्त्वम्, वास्तुसारमण्डनम्, राजवल्लभवास्तुशास्त्रम्, मय कृत मयमतम्, समराङ्गणसूत्रधार और अपराजितपृच्छा नामक ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए।

उपर्युक्त संख्या को आठ से भाग देते समय यदि 1 शेष रहे तो ध्वज, 2 रहे तो धूम, 3 रहे तो सिंह, 4 रहे तो श्वान, 5 रहे तो वृषभ, 6 रहे तो गर्दभ, 7 रहे तो गज और समभाग आए तो ध्वांक्ष या काक आय (8वीं) होती है। इन आठों आयों की क्रमशः पूर्व दिशा से लगा कर आठों दिशा में स्थिति जाननी चाहिए।

आयस्थानानि —

स्वे स्वे स्थाने ध्वजः श्रेष्ठो गजः सिंहस्तथैव च।
ध्वजः सर्वगतो देयो वृषं नान्यत्र दापयेत्॥ 65॥

ध्वज, गज और सिंह– इन तीन आयों को अपने-अपने स्थान पर ही श्रेष्ठ जानना चाहिए। ध्वजाय सर्वत्र देय है परन्तु वृषभाय को अन्यत्र नहीं देना चाहिए।*

वृषः सिंहो गजश्चैव खेटे खर्वटकोट्टयोः।
द्विपः पुनः प्रयोक्तव्यो वापीकूपसरस्सु च॥ 36॥

वृषभ, सिंह और गज– इन तीन आयों को खेट (ग्राम, खेड़ा) खर्वट (गिरि की तलहटी का ग्राम) और परकोटा– इनमें देना शुभ है। इसी प्रकार गजाय को बावड़ी, कूप, और तालाब इत्यादि जलस्रोतों के लिए देना चाहिए।

आसनोयुधयोः सिंहः शयनेषु गजः पुनः।
वृषो भोजनपात्रेषु छत्रादिषु पुनर्ध्वजः॥ 67॥

आसन और आयुध के लिए सिंहाय; शयन के लिए गजाय; भोजन पात्र के लिए वृषभाय और छत्र-चामर आदि के लिए ध्वजाय देनी चाहिए।

अग्निवेश्मसु सर्वेषु गृहे वह्न्युपजीविनाम्।
धूमं नियोजयत्किञ्च श्वानं म्लेच्छादिजातिषु॥ 68॥

धूमाय पाकस्थल या रसोईघर के लिए और अग्नि पर अपनी आजीविका चलाने वाले लोहार, स्वर्णकार, भङ्गारा आदि के गृह के लिए देनी चाहिए। म्लेच्छादि जाति के लिए श्वानाय देनी चाहिए।

खरोवेश्यागृहं शस्तो ध्वाङ्क्षः शेषकुटीषु च।
वृषः सिंहो गजश्चापि प्रासादपुरवेश्मसु॥ 69॥

---

* महेश्वरदैवज्ञ का मत है कि क्षेत्रफल की लम्बाई और चौड़ाई को गुणा करें और 8 से भाजित करें तो जो शेष रहेगा, उसको आय जानना चाहिए। इन आयों के नाम है— 1. ध्वज, 2. धूम, 3. सिंह, 4. श्वान, 5. वृषभ, 6. खर, 7. गज और 8. उष्ट्र। यदि उक्त गणना से ध्वजाय मिले हो तो पूर्वादि चारों दिशाओं में द्वार रखा जा सकता है, सिंहाय हो तो पश्चिम दिशा को छोड़कर पूर्व-दक्षिण में और उत्तर इन दिशाओं में द्वार रखें। वृषभ आय हो तो पूर्व दिशा में द्वार रखें व गजाय हो तो पूर्व व दक्षिण दिशा में द्वार रखना शुभ होता है— आयास्युर्ध्वज$_1$ धूम$_2$सिंह$_3$शुनको$_4$क्षाण:$_5$ खरे$_6$भो$_7$ष्ट्रका:$_8$ दैर्घ्ये विस्तृति संगुणेऽष्टविहते ह्यायोऽथ शेषं भवेत्। सर्वद्वारइह ध्वजो वरुणदिग्द्वारं च हित्वा हरिः प्राग्द्वारो वृषभो गजो यमसुरेशाशामुखः स्याच्छुभः॥ (वृत्तशतं 67)

वेश्यागृह खराय श्रेष्ठ है। अन्यान्य प्रकार की झोंपड़-पट्टियों, कुटियों के लिए ध्वांक्षाय और प्रासाद (मन्दिर या राजमहल) और नगर गृह के लिए वृषाय, सिंहाय और गजाय देनी चाहिए।*

स्पष्टार्थचक्र

क्रम	आय	मुख	दिशा	शुभ वर्ण, कर्म हेतु प्रशस्त
1.	ध्वज	मनुष्य	पूर्व	छत्र, देवालय, विप्रगृह, वेदी, जलाशय, वस्त्राभरण, यज्ञशाला का प्रकल्पन
2.	धूम	मार्जार	अग्निकोण	अग्निजीवी, आवास, कुण्ड, होमस्थल का प्रकल्प
3.	सिंह	सिंह	दक्षिण	सिंहद्वार, राजगृह, अस्त्र संग्रहकक्ष, सिंहासन का प्रकल्पन
4.	श्वान	श्वान	नैर्ऋत्य	चाण्डालगृह का प्रकल्पन
5.	वृष	वृष	पश्चिम	वैश्य के आवास का प्रकल्पन
6.	खर	खर	वायव्य	दुकान, वाणिज्यिक प्रतिष्ठान, धनालय, भोजनशाला, वाद्यागार का प्रकल्पन
7.	गज	हस्ति	उत्तर	वादित्र-गन्धर्वगृह, शूद्रगृह, यान, स्त्रीकक्ष, वाहन व शयनागार का प्रकल्पन
8.	ध्वाङ्क्ष	काक	ईशान	शिल्पीगृह, तपस्वीगृह, मठ, यन्त्रशाला का प्रकल्पन

---

* अपराजितपृच्छा में इनके फलादि पर भी विचार किया गया है— आयस्थाने व्ययो योज्यो ह्याप्रशस्तो व्ययोऽधिकः। व्ययो न्यूनस्तथा श्रेष्ठो धनधान्यकरः स्मृतः॥ स्मृतो ध्वजे शुभः शान्तः नित्यं कल्याणकारकः। भोज्यं पूजाफलं शान्तिर्नृत्यं गीतं सुरालये॥ धूमस्थाने यदा शान्तो हेमरत्नादिसम्भवः। अग्न्युपजीवकानां च धातुद्रव्यफलप्रदः॥ सिंहस्थाने च पौरश्चत् सिंहवच्च पराक्रमैः। निहन्ति रिपुसैन्यानि ह्यात्मस्थाने महोत्सवाः॥ प्रद्योतः श्वानसंस्थाने नित्यं भोगसुखावहः। शय्यासु वेश्मनि तथानेकभोगादिकामदः॥ श्रियानन्दो वृषस्थाने नित्यं रीसुखशान्तिदम्। व्यवहारोपस्करं च गुरुदेवार्चने रतिम्॥ मनोहरः खरे युक्तः सर्वमनोरथप्रदः। समस्तभोगयुक्तानां तीर्थयात्राप्रकाशकः॥ श्रीवत्सो गजसंस्थाने स्त्रीणां क्रीडात्मनः स्मृताः। शृङ्गारभोगयुक्तानासं बलपुष्टिप्रदायकः॥ विभवो ध्वाङ्क्षसंस्थाने शिल्पिनां हितकामदः। सूत्रशास्त्रर्थसम्पन्ना भोगशृङ्गारनिश्चलाः॥ सर्वेषु शान्त आयेषु प्रशस्तः सर्वकामदः। षट्सु सिंहादिषु शुभः पौरो धूध्वजौ विना॥ ध्वजे धूमे तथा सिंहे प्रद्योतादीन् विवर्जयेत्। शेषाणां सुप्रशस्ताश्च तथा स्थानेषु पञ्चसु॥ (अपराजित. 66, 7, 17)

मूलराश्यानयनमाह —

आयामे विस्तारहते योऽङ्कः सञ्जायते किल।
स मूलराशिर्विज्ञेयो गृहस्य गणकैः सदा॥ 70॥

गृह पिण्ड की लम्बाई और चौड़ाई को गुणा करने पर जो संख्या आती है, वह गृह की मूल राशि है, गणितकर्ताओं को इस पर अवश्य विचार करना चाहिए।

गृहनक्षत्रानयनमाह —

अष्टाभिर्गुणितेमूल राशावस्मिन्विशारदैः।
सप्तविंशातिभक्ते यच्छेषं तद्गृहभं भवेत्॥ 71॥

उपर्युक्त प्रकार से निकाली गई मूल राशि को 8 से गुणा कर के 27 से भाग देने पर जो शेष रहे, उसे गृह का नक्षत्र जानना चाहिए।

व्ययानयन सफलमाह —

नक्षत्राङ्केऽष्टभिर्भक्ते योङ्कः स स्याद्गृहे व्ययः।
पैशाचो राक्षसो यक्षः स त्रिधा स्मर्यते व्ययः॥ 72॥

नक्षत्र की संख्या को 8 से भाजित जो शेष रहे, उसे गृह के लिए व्यय बोधक जानना चाहिए। यह व्यय पैशाच, राक्षस और यक्ष– इस तरह तीन प्रकार का है।

पैशाचस्तु समायः स्याद्राक्षसस्त्वधिके व्यये।
आयान्न्यूनतरो यक्षो व्ययः श्रेष्ठोऽष्टधा त्वयम्॥ 73॥

व्यय यदि आय जितना आए तो पैशाच संज्ञक; आय से अधिक आए तो राक्षस और आय से कम आए तो यक्ष संज्ञक होता है। इन तीनों में यक्ष संज्ञक व्यय श्रेष्ठ जाने। अब आठ प्रकार का व्ययों को संख्यानुसार कहते हैं।

शान्तः पौरस्तथोद्योतः श्रेयानन्दो मनोहरः।
श्रीवत्सो विभवश्चापि चिन्त्यात्मेत्यष्टधा व्ययः॥ 74॥

उपर्युक्त रीति से नक्षत्र की संख्या को 8 से भाजित करते हुए शेष 1 रहे तो शान्त नामक व्यय, 2 शेष रहे तो पौर, 3 रहे तो उद्योत, 4 रहे तो श्रेयानन्द, 5 रहे तो मनोहर, 6 रहे तो श्रीवत्स, 7 रहे तो विभव और सम भाग आए तो आठवाँ चिन्त्य नामक व्यय जानना चाहिए।*

---

* तुलनीय—समो व्ययः पिशाचश्च राक्षसस्तु व्ययोऽधिकः। व्ययो न्यूनो यक्षश्चैव धनधान्यकरः स्मृतः॥ अनायव्यये कर्तरि आयहीने व्यये तथा। व्ययाधिक विनश्यन्ति अचिरेणै सर्वदा॥ ध्वजादिष्वष्टस्वायेषु अष्टौ शान्तादिका व्ययाः। प्रत्येकव्ययसंस्थाने आयो न्यूनेत्तरे स्मृतः॥ शान्तः पौरः प्रद्योतश्च श्रियानन्दो मनोहरः। श्रीवत्सो विभवश्चैव चिन्तात्मा च व्ययाः स्मृताः॥ (अपराजित. 66, 3-6)

अंशकानयनमाह —

मूलराशौ व्यये क्षिप्ते गृहनामाक्षरेष च।
ततो हरोत्त्रिभिर्भागे यच्छेषं सोऽंशको भवेत्॥ 75॥
इन्द्रो यमश्च राजा चाप्यंशकाश्च त्रयस्त्विमे।

यदि मूल राशि में व्यय की और घर के नामाक्षर की संख्या मिलाएँ और तीन से भाजित करें जो शेष रहे, उसे अंशक जानना चाहिए। एक शेष रहे तो इन्द्रांशक, दो रहे तो यमांशक, और सम भाग टूटे तो राजांश जानना चाहिए।*

अधुना तारानयन सफलमाह —

गृहभस्वामिभैक्यस्य भक्तस्य नवभिः पुनः॥ 76॥
यच्छेषं सा भवेत्तारा तारानामान्यमूनि च।
जन्म सम्पद्विपत्क्षेम प्रत्यरिः साधनीति च॥ 77॥
नैधनी मैत्रिका चैव तथा परममैत्रिका।
चत्वारः षड् नव श्रेष्ठाः समपञ्चत्रयोऽधमाः॥ 78॥

गृह के नक्षत्र और गृहपति के नक्षत्र की संख्या मिलाकर उसे 9 से भाजित करें और जो रहे उसे तारा जाने। (संख्यानुसार इनका नाम व फल इस प्रकार होगा) यदि उक्त विधि से 9 का भाग देने से 1 शेष रहे तो जन्म तारा, 2 रहे तो सम्पत, 3 रहे तो विपत्, 4 रहे तो क्षेम, 5 रहे तो प्रत्यरि, 6 रहे तो साधनी, 7 रहे तो नैधनी, 8 रहे तो मैत्रिका, और 9 रहे तो परममैत्रिका नामक तारा जाने। इन नौ ताराओं में से चौथी, छठी और नवीं तारा श्रेष्ठ; तीसरी, पाँचवीं और सातवीं अधम

---

* अपराजितपृच्छा में इस प्रकार इनकी गणित और उपयोग प्रकार आया है— शृणु वत्स यथा चांशे वास्तुवेदे त्रिधा स्मृतः। एकैकक्रमयोगो वै शुभश्चाशुभ उच्यते॥ यदुक्ता मूलराशो च आयार्थेषु फलं कृतम्। तत्र राशौ व्यये मिश्रे गृहनामाक्षराणि च॥ गुणैर्भक्ते व्यये शेषं अंशकं त्रिविधं विदुः। इन्द्रो यमश्च राजा च त्रिभिर्नामभिरंशकाः॥ प्रासाद- प्रतिमालिङ्गे जगतीपीठ मण्डपे। वेदीकुण्डश्रुक्षु चैव इन्द्रश्चैव ध्वजादिषु॥ क्षेत्राद्विसंक्षा? नागेन्द्रे गणाध्यक्षे च भैरवे। ग्रहमातृगणे देव्यामादित्ये च यमांशकः॥ पुरप्राकारनगरखेटकूटे च कर्वटे। हर्म्ये च राजवेश्मादौ शस्तो राजा तथा मतः॥ स्वर्गादिभोगयुक्तानां नृत्यगीतमहोत्सवे। प्रवचने च पाण्डित्ये इन्द्रांशश्चोत्तमो मतः॥ विविधं च चाणिक्कर्म मद्यमांसादिकं तथा। इत्युक्तं क्रमतश्चेत्थं प्रशस्तं च यमांशके॥ गजाश्वरथक्रीडायां यानजंभानकादिके। स्वर्गादितुल्यभोगाश्च राजांशक उदाहृताः॥ त्र्यक्षराणि त्रिभेदाश्च त्रिदेवास्त्रिहुताशनाः। त्रयः कालास्त्रिसन्ध्याश्च रजः सत्वतमस्त्रयम्॥ प्रमाणत्रयमेवं च ज्येष्ठमध्याधमैः क्रमात्। त्र्यंशकं तु समानीय वास्तुवेदभवं ततः॥ (अपराजित. 66, 21-31)

व शेष मध्यम जाननी चाहिए।*

अन्यान्य गणनक्षत्राह नोदितम् —

राक्षसामरमर्त्याख्य गणनक्षत्रकादिकम्।
ज्ञेयं ज्योतिर्मतख्यातमिदमत्रेति नोदितम्॥ 79॥

ज्योतिषशास्त्र में राक्षस, देवता, मनुष्य नामक गण और नक्षत्रादि प्रसिद्ध है। इसलिए यहाँ उनका वर्णन नहीं किया गया है।**

अथ ध्रुवादिषोडशगृहाणां नामानि —

ध्रुवं धन्यं जयं नन्दं खरं कान्तं मनोरमम्।
सुमुखं दुर्मुखं क्रूरं सुपक्षं धनदं क्षयम्॥ 80॥

---

* श्रीपति का मत है कि ताराबल का ज्ञान करने के लिए जन्म के नक्षत्र से अभीष्ट दिन के नक्षत्र तक गणना करने पर जो संख्या प्राप्त हो, उसमें नौ का भाग दिए जाने पर यदि एक आए तो जन्म की तारा, दो आए तो सम्पद्, तीन आए तो विपत्, चार आए तो क्षेम, पांच आए तो पाप, छह आए तो शुभा (सिद्धा), सात आए तो वध (कष्टा), आठ आए तो मित्र और नौ आएं तो अतिमित्र संज्ञक ताराएँ होती है। मान्यता है कि ये ताराएँ अपने नामानुसार ही फलदायी होती है। ताराओं में 2, 4, 6, 8, और 9वीं तारा शुभ होती है। जन्म की तारा मध्यम और शेष तीसरी, पांचवीं तथा सातवीं तारा को त्याज्य कहा गया है—जन्मद्वयासम्पदथो विपच्चक्षेमा च पापा च शुभा च वध। मैत्रातिमैत्रे च नवेतितारा: स्युर्जन्मभानि: परिवर्तनेन॥ (रत्नमाला, 11, 4)

मान्यता है कि ये ताराएं अपने नामानुसार ही फलदायी होती है। ताराओं में 2, 4, 6, 8, और 9वीं तारा शुभ होती है। जन्म की तारा मध्यम और शेष तीसरी, पांचवीं तथा सातवीं तारा को त्याज्य कहा गया है। वृहस्पति ने शुभा की अपेक्षा साधक संज्ञाभिधान के साथ इन ताराओं के नाम गिनाए हैं- जन्मसम्पद्विपत्क्षेम प्रत्यरि: साधको वध:। मैत्रं परममैत्रं च भवेत्संज्ञास्तु कर्मणाम्॥ विपदि प्रत्यरिवधे प्रथमान्त्ये त्रिभागत:। विनान्येऽशा शुभा: सर्वे सर्वेषु शुभ-कर्मसु॥ (बृहद्दैवज्ञरञ्जनम् 28, 6-7)

**शिल्पदीपक में आया है कि गृह और गृहस्वामी का यदि एक ही गण हो, तो उत्तम प्रीति बनी रहती है। यदि एक का देवगण और दूसरे का मनुष्यगण हो तो मध्यम प्रीति जाननी चाहिए परन्तु यदि एक का मनुष्य गण और दूसरे का राक्षसगण हो तो वह मृत्युकारक कहा गया है। इसी प्रकार यदि एक का देवगण और दूसरे का राक्षसगण होता है तो वह मृत्युकारक जानना चाहिए। गृह व गृहस्वामी के सन्दर्भ में यह मिलान शुभ होता है—स्वगणे चोत्तमा प्रीतिर्मध्यमा देवमानुषे। कलहो देवदैत्यानां मृत्युर्मानवराक्षसे॥ (शिल्पदीपक 1, 33)

'देवगण' नक्षत्रों में मृगशिरा, अश्विनी, रेवती, हस्त, स्वाति, पुष्य, अनुराधा और श्रवण आते हैं— मृगाश्विनी रेवती च हस्त: स्वाति: पुनर्वसु:। पुष्याऽनुराधा श्रवणमिति देवगणा: स्मृता:॥ (तत्रैव 1, 34)

'राक्षसगण' नक्षत्रों में कृतिका, मूल, आश्लेषा, मघा, चित्रा, विशाखा, घनिष्ठा, शतभिषा और ज्येष्ठा आते हैं — कृत्तिका मूलमश्लेषा मघा चित्रा विशाखिका। धनिष्ठा शतारा च ज्येष्ठा च राक्षसगणा:॥ (तत्रैव 1, 35)

'मनुष्यगण' नक्षत्रों में भरणी, पूर्वा फाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद, आद्रा और रोहिणी की गणना होती है- भरणी त्रीणि पूर्वाणि ह्युत्तरात्रयमेव च। आर्द्रा च रोहिणी चैव नवैते मानुषा गणा:॥ (तत्रैव 1, 36)

आक्रन्दं विपुलं चैव विजयं चेत्यमूर्भिदाः।
गृहस्थ स्वस्य नाम्नोऽपि सदृशं च भवेत्फलम्॥ 81॥

(अब सोलह प्रकार के गृहों के नाम कहे जा रहे हैं) 1. ध्रुव (स्थिरता दायक), 2. धन्य (यश प्रदाता), 3. जय (जय प्रदाता), 4. नन्द (आनन्द प्रदाता), 5. खर (स्नेहभञ्जक), 6. कान्त (सौन्दर्योत्पादक), 7. मनोरम (मन में प्रीति उत्पादक), 8. सुमुख (अच्छे मुँह का), 9. दुर्मुख (बुरे मुँह वाला), 10. क्रूर (भयोत्पादक), 11. सुपक्ष (परिवार अभिवर्धक), 12. धनद (धन प्रदाता), 13. क्षय (नाशकारक), 14. आक्रन्द (शोक उत्पादक), 15. विंपुल (वृद्धि कर्त्ता), और 16. विजय (बहुत जय दायक)– ऐसे गृह के सोलह भेद है। गृह और अपने नाम के भी इन नामों के अनुसार ही फल जानना चाहिए।*

प्रस्तारक्रमानुसारेण गृहपरिकल्पनं —

यो गुरूणां चतुर्णां स्यात्प्रस्तारश्छन्दसां कृतः।
षोडशान्त इमे भेदाः स्युस्तन्नामान्यलिन्दकैः॥ 82॥

चार गुरुवर्ण के जिस सोलह प्रकार के प्रस्तार क्रम का छन्दशास्त्र में वर्णन किया गया है, वैसे ही गृह के सोलह भेद होते हैं** और उपर्युक्त सोलह नाम अलिन्दक (द्वार के आगे के चौक) पर से होते हैं।

गृहार्थ प्रस्तारचक्र

सं.	प्रस्तारभेद	गृहनाम	द्वारनाम
1.	ऽ ऽ ऽ ऽ	ध्रुव	ऊर्ध्वमुख
2.	। ऽ ऽ ऽ	धन्य	पूर्वमुख
3.	ऽ । ऽ ऽ	जयसंज्ञक	दक्षिणद्वार
4.	। । ऽ ऽ	नन्दसंज्ञक	पूर्वदक्षिणद्वार
5.	ऽ ऽ । ऽ	खराभिध	पश्चिमद्वार

---

* वृद्धवशिष्ठ ने इन गृहों का फलाफल इस प्रकार बताया है— ध्रुवसंज्ञं गृहं त्वाद्यं धनधान्यसुखप्रदम्। धान्यं धनप्रदं नृणां जयं स्याद्विजयप्रदम्॥ नन्दं स्त्रीहानिदं नूनं खरं सम्पद्विनाशनम्। पुत्रपौत्रप्रदं कान्तं श्रीपदं स्यान्मनोरम्॥ सुवक्त्रं भोगदं नूनं दुर्मुखं विमुखप्रदम्। सर्वदुःखप्रदं क्रूरं विपक्षं शत्रुभीतिदम्॥ धनदं धनदं गेहं क्षयं सर्वक्षयप्रदम्। आक्रंदं शोकजननं विपुलं श्रीयशःप्रदम्। विपुलं नामसदृशं धनदं विजयाभिधम्॥ (वशिष्ठसंहिता 39, 100-103)

**श्रीपति का मत है कि भवन के लिए छन्दशास्त्रानुसार प्रस्तारक्रम समझना चाहिए। इसके लिए पहले चार गुरु (ऽऽऽऽ) लिखें, तदोपरान्त प्रथम गुरु के नीचे लघु लिखें और वाम भाग में गुरु लिखें तथा आगे जैसा पूर्व में लिखा गया है, वैसा ही लिखें (।ऽऽऽ)। इसी प्रकार सबके लघु (।।।।) होने तक लिखें तो प्रस्तारक्रम तय हो जाता है— स्थापयेल्लघुमधो गुरोः परं स्याद्यथोपरि तथैव पूरयेत्। पश्चिमं च गुरुभिः पुनः पुनः सर्वलघ्ववधिरित्ययं विधिः॥ (रत्नमाला 17, 9)

6.	।ऽ।ऽ	कान्त	पूर्वपश्चिमद्वार
7.	ऽ।।ऽ	मनोरम	दक्षिणपश्चिमद्वार
8.	।।।ऽ	सुमुख	पूर्वयाम्यपश्चिमद्वार
9.	ऽऽऽ।	दुर्मुख	उत्तरद्वार
10.	।ऽऽ।	क्रूर	पूर्वोत्तरद्वार
11.	ऽ।ऽ।	सुपक्ष	दक्षिणोत्तरद्वार
12.	।।ऽ।	धनद	पूर्वयाम्योत्तरद्वार
13.	ऽऽ।।	क्षयाख्य	पश्चिमोत्तरद्वार
14.	।ऽ।।	आक्रन्द	पूर्वपश्चिमत्तरद्वार
15.	ऽ।।।	विपुल	याम्यपश्चिमोत्तरमुख
16.	।।।।	विजयसंज्ञक	चतुर्मुख

गृहे कक्षादीनां निवेशनाह—

पूर्वस्यां श्रीगृहं कार्यमाग्नेय्या तु महानसम्।
शयनं दक्षिणस्यां च नैर्ऋत्यामायुधादिकम्॥ 83॥
भुजिक्रिया पश्चिमायां वायव्यां धान्यसङ्ग्रहः।
उत्तरस्यां जलस्थानमीशान्यां देवतागृहम्॥ 84॥

अपने गृह में पूर्व दिशा में श्रीगृह (भाण्डागार), आग्नेय कोण में पाकशाला (रसोईघर), दक्षिण दिशा में शयनागार, नैर्ऋत्य कोण में आयुधागार, पश्चिम दिशा में भोजन स्थल, वायव्य कोण में धान्य संग्रह स्थल और उत्तर दिशा में जल का स्थल और ईशान कोण में देवतागृह बनाना चाहिए।*

अपरं च —

गृहस्य दक्षिणे वह्नि तोयगोमयदीपभूः।
वामे प्रत्यग्दिशो भुक्तिधान्यार्थारोहदेवभूः॥ 85॥

गृह के दक्षिण भाग में रसोई, पानी का स्थान और गोमय के कण्डे (वर्तमान में गैस) का और दीपक रखने का स्थान बनाना चाहिए। इसके बायीं ओर, पश्चिम दिशा की ओर भोजन करने का, धान्य व धन रखने का स्थान व आरोहण बनाना चाहिए।

प्राक्दिशाज्ञानार्थ परामर्श —

---

* मयमतम्, मानसार, समङ्गणसूत्रधार, अपराजिपृच्छा, राजवल्लभवास्तुशास्त्रादि में इन स्थानों को लेकर किञ्चित भेद मिलता है किन्तु यह मत सर्वमान्य है कि जिस दिशा की जो प्रकृति हो, वह निर्मिति वहाँ बनाई जा सकती है।

पूर्वादिदिग्वनिर्देशो गृहद्वारव्यपक्षेया।
भास्करोदयदिक्पूर्वा न विज्ञेया यथा क्षुते॥ 86॥*

जिस प्रकार छींक के सम्बन्ध में जिस दिशा में मुँह हो, वह पूर्व दिशा ही ग्रहण की जाती है, वैसे ही गृह के विषय में भी जिस दिशा में गृह का द्वार हो वही पूर्व दिशा एवं तदनुसार ही अन्य दिशाएँ जाननी चाहिए। इसके विपरीत, जिस दिशा में सूर्योदय होता है, उस पूर्व दिशा से यहाँ प्रयोजन नहीं है।

गृहार्थे हस्तप्रयोग विधिं —

गृहेषु हस्तसङ्ख्यानं मध्यकोणैर्विधीयते।
समाः स्तम्भाः समाः पट्टा विषमाश्च क्षणाः पुनः॥ 87॥

यदि गृह को नापना हो तो हस्त की संख्या को मध्यवर्ती कोण से ग्रहण किया जाता है। गृह के स्तम्भ और पट्टियाँ सम संख्या और गृह के खण्ड विषम संख्या में निवेशित करने चाहिए।

आयविपर्ययादीनां विचारं —

आये नष्ट सुखं न स्यान्मृत्युः षट्काष्टके पुनः।
द्विर्द्वादशे च दारिद्र्यं त्रित्रिकोणेऽङ्गजक्षयः॥ 88॥

भवन के लिए अपेक्षित आय यदि नहीं हो तो सुख नहीं होता है और षडष्टक योग हो तो मृत्युप्रद और द्विर्द्वादश योग हो तो धन का क्षय तथा तीन-पाँच या तीन-नौ का योग हो तो पुत्र का नाश होता है, ऐसा जानना चाहिए।**

---

* टोडरमल्ल (1577 ई.) ने इस श्लोक को वास्तुसौख्यम् में विश्वकर्मा का मत कहकर किञ्चित पाठान्तर के साथ उद्धृत किया है— पूर्वादिदिग्वनिर्देश्या गृहद्वारविवक्षया। भास्करोदयदिक्पूर्वा न विज्ञेया यथार्थतः॥ (टोडरानन्द वास्तुसौख्यं श्लोक 285)
यह श्लोक सूत्रधार मण्डन कृत वास्तुमण्डनं (5, 2) में भी उद्धृत है। इससे ऐसा लगता है कि पूर्वकाल में वास्तु के लिए गृहमुखानुसार भी दिशा को कल्पित कर कक्षादि का नियोजन होता था। यह मत न विश्वकर्माप्रकाश में है न ही विश्वकर्मन्नवास्तुशास्त्र में है। विश्वकर्माप्रकाश में दिशा के लिए स्पष्ट किया गया है— चतुरस्रां समां शुद्धां भूमिं कृत्वा प्रयत्नतः। तस्मिन् दिक् साधनं कार्यं वृत्तमध्यगते दिशिः॥ (विश्वकर्माप्रकाश 2, 14) इसी प्रकार विश्वकर्मन्नवास्तुशास्त्र में स्पष्ट किया गया है- प्राची परीक्षयेत्सम्यक् सूर्यगत्यनुमानतः। गृहीतस्थलके शङ्कुमवटे स्थापयेत्क्रमात्॥ (विश्वकर्मा. 3, 7)

**लल्लाचार्य का निष्कर्ष है कि नाड़ीयोग या एक नाडी होने पर मृत्यु, छठे-आठवें विपदा, नव-पञ्चम में अनपत्यता तथा द्विर्द्वादश में दारिद्र्य होता है— मरणं नाडियोगे कलहः षट्काष्टके विपत्तिर्वा। अनपत्यता त्रिकोणे द्विर्द्वाशके च दारिद्रम्॥ (बृहद्दैवज्ञरञ्जनम् 71, 354)
इसी प्रकार श्रीपति का मत है कि दोनों की राशि यदि छठे-आठवें में हो तो मृत्यु की आशंका होती है। नव-पञ्चम हो तो सन्तान का अभाव, द्वितीय-द्वादश हो तो धनाभाव तथा अन्य चार में बुद्धि होती है— षष्ठाष्टमे मृत्युरपत्यहानिः पाणिग्रहे स्यान्नवपञ्चमे च। नैस्वं धने द्वादशके परे तु प्रज्ञानिरेका हिबुके वरस्य॥ (ज्योतिषरत्नमाला 16, 13)

यमांशे वर्जिताह —

यमांशे गृहिमृत्युः स्यान्मृत्युः सप्तमतारके।
निस्तेजाः पञ्चमे तारे विपत्तारे तृतीयके॥ 89॥

यदि गृह के लिए यमांश का प्रयोग हो जाए तो गृहपति के निधन की आशंका जाननी चाहिए। इसी प्रकार तारा विचार करते हुए देखें कि यदि सातवीं (नैधनी) तारा हो तो भी मृत्युकारक है जबकि पाँचवीं (प्रत्यरि) तारा हो तो विपत्तिप्रद होती है।

बहुदोषकरं तुलातालुद्वारवेधमाह —

न्यूनाधिक्ये च पट्टानां तुलावेध उपर्यधः।
एकक्षणे नीचोच्चत्वे पट्टानां तालुवेधता॥ 90॥
भूवैषम्यात्तले वेधो द्वारवेधश्च घोटके।
एकस्मिन्सम्मुखं द्वाभ्यां पुनर्नैव कदाचन॥ 91॥

भवन के ऊपर अथवा नीचे की पट्टियाँ (पूर्वकाल में काष्ठ पटियाँ, बाद में प्रस्तर पटियाँ) यदि संख्या में न्यूनाधिक्य हो तो तुलावेध कहा जाता है। किसी एक खण्ड, तल में यदि पट्टियें ऊँचे-नीचे हो तो तालुवेध कहा जाता है। यदि भूमि इकसार नहीं होकर निम्नोच्च हो तो तलवेध और एक ही घोटक सम्मुख हो तो द्वारवेध होता है किन्तु यदि दो घोटक सम्मुख हो ता यह वेध नहीं होता है।*

वास्तुमर्मदोषाह —

वास्तोर्वृक्षसि शीर्षे च नाभौ च स्तनयोर्द्वयोः।
गृहस्यैतानि मर्माणि नैषु स्तम्भादि सूत्रयेत्॥ 92॥

वास्तु न्यास के साथ यह सोचना चाहिए कि नक्शे के अनुसार वास्तु के वक्ष

---

* मत्स्यपुराण के 255वें अध्याय में 24 श्लोकों में वेधों व उनके निवारणोपायों का वर्णन आया है। 'वास्तु उद्धारधोरणी' में गृहादि में उन्नीस प्रकार के वेधों का वर्णन हुआ है— तलवेध, तालवेध, दृष्टिवेध, तुलावेध, बाधावेध, स्तम्भवेध, मर्मवेध, मार्गवेध, वृक्षवेध, छायावेध, जलस्थानवेध, द्वारवेध, स्वरवेध, कीलवेध, कोणवेध, भ्रमवेध, दीपालयवेध, कूपवेध, देवस्थानवेध। ये वेध त्याज्य हैं। यदि कोई वास्तु निश्चित लक्षणों से हीन भी हो, किन्तु वहाँ पर मन प्रसन्न होता हो तो वहाँ दोष नहीं जाने क्योंकि ऐसा स्थान धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष का साधक होता है— तलवेधस्तालवेधो दृष्टिवेधस्तथैव च। तुलावेधस्तथा बाधा स्तम्भवेधोतिस्फुटः॥ मर्मवेधो मार्गवेधो वृक्षवेधस्तथा पुनः। छायावेधोदकद्वारश्च स्वरवेधस्तथैव च॥ कीलवेधस्तथा कोणा भ्रमवेधस्तथैव च। दीपालयं च कूपवेधश्च देवस्थान परित्यजेत्॥ वास्तुलक्षण हीनेऽपि यत्र वैराच्यते मनः। तत्र दोषो न विद्याच्च धनकामार्थमोक्षदम्॥ (उद्धारधोरणी 2, 8-11)

स्थल, मस्तक, नाभि और दोनों स्तन– ये पाँचों गृह के मर्मस्थल* कहे जाते हैं।

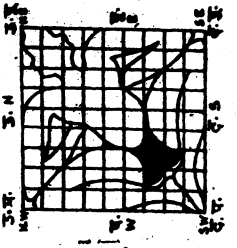

वास्तु पद विन्यास

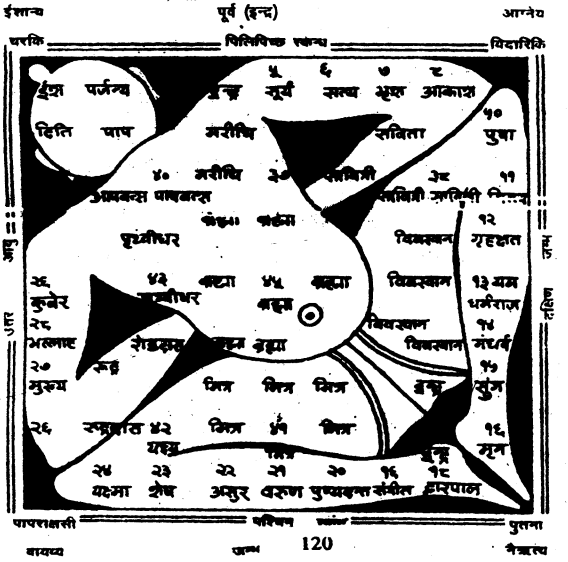

---

* इसी प्रकार धाराधिप भोज ने मर्म वेध के सन्दर्भ में कहा है कि वास्तुपुरुष के न्यास के अनुसार भीतर के तेरह, बाहर के बत्तीस जो देवता हैं, उनके स्थान, जो मर्म, जो शिराएँ और जो वंश हैं, उनमें से मुख में, हृदय, नाभि, सिर तथा दोनों स्तनों में जो वास्तुपुरुष के मर्म हैं, उनको षण्महन्ति कहा जाता है। वंशा, अनुवंश और संपात् तथा पद के मध्य में देवों के स्थान हैं वे प्रथम सोलह पद के वास्तु में रहते हैं— अन्तस्त्रोदश सुरा द्वात्रिंशद् बाह्यतश्च ये। तेषां स्थानानि मर्माणि सिरा वंशाश्च तेषु तु॥ मुखे, हृदि च नाभौ च मूर्ध्नि च स्तनयोस्तथा। मर्माणि वास्तुपुंसोऽस्य षण्महन्ति प्रचक्षते॥ वंशानुवंशसम्पाता: पदमध्यानि यानि च। देवस्थानानि तान्याद्ये पदषोडशकान्विते॥ (समराङ्गण सूत्रधार 13, 6-8)

वराहमिहिर ने कहा है कि वास्तुपीठ में ईशान से नैर्ऋत्य व वायव्य से अग्निकोण तक कर्णाकार विस्तृत सूत्रों का संपात् जिस पूर्वापर रेखा व कोष्ठ से होता है, वह रेखा, संपातस्थान व कोष्ठ संपात स्थान सभी वास्तुपुरुष के मर्म स्थान हैं। बुद्धिमान इन मर्म स्थानों को उत्पीड़ित न करें, क्योंकि वास्तुपुरुष का जो ममाँत पीड़ित होगा, गृहस्वामी का भी वही ममाँत पीड़ित होगा—सम्पाता वंशानां मध्यानि समानि यानि च पदानाम्। तानि मर्माणि विद्यात्र तानि परिपीडयेत् प्राज्ञ:॥ तान्यशुचिभाण्डकीलस्तम्भाद्यै: पीडितानि शल्यैश्च। गृहभर्तुस्तुतुल्ये पीडामङ्गे प्रयच्छन्ति॥ (बृहत्संहिता 53, 57-58)

इसलिए इन पाँच स्थानों में स्तम्भादि का निवेश नहीं करना चाहिए।

द्वारवेधविचारं —

स्तम्भकूपद्रुकोणाध्वविद्धं द्वारं शुभं न हि।
गृहोर्व्या द्विगुणां भूमिं त्यक्त्वा ते स्युर्न वेधकाः॥ 93॥

स्तम्भ, कूप, वृक्ष, कर्ण या कोना और मार्ग यदि गृह के मध्य या गृह के द्वार के मध्य में आए तो द्वारवेध कहलाता है। यह अच्छा नहीं माना जाता है किन्तु यदि घर की कुल भूमि से दुगुनी भूमि छोड़कर ये सब या इनमें से कोई एक हो तो द्वारवेध नहीं माना जाता है।*

वृक्षं च ध्वजच्छाया विचारं —

प्रथमान्त्यथामवर्जं द्वि त्रि प्रहरसम्भवा।
छाया वृक्षध्वजादीनां सदा दुःखप्रदायिनी॥ 94॥

यदि दिन में प्रथम और अन्तिम प्रहर छोड़कर दूसरे और तीसरे प्रहर में किसी रास्ते के वृक्ष अथवा देवालय की ध्वजा की छाया भवन पर पड़ती हो तो वह सदैव दुःखद समझना चाहिए।**

वर्जनीयदेवदृष्टिदीनां —

वर्जयेदर्हतः पृष्ठं दृष्टि चण्डीशसूर्ययोः।
वामाङ्गे वासुदेवस्य दक्षिणं ब्रह्मणः पुनः॥ 95॥

अपने भवन के द्वार के सम्मुख अर्हत या जिनदेव की पीठ, दुर्गा, महादेव और सूर्य की दृष्टि नहीं होनी चाहिए। विष्णु मन्दिर का बायाँ भाग और ब्रह्मा के मन्दिर का दाहिना भाग भी वर्जित है।卐

---

* मत्स्यपुराण में कहा गया है कि वेध की दूरी भवन की ऊँचाई से दुगुनी होनी चाहिए तब दोष नहीं लगता है— उच्छ्रायाद् द्विगुणां भूमिं त्यक्त्वा वेधो न जायते॥ (मत्स्य. 255, 14)
इन वेधों का फलाफल बृहत्संहिता में इस प्रकार दिया गया है हैं- रथ्याविद्धं द्वारं नाशाय कुमारदोषदं तरुणा। पङ्कद्वारे शोको व्ययोऽम्बुनिःस्रावि प्रोक्तः॥ कूपेनापस्मारो भवति विनाशश्च देवताविद्धे। स्तम्भेन स्त्रीदोषः कुलनाशो ब्राह्मणाभिमुखे॥ (बृहत्संहिता 53, 77-78)

**मत्स्यपुराण में वेधों के अन्य दोषों का फलाफल इस प्रकार बताया गया है- तरुणा द्वेषबाहुल्यं शोकः पङ्केन जायते। अपस्मारो भवेन्नूनं कूपवेधेन सर्वदा॥ व्यथा प्रस्रवणेन स्यात् कीलनाग्निभयं भवेत्। विनाशो देवताविद्धे स्तम्भेन स्त्रीकृतो भवेत्॥ गृहभर्तुर्विनाशः स्याद् गृहेण च गृहे कृते। अमेध्यावस्करैः विद्धे गृहिणी बन्धकी भवेत्॥ (मत्स्य. 255, 11-13)

卐 राजवल्लभवास्तुशास्त्रं में कहा गया है कि भवन के पास दूध, काँटे तथा अधिक फल वाले वृक्षों को नहीं लगाना चाहिए, लेकिन चम्पा, पाटल, केल, जई तथा केतकी का रोपण करना चाहिए। जिस भवन पर दिन के दूसरे तथा तीसरे पहर में वृक्ष या मन्दिर की छाया पड़ती हो, वह हितकारी नहीं है, लेकिन पहले व चौथे प्रहर में पड़ने वाली छाया दोषरहित है। ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य और महादेव के मन्दिर के सामने तथा जैन मन्दिर के पीछे भवन निर्माण नहीं करना चाहिए। जहाँ चण्डी की स्थापना हो, वहाँ आसपास भी गृह वर्जित है— वृक्षाः क्षीरसकण्टकाश्च फलिनस्त्याज्या गृहाद्दूरतः

अधुना गृहश्रीवृद्धिक्रमाह —

न दोषो यत्र वेधादिर्नवं यत्राखिलं दलम्।
बहूद्वाराणि नो यत्र यत्र धान्यस्य सञ्चयः॥ 96॥
पूज्यन्ते देवता यत्र यत्राभ्युत्थानमदरात्।
रक्ता यमनिका यत्र यत्र सम्मार्जनादिकम्॥ 97॥
यत्र ज्येष्ठकनिष्ठादि व्यवस्था सुप्रतिष्ठिता।
भावनीया विशन्त्यन्तर्मानवो यत्र नैव च॥ 98॥*(चतुर्भिः कलापकम्)*

जहाँ वेधादि दोष नहीं हो; जहाँ घर का सारा दल नया हो; जहाँ जाने-आने के मार्ग अधिक नहीं; जहाँ धान्य का संग्रह बहुत है; जहाँ देवताओं का पूजन होता हो, जहाँ अतिथियों सत्कार बहुत होता है; जहाँ शुद्धता-शुचिता हो, जहाँ छोटे-बड़े की मर्यादा का बराबर पालन किया जाता हो; जहाँ सूर्य की किरणें छप्पर में से अन्दर प्रवेश नहीं करती हों (वह लक्ष्मीकारक है)।

दीप्यते दीपको यत्र पालनं यत्र रोगिणाम्।
श्रान्तसंवाहना यत्र तत्र स्यात्कमला गृहे॥ 99॥

जहाँ भली प्रकार दीप प्रज्वलित कर प्रकाश किया जाता हो; जहाँ रुग्ण-रोगी लोगों की सम्यक् रूप से रक्षा-तिमारदारी होती हो और जहाँ थके हुए मनुष्य को विश्राम मिलता हो– वहाँ पर लक्ष्मी निवास करती है।

भवनवृद्धिर्हेतुमाह —

चन्दनादर्शहेमोक्ष व्यजनोसनवाजिनः।
शङ्खाज्यदधिताम्राणि मतानि गृहवृद्धये॥ 100॥

चन्दन, दर्पण, स्वर्ण, बेल, व्यञ्जन (चँवर, पङ्खे आदि) आसन, अश्वादि वाहन, शङ्ख, घृत, दही और ताम्र के पात्र– इतनी वस्तुएँ भवन की वृद्धि की हेतु हैं।

सत्कार विचारं —

दद्यात्सौम्यां दृशं वाचमभ्युत्थानमथासनम्।
शक्त्या भोजनाताम्बूलं शत्रावपि गृहागते॥ 101॥

अपने यहाँ कदाचित अपना वैरी आया तो भी उसे सौम्य दृष्टि से देखना चाहिए। मधुर शब्दों के साथ चर्चा करना, सम्मुख जाना, आसन प्रदान करना और यथाशक्ति भोजन करवाकर पान का बीड़ा खिलाना चाहिए।

शस्ते चम्पकपाटले च कदली जाती तथा केतकी। यामादूर्ध्वमशेषवृक्षसुरजाच्छाया न शस्ता गृहे पार्श्वे कस्य हरेरवीशपुरतो जैनानुचण्ड्याः क्वचित्॥ (राजवल्लभ. 1, 28)

वास्तुमण्डनं में आया है— न कुर्यादऽर्हतः पृष्ठे अग्रतः शिव-सूर्ययोः। पार्श्वयो ब्रह्म विद्वेषो गृहं चण्ड्या समं ततः॥ शिव-सूर्य-जिनादीनामन्तरेण शुभं गृहम्। (वास्तुमण्डनं 7, 49-50)

त्याज्य प्रातिवेश्मिकतामाह —

मूर्खाधार्मिकपाखण्डिपतितस्तेनरोगिणाम्।
कोधनान्त्यजदृप्तानां गुरुतल्पगवैरिणाम्॥ 122॥
स्वामिवञ्चकलुब्धानामृषिस्त्रीबालघातिनाम्।
इच्छन्नात्महितं धीमान् प्रातिवेश्मिकतां त्यजेत्॥ 103॥

स्व कल्याणकांक्षी को कभी मूर्ख, अधर्मी, पाखण्डी, महापाप से गिरा हुए, चोर-तस्कर, असाध्य रोगी, क्रोधी, चाण्डाल, अहङ्कारी, गुरु की स्त्री के साथ सम्भोग करने वाले, शत्रु, अपने स्वामी को ठगने वाले, लोभी सहित ऋषि, स्त्री और बालक की हत्या करने वाले के पड़ौस में कभी अपना निवास नहीं करना चाहिए।

एषां दूरत्वे नियमः

दुःख देवकुलासन्ने गृहे हानिश्चतुष्पथे।
धूर्तामात्यगृहाभ्याशे स्यातां सुतधनक्षयौ॥ 104॥

यदि अपना भवन देवालय के पास हो तो दुःख होता है; चौराहे के पास, चत्वर या हथाई के पास हो तो हानि होती है तथा धूर्त और मन्त्री के आवास के समीपस्थ हो तो पुत्र व धन का नुकसान होता है।*

गृहसमीपे शुभाशुभवृक्षाः —

खर्जूरी दाडिमी रम्भा कर्कन्धूबीजपूरिका।
उत्पद्यन्ते गृहे यत्र तन्निकृन्तति मूलतः॥ 105॥

जिस भवन में खजूर, दाड़िम, केला, बेर-करौंदा और बिजौरा नींबू उगे हुए हों, उस घर का समूल विनाश कहा जाता है।**

---

* सूत्रधार मण्डन का मत है कि गृह न तो देवालय, न धूर्तसेवित स्थान या चत्वरों के पास बनाना चाहिए। ऐसा होने पर दुःख व शोक की प्राप्ति होती है। नास्तिक, नृप, आमात्य, चोर, पाखण्ड से जीवन यापन करने वालों, चत्वरों-चौराहों, अन्त्यजों, धूर्तों के निवास के समीप कभी गृह नहीं बनाना चाहिए, ऐसा निर्माण दुखदायी होता है— न देव धूर्त्त सेवित् चत्वराणां समीपतः। कारयेद्भवनं प्राज्ञो दुःखशोक फलं यतः॥ सुरवैरि-नृपाऽमर्त्यचौरपाखण्डि यापिनः। चत्वरान्त्यजधूर्तानां समीपे दुःखदं गृहम्॥ (वास्तुमण्डनं 7, 47-48)

**यह श्लोक अपराजितपृच्छा में इस प्रकार आया है— खर्जूरी दाडिमी रम्भा कर्कन्धू बीजपूरिका। यस्मिन् गृहे प्ररोहन्ति तद् गृहं नैव वर्द्धते॥ (अपराजित. 51, 38)
यही अन्यत्र भी आया है—बदरी कदली चैव डाडिमी बीजपूरिका। प्ररोहन्ति गृहे यत्र तद् गृहं न प्ररोहति॥' (वृक्षायुर्वेद 29, समराङ्गण. 48, 131)
अपराजितपृच्छा में आया है कि बांसों के झुरमुट से पड़ने वाली छाया भवनों के लिए दुगुनी मध्य दूषिता कही गई है। पुन्नाग या सुपाड़ी के वृक्षों की छाया तिगुनी और दूध वाले वृक्षों की छाया चतुर्गुणी दूषिता है। अश्वत्थ वृक्ष की छाया वाली भूमि पाँच गुणी दूषित है। इसी तरह आँवले के पेड़ की छाया छह गुणी, पूर्ण वृक्ष की छाया वाली सात गुणी और शिवलिङ्ग की भवन पर पड़ने वाली

प्लक्षद्रोगोदयं विद्यादश्वत्थात्तु सदा भयम्।
नृपपीडा वटाद्गेहे नेत्रव्याधिमुदुम्बरात्॥ 106॥

यदि घर में प्लक्ष वृक्ष हो तो रोग होता है; पीपल हो तो सदा भय उत्पन्न करता है; बरगद हो तो राजा का उपद्रव होता है और गूलर हो तो नेत्रव्याधि होती है।

लक्ष्मीनाशकरः क्षीरी कण्टकी शत्रुभीप्रदः।
अपत्यघ्नः फली तस्मादेषां काष्ठमपि त्यजेत्॥ 107॥

खिरनी (दूध वाले पौधे, आक आदि) वृक्ष घर में हो तो लक्ष्मी का विनाश होता है। काँटे वाले वृक्ष हों तो शत्रु का भय पैदा करते हैं; फल वाला वृक्ष हो तो सन्तति का नाश होता है। अतएव ऐसे वृक्ष का काष्ठ भी काम में नहीं लेना चाहिए।

कश्चिदूचे पुरो भागे वटः श्लाघ्य उदुम्बरः।
दक्षिणे पश्चिमे भागेऽश्वत्थः प्लक्षस्तथोत्तरे॥ 108॥

इति वास्तुविचारः।

किसी का यह मत भी है कि भवन के आगे दक्षिण भाग में गूलर, पश्चिम भाग में पीपल और उत्तर भाग में प्लक्ष को अच्छा जानना चाहिए।*

अथ शिष्यावबोधक्रमः। विद्यारम्भार्थ वारविचारं —

भूमि आठ गुणी हानिकारक है। अस्तु, इन छाया से भयभीत रहते हुए ही, इन छायाओं को छोड़कर ही घर बनाएँ क्योंकि यह एक ध्रुव सत्य मानकर चलें कि वृक्षों की और देव मन्दिरों की छाया घरों पर नहीं पड़े। यही शुभप्रद है। ऐसे में छायाओं को त्यागकर ही घर बनाएँ। जिन वृक्षों, प्रासादों और गुल्मों से दोपहर में होने वाली छाया हवेलियों और घरों पर पड़ती है, वह अवश्य ही त्याज्य है परन्तु जो छाया उन घरों और हवेलियों से नीचे ही रह जाती है, वह निन्दित नहीं समझी जाती है— वेणुगुल्मलताच्छाया द्विगुणां मध्यदूषिता। त्रिगुणा पुन्नागवृक्षैः क्षीरवृक्षैश्चतुर्गुणा॥ पञ्चधाश्वत्थवृक्षैश्च षड्धा धात्री महीरुहैः। सप्तधा पूर्णवृक्षैश्च लिङ्गच्छाया तथाष्टधा॥ एताश्छायाः परित्यज्य वेश्म कुर्यादथाभयम्। वृक्षप्रासादयोश्छायां गृहे त्यक्ता शुभप्रदा॥ द्वयोः प्रहरयोश्छाया वृक्षप्रासादगुल्मजा। हर्म्यगृहे तथैवं स्यादधःस्तान्नैव निन्दिता॥ (अपराजित. 51, 30-33)

---

* जिस घर में आक, अशोक, अश्वत्थ, केतकी, बीजोरा (बीजपूरक, जम्बीर) के वृक्ष उगते हैं, उस घर में कभी भी वृद्धि, सम्पन्नता, सुख आदि नहीं बढ़ते। दाड़िम, हल्दी, श्वेता, गिरिकर्णिका आदि वृक्षों को अपनी भलाई चाहने वाले व्यक्ति कभी भी अपने गृह के द्वार के पास रोपण न करें। इसी तरह उग्रतम समझे जाने वाले वृक्ष, कड़वे वृक्ष, काँटों वाले वृक्ष, सुनहरे पुष्पों वाले, कनेर के वृक्ष भी घर के पास नहीं रोपण करे। बरगद, उदुम्बर, पलाश और सुपाड़ी के वृक्ष घरों के पास हों तो वे भी वर्जनीय है क्योंकि इनके रहते हवेली और घरों में सम्पन्नता की वृद्धि नही होती है— अका अशोका अश्वत्थाः केतकीबीजपूरकाः। यस्मिन् गृहे प्ररोहन्ति तद् गृहं नैव वर्द्धते॥ दाडिमं च हरिद्रां च श्वेतां च गिरिकर्णिकाम्। यदीच्छेदात्मनः श्रेयो गृहद्वारे न रोपयेत्॥ त्यक्त्वा चोग्रतमं वृक्षं कटुकं कण्टकान्वितम्। अपि सौवर्णिकान्वृक्षान् गृहाग्रये न रोपयेत्॥ न्यग्रोधोदुम्बरप्लक्षांस्तथा वै कार्मुकादिकान्। वर्जयेद् गृहमाश्रित्य हर्म्यवृद्धिर्न विद्यते॥ (अपराजित. 51, 34-37)

गुरुः सोमश्च सौम्यश्च श्रेष्ठऽनिष्टौ कुजासितौ।
विद्यारम्भे बुधैः प्रोक्तो मध्यमौ भृगुभास्करौ॥ 109॥

(अब शिष्य-बोधन के विषय में कहा जा रहा है) विद्यारम्भ कार्य में गुरुवार, सोमवार और बुधवार– ये तीन वार श्रेष्ठ हैं, शुक्रवार और रविवार मध्यम हैं तथा मङ्गलवार और शनिवार अधम जानने चाहिए।

विद्यारम्भमुहूर्त —

पूर्वात्रयं श्रुतिद्वन्द्वं विद्यादौ मूलमश्विनी।
हस्तः शतभिषक् स्वातिश्चित्रा च मृगपञ्चकम्॥ 110॥

विद्यारम्भ के लिए पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपद, श्रवण, धनिष्ठा, मूल, हस्त, शतभिषा, स्वाती, चित्रा, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य और आश्लेषा नक्षत्र प्रशस्त कहे गए हैं।*

कलाचार्य-शिक्षकलक्षणं —

अक्रुद्धः शास्त्रमर्मज्ञोऽनालस्यो व्यसनोज्झितः।
हस्तसिद्धस्तथा वाग्मी कलाचार्यो मतः सताम्॥ 111॥

क्रोधरहित, शास्त्र का मर्मज्ञ, आलस्य और दुर्व्यसनों से दूर, हस्त लाघव में प्रसिद्धनामा और युक्ति से वचन बोलने वाला कलाचार्य सत्पुरुषों का मान्य है।**

पितृभ्यामीदृशस्यैव कलाचार्यस्य बालकः।
वत्सरात्पञ्चमादूर्ध्वमर्पणीयः कृतोत्सवम्॥ 112॥

बच्चे को जब पाँचवाँ वर्ष लगे तब माता-पिता को चाहिए कि वे उत्सव आयोजित कर के उपर्युक्त गुण वाले कलाचार्य के हाथ में शिक्षणार्थ सौंपे।

दुष्टचित्तगुरोर्न —

इष्टानामप्यपत्यानां वरं भवतु मूर्खता।
नास्तिकादुष्टचित्ताच्च विद्या विद्यागुरोर्न तु॥ 113॥

अपना प्रिय पुत्र भले ही मूर्ख रह जाएँ तो अच्छा है किन्तु उसे नास्तिक और

---

* आचार्य श्रीपति का मत है कि हस्तादि तीन नक्षत्र, रेवती, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, मूल, आश्लेषा, पूर्वाषाढ़ा, श्रवण, अश्विनी, जन्म से पाँचवाँ वर्ष देखकर विद्यारंभ करवाने का निर्देश गर्गादि मुनियों ने किया है— हस्तात्रयं पञ्चकमिन्दुधिष्ण्यान्मूलंत्रि पूर्वा श्रवणेश्विताषु। शिशोस्तथाबाण मिते च वर्षे विद्यासमरम्भमुशन्ति गर्गाः॥ (रत्नमाला 4, 38)

**कलाविद् के लिए कहा गया है कि वह प्रवीण, स्फुर्तिवान, परिश्रमी, दीर्घदर्शी एवं शूर व्यक्ति होना चाहिए— वास्तुविद्याविधानज्ञो लघुहस्तो जितश्रमः। दीर्घदर्शी च शूरश्च स्थपति परिकीर्तितः॥ (मत्स्य. 215, 40, विष्णुधर्मोत्तर 2, 24, 39)

दुष्टचित्त वाले गुरु के पास विद्या ग्रहण के लिए भेजना उचित नहीं है।*

विद्ययापि तया किं नु या नास्तिक्यादिदूषिता।
स्वर्णेनापि हि किं तेन कर्णच्छेदो भवेद्यतः॥ 114॥

ऐसी विद्या से क्या प्रयोजन है जो कि नास्तिकत्व से भरी हुई हो, ऐसा स्वर्ण किस कार्य का है जिसके धारण करने से कान कट जाए।

आचार्यो मधुरैर्वाक्यैः साभिप्रायविलोकनैः।
शिष्यं शिक्षेत निर्लज्जं न कुर्याद्बन्धताडनैः॥ 115॥

गुरु को सदैव मीठे वचनों से उसके मन का अभिप्राय प्रकट करने वाली दृष्टि से शिष्य को शिक्षण-प्रशिक्षण प्रदान करना चाहिए किन्तु निरन्तर बन्धन और प्रताड़ना कर के साथ उसे अपमानित नहीं करना चाहिए।

मस्तके हृदये वापि प्राज्ञश्छात्रं न ताडयेत्।
अधोभागे शरीरस्य पुनः किञ्चन शिक्षयेत्॥ 116॥

सुज्ञ गुरु को शिष्य के मस्तक या हृदय पर प्रहार नहीं करना चाहिए अपितु कोई अवसर हो जाए तो शरीर के अधोभाग पर अल्प शिक्षा (ताड़ना) दी जा सकती है।

सुशिष्यलक्षणं —

कृतज्ञाः शुचयः प्राज्ञाः कल्पा द्रोहविवर्जिताः।
गुरुभिस्त्यक्तशाठ्याश्च पाठयाः शिष्या विवेकिभिः॥ 117॥

ऐसे शिष्य जो कृतज्ञ हों, पवित्र, बुद्धिशाली, अभ्यास करने में समर्थ और मत्सर एवं कपट रहित हों, उनको गुरु को बोधन देना चाहिए।

मधुराहारिणी प्रायो ब्रह्मव्रतविधायिना।
दयादानादिशीलेन कौतुकालोकवर्जिना॥ 118॥
कपर्दप्रमुणक्रीडा विनोदपरिहारिणा।
विनीतेन च शिष्येण पठता भाव्यमन्वहम्॥ 119॥

गुरु की सन्निधि में अध्ययनरत शिष्य को मधुराहारी होना चाहिए। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला, दया, दानादि की प्रवृत्ति रखना, कौतुक-क्रीड़ादि नहीं देखना, कौड़ी (वराटिक, कपर्द) आदि के अनुरञ्जनकारी खेल नहीं खेलना, अति विनोद-परिहास नहीं करना और गुरु के प्रति निरन्तर विनयशील रहना—ये गुण शिष्य में होने चाहिए।

---

* गुरुगीता में आया है— ज्ञानहीनो गुरुस्त्याज्यो मिथ्यावादी विडम्बकः। स्वविश्रान्तिं न जानाति परशान्ति करोति किम्॥ (गुरुगीता 198 एवं सिद्धान्तसंग्रह 5, 38)

गुरुष्वविनयो धर्मे विद्वेषः स्वगुणैर्मदः।
गुणिषु द्वेष इत्येताः कालकूटच्छटाः स्मृताः॥ 120॥

गुरु के प्रति अविनय, धर्म पर द्वेष, अपने गुणों का अभिमान और गुणीजनों से निरन्तर द्वेष– ये बाते कालकूट (तम्बाकू, विष) के छींटे समान समझनी चाहिए।

कलाचार्यस्य चाजस्रं पाठको हितमाचरेत्।
निःशेषमपि चामुष्मै लब्धं लब्धं निवेदयेत्॥ 121॥

शिष्य को अपने शिक्षक, कलाचार्य का निरन्तर हित साधन करना चाहिए और अपने को जो वस्तुएँ, उपहारादि मिलें वे सब कलाचार्य को प्रदान करनी चाहिए।

गुरोः सनगरग्रामां ददाति यदि मेदिनीम्।
तथापि न भवत्येव कदाचिदनृणः पुमान्॥ 122॥

शिष्य कदाचित् अपने गुरु को यदि ग्राम, नगर सहित भूमि प्रदान भी करे तो भी वह गुरु के ऋण से उऋण नहीं होता।

उपाध्यायमुपासीत मदनुद्धतवेषभृत्।
विना पूज्यपदं पूज्यनाम नैव सुधीर्वदेत्॥ 123॥

प्राज्ञ शिष्य को कभी दिखावे के तौर पर उत्कृष्ट पोशाक पहनकर उपाध्याय की सेवा नहीं करनी चाहिए। अपने पूजनीय गुरु का 'पूज्य' पद छोड़कर मूल नाम से परिचय नहीं देना चाहिए बल्कि 'पूज्यपाद' (अनन्तविभूषित, विशेषणजयी गुरुदेव) इत्यादि पूर्वक गुरु का नामोच्चार करना चाहिए।

उक्तं च —

'आत्मनश्च' गुरोश्चैव भार्यायाः कृपणस्य च।
क्षीयते वित्तमायुश्च मूलनामानुकीर्तनात्॥ 124॥

कहा भी गया है कि पुरुष को अपना, अपने गुरु का, अपनी स्त्री का और कृपण का मूल नाम नहीं लेना चाहिए* क्योंकि इससे धन और आयु क्षीण होते हैं।

अथानाध्यायकालं कथ्यते —

चतुर्दशीकुहूराकाष्टमीषु न पठेन्नरः।
मृतकेऽपि तथा राहुग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः॥ 125॥

---

* शिष्य को कभी परोक्ष में भी गुरु का नामोच्चार नहीं करना चाहिए न ही गुरु के चलने, बोलने, चेष्टा, हावभाव आदि की नकल करे— नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम्। न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम्॥ (मनु. 2, 199; तुलनीय भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व 4, 170)

सामान्यतया चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा, अष्टमी, मृत्यु के कारण लगे सूतक और चन्द्र-सूर्य के ग्रहण के समय अध्ययन नहीं करना चाहिए।

तथोल्कापातनिर्घात भूमि कम्पेषु गर्जिते।
पञ्चत्वं च प्रयातानां बन्धूना प्रेतकर्मणि॥ 126॥
अकालविद्युति भ्रेष्टं मलिनामध्यसंनिधौ।
श्मशाने शपगन्धे वा नाधीतात्मनि चाशुचौ॥ 127॥

इसी प्रकार उल्कापात होने पर, अँधड़, प्रभञ्जन चलने पर, भूकम्प, मेघ गर्जन, अपने सम्बन्धियों में किसी कीं मृत्यु के प्रेतकर्म चलते हों तब, असमय (आर्द्रा नक्षत्र से पूर्व और हस्त नक्षत्र के बाद) बिजली चमकती हों, आचार भ्रष्ट, मलिन और अपवित्र लोगों के पास, श्मशान में जहाँ कि चिता की दुर्गन्ध उठती हों और जब अपना शरीर अपवित्र हो तब अध्ययन नहीं करना चाहिए।*

अथाध्ययनविधिं —

नात्युच्चैर्नातिनीचैश्च नानेकाग्रमनास्तथा।
न विच्छिन्नपदं चैव नास्पष्टं पाठकः पठेत्॥ 128॥

छात्र को कभी बहुत शोर करते हुए, बहुत धीरे, एकाग्रता भङ्गकर, पद-परिच्छेद बीच में टूट जाए और अस्पष्ट उच्चारणपूर्वक अध्ययन नहीं करना चाहिए।

धन्यानन्यविद्यार्थीलक्षणं —

शास्त्रानुरक्तिरारोग्यं विनयोद्यमबुद्धयः।
आन्तराः पञ्च विज्ञेया धन्यानां पाठहेतवः॥ 129॥

पठन-पाठन के पाँच अन्तरङ्ग कारण हैं— 1. शास्त्र-विषय पर पूर्ण अनुराग, 2. निरोगता, 3. विनयभाव, 4. उद्यमशीलता और 5. बुद्धिमता। इनका सुयोग जिनको

---

* आचार्य गर्ग का मत है कि उत्तरायण, उत्तर बल, गुरु-सूर्य-चन्द्र के बलशाली होने पर यज्ञोपवीत की भाँति अनध्याय, प्रदोषादि का चिन्तनकर ज्ञान मार्गारूढ होना चाहिए— सौम्यायने सौम्यबले गुरुसूर्येन्दुसद्बले। अनध्यायप्रदोषाद्यं चिन्तयेद्व्रतबन्धवत्॥ (बृहद्दैवज्ञरञ्जनम् 68, 7 पर उद्धृत) परम्परानुसार सभी महीनों में 14, 15, 30 व प्रतिपदा; अष्टकाओं में; सङ्क्रान्ति; चैत्र एवं वैशाख के शुक्लपक्ष की तृतीया, ज्येष्ठ के शुक्लपक्ष की द्वितीया, माघ में शुक्ल पक्ष की द्वादशी और फाल्गुन में कृष्ण पक्ष की द्वितीया को अनध्याय की तिथियाँ कहा गया है। (इनमें उपनयन नहीं होता है)। इसी प्रकार उत्पात (दिव्य, अन्तरिक्ष एवं भौम) होने पर भी अध्ययन, व्रतबन्ध नहीं करना चाहिए। यदि बटुक की माता गर्भिणी हो तो भी निषिद्ध जानना चाहिए। इसी प्रकार शनिवार, रिक्तातिथि (4, 9, 14), सप्तमी, त्रयोदशी और प्रदोषकाल भी नेष्ट हैं। इसके अतिरिक्त जिस दिन अनध्याय हो, उसके पूर्व-पर एक-एक दिवस, षष्ठी, मङ्गलवार भी त्याज्य कहे गए हैं किन्तु यदि चैत्र मास में मीन का सूर्य हो जाए तो प्रशस्त जानना चाहिए—भूतात्तिस्त्रोष्टमी सङ्क्रम मधुयुगल प्राक्तृतीयाद्वितीया ज्येष्ठेमाघेच्युतोन्त्यासितकतिथिरनध्याय औत्पातिकश्च। गुर्विण्यम्बार्किरिक्तेमदनरवितिथी, सप्रदोषा च नेष्टान्येनध्यायादुभौ षष्ठ्यसृगथ झषगोर्कोत्रचैत्रेऽति शस्तः॥ (मुहूर्ततत्त्वं 6,14)

मिलता हो वे विद्यार्थी धन्य हैं।

सहाया भोजनं वास आचार्यः पुस्तकं तथा।
अमी बाह्या अपि ज्ञेयाः पञ्च पाण्डित्यहेतवः॥ 130॥

इसी प्रकार सामूहिक अध्ययन करने वाले, भोजन, वस्त्र, गुरु और पुस्तक– ये पढ़ने के पाँच बाह्य कारण कहे गए हैं।

इत्यमनन्तर अध्ययनयोग्यभाषायां —

संस्कृते प्राकृते चैव शौरसेने च मागधे।
पैशाचकेऽपभ्रंशे च लक्ष्यं लक्षणमादरात्॥ 131॥

(भाषा विज्ञान के) विद्यार्थी को 1. संस्कृत, 2. प्राकृत, 3. शौरसेनी, 4. मागधी, 5. पैशाची और 6. अपभ्रंश– इन छह भाषाओं के लक्षणों को जानना चाहिए।

शास्त्राभ्यासेन किं न करिष्यति —

कवित्वहेतुः साहित्यं तर्को वक्तृत्वकारणम्।
बुद्धिवृद्धिकरी नीतिस्तस्मादभ्यस्यते बुधैः॥ 132॥

विद्यार्थी अपने अध्ययन से क्या नहीं कर सकते? वह साहित्यशास्त्र के अभ्यास से काव्य रचना कर सकते हैं; तर्कशास्त्र के अभ्यास से अच्छा वक्ता होता है; नीतिशास्त्र के अभास से बुद्धि का विकास होता है। एतदर्थ सुज्ञपुरुषों के शास्त्रों का अच्छा अभ्यास करना चाहिए।

गणितशास्त्रानुस्मरणं —

पाटी-गोलक-चक्राणां तथैव ग्रह-बीजयोः।
गणितं सर्वशास्त्रोघ वयापकं पठ्यतां सदा॥ 133॥

(गणित के विद्यार्थियों को) पाटीगणित, गोलगणित, चक्रगणित, ग्रहगणित, और बीजगणित– सर्वशास्त्रमयी इन पाँच गणितों का निरन्तर पठन होना चाहिए।*

धर्मशास्त्रवचनप्रशंसाह —

---

* तत्कालीन ऐसे गणितीय ग्रन्थों में वराहमिहिर कृत पञ्चसिद्धान्तिका, आर्यभट कृत आर्यभटीय, जैन ग्रन्थों में सूरियपन्नति, समवायाङ्ग, तिलोयपण्णत्ति, मयकृत सूर्यसिद्धान्त (पूर्वा-पर), लल्लाचार्यकृत पाटीगणित, शिष्यधीवृद्धिदम्, श्रीपति कृत पाटीगणित, सिद्धान्तशेखर, धीकोटिदकरण, ब्रह्मगुप्तकृत ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त, खण्डखाद्य, भास्कराचार्यकृत सिद्धान्तशिरोमणि और उसके चार भाग लीलावती, बीजगणित, ग्रहगणिताध्याय व गोलाध्याय, करणकुतूहल, करणकेसरी, ग्रहगणित, बीजोपयन, ज्ञानभास्कर, सूर्यसिद्धान्तव्याख्या, भास्करदीक्षितीय, भोजदेवकृत राजमृगाङ्क और नारदपुराण के पूर्वभाग का गणिताध्याय इत्यादि प्रमुख रूप से व्यवहृत रहे हैं।

धर्मशास्त्रश्रुतौ शश्वल्लालसं यस्य मानसम्।
परमार्थं स एवेह सम्यग्जानाति नापरः॥ 134॥

जिस पुरुष का हृदय निरन्तर धर्मशास्त्रीय वचनों को सुनने की आकांक्षा रखता हो, वही परमार्थ के पथ को अच्छी तरह जान सकता है, अन्य कोई नहीं।

ज्योतिषश्शास्त्रस्वरूपमाह —

ज्योतिःशास्त्रं समीक्ष्यं च त्रिस्कन्धं विहितादरः।
गणितं संहिता होरेत्येतत्स्कन्धत्रयं विदुः॥ 135॥

ज्योतिष शास्त्र का भी आदरपूर्वक अभ्यास करना चाहिए। उसके गणित, संहिता और होरा– ये तीन स्कन्ध जिसके कहे जाते हैं।*

अथायुर्वेदविषयाः

प्रकृतिं भेषजं व्याधिं सात्म्य देहं बलं वयः।
कालं देशं तथा वह्निं विभवं प्रतिचारकम्॥ 136॥
विजानन् सर्वदा सम्यक् फलदं लोकयोर्द्वयोः।
अभ्यसेद्वैद्यकं धीमान् यशोधर्मार्थसिद्धये॥ 137॥

सामान्यतया रोग की प्रकृति, औषध, व्याधि, सात्म्य, शरीरबल, आयु, काल, देश, जठराग्नि, वैभव और प्रतिचारक– इतनी बातों को बराबर जानकर बुद्धिमान् पुरुष को इस लोक ही नहीं परलोक में भी उत्तम फल देने वाले वैद्यकशास्त्र का यश, धर्म और धन के लाभ के लिए निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।

वैद्यकशास्त्राङ्गमाह —

कायबालग्रहोद्ध्वाङ्ग शल्यदंष्ट्रा जराविषैः।
एतैरष्टभिरङ्गैश्च वैद्यकं ख्यातमष्टधा॥ 138॥

आयुर्वेद के आठ अङ्ग प्रसिद्ध हैं– 1. काय चिकित्सा, 2. बालचिकित्सा, 3. भूतचिकित्सा, 4 ऊर्ध्वाङ्गचिकित्सा, 5. शल्यचिकित्सा, 6. विषचिकित्सा, 7. रसायन और 8. वाजीकरण।**

जठरस्यानलः कायो बालो बालचिकित्सितम्।
ग्रहो भूतादिवित्रास ऊर्ध्वाङ्गमूर्ध्ववशोधनम्॥ 139॥

---

* नारदसंहिता में आया है—सिद्धान्तसंहिताहोरारूपं स्कन्धत्रयात्मकम्। वेदस्य निर्मलं चक्षुर्ज्योतिः-शास्त्रमनूत्तमम्॥ (नारद. 1, 4)

**अङ्गाष्टङ्ग हारीत ने इस प्रकार बताए हैं— शल्यं शालाक्यमगदं कुमारभरणं तथा। कायभूतक्रिया वाजीकरणं च रसायनम्॥ नाराचकाष्ठवल्लीभिः शक्तिकुन्तैश्च तोमरैः। खड्गैर्विभिन्नगात्रस्य तत्र स्याद्यदि शल्यकम्॥ तस्य प्रतीकारकर्म यत्तत् शल्यचिकित्सितम्॥ (वीरमित्रोदय लक्षणप्रकाश पृष्ठ 212)

शल्यं लोहादि दंष्ट्राहेर्जरापि च रसायनम्।
वृषःपोषः शरीरस्य व्याख्याष्टाङ्गस्य लेशतः॥ 140॥

काय अर्थात् जठराग्नि के विकार से होने वाले रोगों का निवारण कायचिकित्सा है। बालक को होने वाले रोग का निवारण बालचिकित्सा है। भूतपिशाचादिकों के उपद्रवों का निवारण भूतचिकित्सा है। ग्रीवा से ऊपर मुँह, नासिका, कर्ण, नेत्र, सिर आदि के रोगों का उपाय करना ऊर्ध्वाङ्गचिकित्सा है। शल्य या चीरफाड़ से रोगोपचार करना शल्यचिकित्सा है। वृद्धावस्था को रोकने और युवावस्था को अक्षुण्ण रखने के उपाय रसायन कहे जाते हैं जबकि अधिक काल तक स्त्रीसङ्गादि हो सके, ऐसा उपाय वाजीकरण कहा जाता है। ऐसे आयुर्वेद के आठों ही अङ्गों की विवेचना होती है।*

चित्रकर्माश्वगजादीनां —

चित्राक्षरकलाभ्यासो लक्षणं च गजाश्वयोः।
गवादीनां च विज्ञेयं विद्वद्गोष्ठीं विविक्षुणा॥ 141॥

विद्वानों की सर्वकला विशारद होने के लिए चित्रकला और लेखनकला का अवश्य अभ्यास करना चाहिए। अश्व, गज और गाय-बैल आदि के लक्षणों को और विद्वज्जनगोष्ठी भी जानना चाहिए।**

सामुद्रिकस्य रत्नस्य स्वप्नस्य शकुनस्य च।
मेघमालोपदेशस्यः सर्वाङ्गस्फुरणस्य च॥ 142॥
तथैव चाङ्गविद्यायाः शास्त्राणि निखिलान्यपि।
ज्ञातव्यानि बुधैः सम्यग् वाञ्छद्भिः कीर्तिमात्मनः॥ 143॥

अपनी कीर्ति की कामना करने वाले सुज्ञपुरुषों को सामुद्रिकशास्त्र,

---

* भूलोकमल्लसोमेश्वर ने कहा है कि जो परम्परा से पारङ्गत हो, सम्यक् रूप से अष्टाङ्ग चिकित्साविद् हो, शस्त्रकर्म की कला में दक्ष और मन्त्र-तन्त्रादि का जानकार हो, देह, शिरोरोग, कौमारभृत्य, विष विद्या, शल्यक्रिया, ग्रह विद्या, वृष, रसायन विद्या इन आठ विधियों में कुशल हो, रोगों के नाम, उनके निदान, बीमारियों को जो तत्त्वतः जानता हो, औषधियों की पहचान, नामादि को जानता है, वह वैद्यों में वरेण्य है—परम्पारङ्गताः सम्यगष्टाङ्गे तु चिकित्सिते। शस्त्रकर्मकलादक्षा मन्त्रे तन्त्रे च कोविदाः॥ देहे शिरसि वाले तु विषे शल्ये ग्रहेऽपि च। वृषे रसायने चैव कुशला भिषजोऽष्टसु॥ रोगनामनिदानं तु रुजं जानन्ति तत्त्वतः। औषध रूप-नामभ्यां जानन्तो भिषजो वराः॥ (मानसोल्लास 1, 2, 140-144)

**चित्रकला के अभ्यास के लिए आचार्य नग्नजित् कृत विश्वकर्मीय चित्रलक्षणम्, सारस्वतचित्रशास्त्रम्, विष्णुधर्मोत्तरपुराणोक्त चित्रसूत्रम्, शिल्परत्नम्, समराङ्गणसूत्रधार, मानसोल्लास, अपराजितपृच्छा आदि ग्रन्थों को देखना चाहिए। मानसोल्लास, वशिष्ठस्मृति, अग्निपुराण आदि में लेखक के गुणादि पर विवरण मिलता है। अश्व,गज, गौ-वृषभादि के लक्षणों का वर्णन बृहत्संहिता, गरुडपुराण सहित नकुल के शालिहोत्रशास्त्रं, पालकाप्य के गजशास्त्रं, गवायुर्वेद, गजायुर्वेद आदि में हुआ है। विद्वज्जनगोष्ठियों का अच्छा वर्णन मानसोल्लास में आया है।

रत्नपरीक्षाशास्त्र, स्वप्नशास्त्र, शकुनशास्त्र, मेघमालादि वृष्टिशास्त्र, अंगस्फुरणशास्त्र और अङ्गविद्या आदि का पूर्ण ज्ञान अवश्य करना चाहिए।*

स्मरकलाज्ञानार्थं वात्स्यायन च नाट्यार्थं भरतागमादीनां शास्त्रं —

शास्त्रं वात्स्यायनं ज्ञेयं न प्रकाश्यं यतस्ततः।
ज्ञेयं भरतशास्त्रं च नाचर्यं धीमता पुनः॥ 144॥

बुद्धिशाली पुरुष को वात्स्यायन रचित कामशास्त्र का ज्ञान लेना चाहिए परन्तु इसका यत्र-तत्र प्रचार नहीं करना चाहिए। नाट्यविद्या के लिए भरताचार्य प्रणीत नाट्यशास्त्र को अवश्य जानना चाहिए परन्तु स्वयं नाटक नहीं करना चाहिए।

गुरुमन्त्रग्रहणविधिं —

गुरोरतिशयं ज्ञात्वा पिण्डशुद्धि तथात्मनः।
क्रूरमन्त्रान्परित्यज्य ग्राह्यो मन्त्रक्रमो हितः॥ 145॥

विवेकी पुरुष को सदा गुरु का अतिशय कैसा है और अपने शरीर की शुद्धि कैसी है– इन दो बातों पर विचारकर गुरु से हितकारी मन्त्र ग्रहण करने चाहिए परन्तु क्रूरकर्म (मारण, मोहन, उच्चाटन, विद्वेषण, वशीकरण, आकर्षणादि कालाजादू) के मन्त्रों सर्वथा त्याग करना चाहिए।

*अथ विषविद्याविचारमाह** —*

सत्यामपि विषाज्ञायां न भक्ष्यं स्थावरं विषम्।
पाणिभ्यां पन्नगादींश्च स्पृशेन्नैव जिजीविषुः॥ 146॥

जीवन की आकांक्षा करने वाले पुरुषों को विष की आज्ञा होने पर भी कभी

---

* सामुद्रिकशास्त्र के लिए समुद्रप्रोक्त शास्त्र, भोजराजीय सामुद्रिक, हस्तसञ्जीवन, हस्तलक्षण, करलक्खण, बृहत्संहिता आदि का अध्ययन करना चाहिए। रत्नशास्त्र के रूप में अगस्तिमत, अगस्त्यरत्नपरीक्षा, बुधगुप्तकृत रत्नपरीक्षा, ईश्वरदीक्षित कृत रत्नपरीक्षा, ठक्कुरफेरू कृत रयणपरीक्खा, गरुडपुराण, स्वप्न, शकुन व अङ्गस्फुरण शास्त्र के रूप में वसन्तराजशाकुनम्,अक्षरचिन्तामणि, कष्टावलीचक्रम, कालचक्रम्, केरलीयप्रश्नम्, खञ्जनदर्शनफलम्, गृहगोधिकाविचार, पञ्चपक्षीप्रश्न, पञ्चपक्षीटिप्पण, पञ्चपक्षीनिदर्शनम्, पञ्चसार, पल्लिकादि विचार, पवनविजयम्, शकुनप्रदीप, प्रश्नविद्या, रघुवंश शकुनावली, बसन्तराजसारोद्धार, शकुनदिशाफलम्, शकुनप्रदीपचूडामणि, शकुन शास्त्रम्, शकुनसार, शकुनावली, शतसंवत्सरिः, शुभाशुभफलचक्रम्, स्वप्नचिन्तामणि, स्वरपञ्चाशिका, स्वप्नाध्यायः, समरसार आदि का अध्ययन करना चाहिए। वृष्टिविज्ञान के लिए गुरुसंहिता, गार्गिसंहिता, मयूरचित्रम्, मेघमाला, बृहत्संहिता, घाघभड्डरी की कहावतें, डाकवचनिका, मेघप्रबोध आदि का अवलोकन करना चाहिए। इसी प्रकार अङ्गविद्या के लिए प्राचीन अङ्गविज्जा, बृहत्संहितोक्त अङ्गविद्याध्याय इत्यादि बहुत उपयोगी हैं।

**यह सर्पविद्या विषयक वर्णन तत्कालीन विषविद्या का द्योतक है। नाग से व्यक्ति सदा ही भयग्रस्त रहा है। महाभारत में गरुडाख्यान आया है और गरुडपुराण में गारुडविद्या का यत्र-तत्र वर्णन हुआ है। अगस्त्यसंहिता में भी सर्पविष निवारणोपाय मिलता है।

स्थावर विष भक्षण नहीं करना चाहिए और जङ्गम विष को धारण करने वाले सर्पादि को भी हाथ से स्पर्श नहीं करना चाहिए।

जाङ्गुल्याः कुरुकुल्लायास्तोत्तलाया गरुत्मतः।
विषार्त्तस्य जनस्यास्य कः परित्रायकः परः॥ 147॥

जहर से पीड़ित मनुष्य की रक्षा जाङ्गुली, कुरुकुल्ला, तोतला और गरुड़ के अतिरिक्त कौन कर सकता है? कोई नहीं।

किमर्थं सर्पदंशकरोति —

आदिष्टाः कोपिता मत्ताः क्षुधिताः पूर्ववैरिणः।
दन्दशूका दशन्त्यन्यान् प्राणिनस्त्राणवर्जितान्॥ 148॥

सामान्यतया सर्प-नाग किसी के आदेश से, क्रुद्ध होने से, मदोन्मत्त होने से, भूख से और पूर्वजन्म के वैर से और पालतू होने पर अपनी बराबर देखभाल न करने वाले दूसरे प्राणियों को काट लेते हैं।

विषनिवारकप्रशंसाह—

ते देवा देवतास्ताश्च मन्त्रास्ते मन्त्रपाठकाः।
अगदा अपि ते धन्या यैस्त्राणं प्राणिनां विषात्॥ 149॥

अतएव वह देव, वह देवता, वह मन्त्र, वे मान्त्रिक और वे औषधियाँ उत्तम समझनी चाहिए कि जो जीवों को विष से बचा सकती हैं।

विषार्तस्याङ्गिनः पूर्वं विमृश्यं काललक्षणम्।
अपरं तज्जीवितव्यचिह्नं तदनु मन्त्रिणः॥ 150॥

विष से पीड़ित मनुष्य का काल-लक्षण (जिस समय विष चढ़ा उस समय कैसा था वह) प्रथमतया देखना चाहिए। इसके बाद जीवन के लक्षण देखें और फिर गारुड़ी विद्या के जानकारों, मान्त्रिकों को बुलाना चाहिए।

वारस्तिथिर्भदिग्दंशा दूतो मर्माणि दष्टकः।
स्थानं हंसप्रचाराद्याः कलाः कालनिवेदकाः॥ 151॥

वार, तिथि, नक्षत्र, दिशा, दंश, दूत (वैद्य अथवा मान्त्रिक को बुलाने जाने वाला), मर्मस्थान, विष से पीड़ित मनुष्य और हंसप्रचार—ये बातें काल के लक्षण बताने वाली हैं।

अथ वारविचारः

भौमभास्करमन्दानां दिने सन्ध्याद्वयेऽपि च।
सङ्क्रान्तिकाले दष्टश्च सङ्क्रीडति सुरस्त्रिया॥ 152॥

यदि मङ्गलवार, रविवार और शनिवार के प्रभात समय, सन्ध्या को या सूर्य

संक्रान्ति के अवसर पर जिनको सर्पदंश हो जाए वह वह मृत्यु के बाद देवाङ्गनाओं के साथ क्रीड़ा करता है।

अथ तिथिविचारः

पञ्चमीषष्ठिकाष्टम्यो नवमी च चतुर्दशी।
अमावास्यापयवश्यं स्याद्दष्टानां मृतिहेतवे॥ 153॥

यदि पञ्चमी, षष्ठी, अष्टमी, नवमी, चतुर्दशी और अमावस्या– इनमें किसी भी तिथि को सर्पदंश हो तो वह व्यक्ति अवश्य मर जाता है।

अथ राशिविचारः

मीनचापद्वये कुम्भवृषयोः कर्कटाजयोः।
कन्यामिथुनयोः सिंहालिनोर्मृगतुलाख्ययोः॥ 154॥
एकान्तरा द्वितीयाद्या दग्धाः स्युस्तिथयः क्रमात्।
एतद्योगयुते चन्द्रे दष्टानां जीवसंशयः॥ 155॥

यदि मीन या धनु राशिगत चन्द्र हो तो द्वितीया तिथि; कुम्भ या वृषभ राशि में हो तो चतुर्थी; कर्क या मेष राशि में हो तो षष्ठी; कन्या या मिथुन राशि में हो तो अष्टमी, सिंह या वृश्चिक राशि में हो तो दशमी और मकर या तुला राशि में सर्पदंश हो तो द्वादशी तिथि दग्ध कही जाती है। इस प्रकार से चन्द्रयोग से दग्ध हुई तिथि के दिन जिसे सर्पदंश हो तो वह जीवित रहेगा अथवा नहीं, इस बात का सन्देह कहना चाहिए।

अथ नक्षत्र विचारः

मूलाश्लेषा मघा पूर्वात्रयं भरणिकाश्विनी।
कृत्तिकार्द्रा विशाखा च रोहिणी दष्टमृत्युदा॥ 156॥

मूल, अश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपदा, भरणी, अश्विनी, कृत्तिका, आर्द्रा, विशाखा और रोहिणी– इनमें से किसी भी नक्षत्र में जिसे सर्पदंश हो उसकी मृत्यु होती है।*

अथ दिग्विचारः

नैर्ऋत्याग्नेयका याम्या दिशस्तिस्त्रो विहाय च।
अन्यदिग्भ्यः समायातैर्दष्टो जीवत्यसंशयम्॥ 157॥

नैर्ऋत्य, आग्नेय और दक्षिण दिशा को छोड़कर किसी अन्य दिशा से आए

---

* गरुडपुराण में आया है कि षष्ठी तिथि में, कर्क एवं मेष राशिगत नक्षत्रों, मूल, आश्लेषा, मघा आदि क्रूर नक्षत्रों में सर्पदंश होने से प्राणी का जीवन समाप्त हो जाता है— षष्ठ्याञ्च कर्कटे मेषे मूलाश्लेषामघादिषु। कक्षाश्रोणिगले सन्धौ शङ्खकर्णोदरादिषु॥ दण्डी शस्त्रधरो भिक्षुर्नग्नादिः कालदूतकः। वक्त्रे बाहौ च ग्रीवायां पृष्ठे च न हि जीवति॥ (गरुड. पूर्व. 19, 3-4)

हुए सर्पादि जिसको काट लें, वह मनुष्य जीवित रहे इसमें संशय नहीं है।

अथ दंशविचार:

सपयःशोणिता दंशाश्चत्वारो युगपद्यदि।
एको वा शोफवान् सूक्ष्मो दंश आवर्तसन्निभः॥ 158॥
दंशः काकपदाकारो, रक्तवाही सगर्तकः।
त्रिरेखः श्यामलः शुष्कः प्राणसंहारकारकः॥ 159॥

काटे हुए स्थान से यदि जल और रक्त पृथक्-पृथक् गिरते हों ऐसे चार दंश साथ हुए हों; एक ही दंश सूजन वाला, जल के भ्रमर जैसा और पतला, कौवे के पाँव जैसे आकार वाला, रक्त झरता हुआ और खड्डेवाला अथवा तीन रेखाओं वाला, काला और सूखा हुआ हो तो वह व्यक्ति अवश्य प्राण त्याग करता है।

सञ्चरत्कीटिकास्पृष्ट इव वेधी च दाहकृत्।
कण्डूमान् सविषो ज्ञेयो दंशोऽन्यो निर्विषः पुनः॥ 160॥

कीट के काटने जैसा, बिन्धना जैसा, जलन और खाज उत्पन्न करने वाला दंश विष वाला होता है और यदि ऐसे लक्षण न हो तो विष रहित जाने।

अथ दूतविचारमाह —

तैलाक्तो मुक्तकेशश्च सशस्त्रः प्रस्खलद्वचाः।
ऊर्ध्वीकृतकरद्वन्द्वो रोगग्रस्तो विहस्तकः॥ 161॥
रासभं महिषं मत्तकरभं चाधिरूढवान्।
अपद्वारसमायातः कांदिशीकश्चलेक्षणः॥ 162॥
एकवस्त्रो विवस्त्रश्च वृतास्यो जीर्णचीवरः।
वाहिनीविकृतः क्रुद्धो दूतो नूतनजन्मने॥ 163॥

(मान्त्रिक के यहाँ पर विष निवारण के लिए प्रयोजन से आया दूत यदि) सिर पर तेल लगाकर, नग्न सिर और हाथ में शस्त्र लेकर आया हुआ, लथड़ते वाक्य बोलने वाला, दोनों हाथ ऊँचा करके आया हुआ, रोगी, व्याकुल हुआ, गधा, भैंसा अथवा ऊँट पर बैठकर आया हुआ, भयभीत, चञ्चल आँख वाला, पहने हुए वस्त्र के अतिरिक्त अन्य वस्त्र नहीं रखने वाला, वस्त्ररहित, मुँह ढांककर आया हुआ, जीर्ण वस्त्र धारण किए, नदी पार करने से भीगा हुआ या क्रुद्ध दूत हो तो विष पीड़ित मनुष्य की मृत्यु जाने।

स्थिरो मधुरवाक् पुष्पाक्षतपाणिर्दिशि स्थितः।
एकजातिव्रतो दूतो धूतोरगविषव्यथः॥ 164॥

इसके विपरीत स्थिर, मधुर वचन बोलने वाला, हाथ में पुष्प या अक्षत लेकर

आया हुआ हो, कोण दिशा छोड़ कर पूर्वादि चार दिशा में खड़ा हुआ, रोगी की जाति का धर्म का दूत यदि वैद्य अथवा गारुड़ी विद्या विशारद के यहाँ आया हुआ हो तो विष उतर जाएगा, ऐसा पूर्वानुमान करना चाहिए।

विषमः शस्यते दूतः स्त्रीणां तु स्त्री नरो नृणाम्।
एवं सर्वेषु कार्येषु वर्जनीयो विषर्ययः॥ 165॥

दूत को देखकर कि वे विषम संख्या में (एक, तीन, पांच आदि) अथवा स्त्री की ओर से दूतिका और पुरुष ओर से पुरुष दूत आए तो श्रेष्ठ जानना चाहिए। सब कार्यों में इसके विपरीत हो तो वर्जित कहना चाहिए।

दष्टस्य नाम प्रथमं गृह्णंस्तदनु मन्त्रिणः।
वक्ति दूतो यमाहूतो दष्टोऽयंमुच्यतामिति॥ 166॥

दूत विष पीड़ित मनुष्य का नामोच्चारण यदि पहले करे और बाद में मान्त्रिक का नाम ले तो मान्त्रिक को यह जानना चाहिए कि दूत 'विष पीड़ित मनुष्य के लिए यम का आमन्त्रण बनकर आया है अतः इसे तुम छोड़ो' ऐसा ही मुझे कहता है। विष पीड़ित मनुष्य जीने का नहीं, ऐसा उस मान्त्रिक को अनुमान करना चाहिए।

दूतस्य यदि पादः स्याद्दक्षिणोऽग्रस्थितस्तदा।
पुमान्दष्टोऽथ वामे तु स्त्री दष्टेत्यपि निश्चयः॥ 167॥

मान्त्रिक के गृह में जाते समय यदि दूत का दाहिना पाँव आगे हो तो विष से पीड़ित होने वाला पुरुष होगा और बायाँ पाँव आगे हो तो स्त्री– ऐसा निश्चय करना चाहिए।

ज्ञानिनोऽग्रे स्थितो दूतो यदङ्गं किमपि स्पृशेत्।
तस्मिन्नङ्गेऽस्ति दंशाऽपि ज्ञानिना ज्ञेयमित्यपि॥ 168॥

मान्त्रिक के आगे खड़ा दूत अपने शरीर के जिस भाग को स्पर्श करे, उस भाग पर सर्पादि का दंश हुआ है– ऐसा अनुमान कर लेना चाहिए।

अग्रतःस्थे यदा दूते वामा वहति नासिका।
सुखाशिका तदादेश्या दष्टस्यागदकारिणी॥ 169॥

जब दूत सम्मुख खड़ा हो और बायीं नासिका का स्वर बहता रहे तो 'विष से पीड़ित मनुष्य की पीड़ा मिट जाएगी' ऐसा विश्वास उस दूत को देना चाहिए।

वामायामेव नासायां यदि वायुप्रवेशने।
दूतः समागतः शस्यस्तदा नैवान्यथा पुनः॥ 170॥

जब वायु प्रवाह बायें नाक में होता हो तो आए हुए दूत को श्रेष्ठ जानना चाहिए और विपरीत प्रवाह हो तो नहीं।

दूतोक्तवर्णसङ्ख्याङ्को द्विगुणो भज्यते त्रिभिः।
यद्येकः शेषतां याति तच्छुभं नान्यथा पुनः॥ 171॥

दूत के मुँह से जो शब्द निकले हों, उनके दुगुने करके लब्ध संख्या को 3 से भाजित करे, यदि शेष एक रहे तो शुभ जाने, अन्यथा नहीं।

दूते दिगाश्रिते जीवतयाहिदष्टो विदिक्षु न।
प्रश्नोऽप्यन्तर्वहे वायौ सति दूतेन चेत्कृतः॥ 172॥

यदि दूत दिशा में खड़ा हो तो दंश पीड़ित व्यक्ति जीवित रहता है और इसी प्रकार नासिका द्वार से भीतर श्वास लेते समय वह प्रश्न करे और विदिशा में खड़ा हो तो नहीं जीयेगा, ऐसा अनुमित करना चाहिए।

प्रश्नं कृत्वा मुखं दूतो धत्ते स्वं मीलितं यदि।
तदा दष्टादरो मुक्तो विपर्यासे मृतस्तु सः॥ 173॥

यदि दूत प्रश्न करने के उपरान्त अपना मुँह बन्द कर लें तो दंश लगे व्यक्ति का आदर करना योग्य है और यदि मुँह खुला ही रखें तो वह मृत्यु को प्राप्त होता है।

दूतस्य वदनं रात्रौ यदि सम्यग्न दृश्यते।
तदा स्वस्य मुखे ज्ञेयं मन्त्रिणा मीलनादिकम्॥ 174॥

रात्रि का समय होने के कारण यदि दूत का मुँह ठीक प्रकार से दिखाई न तो मान्त्रिक पुरुष को मुँह का बन्द होना प्रमुख चिह्न अपने मुँह से जानना चाहिए।*

दूत विचारोपरान्त मर्मविचार:

कण्ठे वक्षस्थले लिङ्गे मस्तके चिबुके गुदे।
नासापुटे भ्रुवोर्मध्ये नाभावोष्ठे स्तनद्वये॥ 175॥
पाणिपादतले शङ्खे स्कन्धे कर्णेऽलिके दृशोः।
केशान्तकक्षयोर्दष्टो दष्टोऽन्तकपुरीजनैः॥ 176॥

(अब दंश के विभिन्न स्थानों के विषय में कहा जा रहा है) यदि 1. कण्ठ, 2. छाती, 3. लिङ्ग, 4. मस्तक, 5. दाढ़ी, 6. गुदा, 7. नाक, 8. दोनों भौंहों के मध्य, 9. नाभि, 10. ओष्ठ, 11. दोनों स्तन, 12. हाथ एवं पाँव के तल, 13. आँख का कान का निकटवर्ती भाग, 14. कन्धा, 15. कान, 16. कपाल, 17. दोनों आँखें, 18. केशान्त और 19. कांख– इन मर्म स्थानों पर जिस मनुष्य के दंश लगे तो उसकी मृत्यु होती है।

अथ दष्टविचार:

---

* दूत के इसी प्रकार के लक्षणों का वर्णन अग्निपुराण (अध्याय 294, 25-41) में हुआ है।

त्रुट्यन्ति मूर्धजा यस्य दृग्मध्ये धवलो लवः।
कण्ठग्रहो वपुः शीतं हिक्का क्षामकपोलता॥ 177॥
भ्रमिर्मोहोऽङ्गदाहश्च शशिरव्योरवीक्षणम्।
गात्राणां कम्पनं भङ्गो दृशौ रक्ते सनिद्रता॥ 178॥
लाला विरूक्षता पाण्डुरत्वं वाक्सानुनासिका।
विपरीतार्थवीक्षा च जृम्भा छर्दिः स्वरान्यता॥ 179॥
छेदे स्त्रावो न रक्तस्य न रेखा यदि ताडने।
नाधस्तात्स्तनयोः स्पन्ददर्शनं गलकेऽपि च॥ 180॥
दशनाकारधारित्वं सुव्यक्तं कर्णपृष्ठतः।
निश्वासस्य च शीतत्वं कन्धराप्यतिभङ्गुरा॥ 181॥
शोणिते पयसि क्षिप्ते विस्तरस्तैलबिन्दुवत्।
ओष्ठसम्पुटयोर्मुद्रा भेदो मेलितयोरपि॥ 182॥

(अब विष-पीड़ित व्यक्ति के लक्षण कहे जा रहे हैं) विष से पीड़ित जिस मनुष्य के बाल टूटे, आँख में सफेद बिन्दु दिखने लगे, गला अवरुद्ध हो जाए, शरीर ठण्डा पड़ जाए, हिचकी आए, गाल कुम्हला जाए, चक्कर आए, मूर्च्छित हो जाए, शरीर शुष्क हो जाए, चन्द्र और सूर्य होने पर भी न दीखे, शरीर कम्पित और टूटे, आँखे लाल हो जाए, निद्रा आए, लार झरे, नासिका सूखे, शरीर फीका पड़े, नाक में से स्वर निकले, वस्तु एक हो तो दूसरी दीखे, जम्हाई आए, वमन हो, स्वर बदल जाए, शरीर छेदन से खून न निकले, लकड़ी प्रहार पर शरीर पर चिह्न न पड़े, दोनों स्तनों के नीचे और गाल में स्फुरण का अनुभव नहीं हो, कान के पीछे दन्त के आकार प्रकट हों, निश्वास ठण्डा प्रतीत हो, गर्दन नहीं ठहरे, रक्त पानी में डालने से तेल की तरह फैल जाए, दोनों ओठ को खोले तो भी बाद में बन्द हो जाए (तो ऐसा व्यक्ति विष पीड़ित होता है)।

अन्यदप्याह —

जिह्वाविलोकनं नैव न नासाग्रनिरीक्षणम्।
आत्मीयो विषयः कश्चिदिन्द्रियाणां न गोचरः॥ 183॥
मुख श्वासो न नासायां विकाशो नेत्रवक्त्रयोः।
चन्द्रे सूर्यभ्रमः सूर्ये चन्द्रोऽयमिति च भ्रमः॥ 184॥
कक्षायां रसनायां च श्रवणद्वितयेऽपि च।
ध्वाङ्क्षपादोपमं नील यदि चोत्पद्यते स्फुटम्॥ 185॥

दर्पणे सलिले वापि स्वमुखस्यानिरीक्षणम्।
न दृशोः पुत्तिका स्पष्टा पुरस्थैरवलोक्यते॥ 186॥
शोफः कुक्षौ नखानां च मालिन्यं सहसा तथा।
स्वेदः शूलं गले भक्ष्यप्रवेशो न मनागपि॥ 187॥
उत्कम्पः पुलको दन्त घर्षश्चाधरपीडनम्।
सीत्कारस्तापजडते कूजनं च मुहुर्मुहुः॥ 188॥
नेत्रयोः शुक्लयोरेह्नि रक्तयोः सायमेव च।
नीलयोर्निशि मृत्युः स्यात्तस्य दष्टस्य निश्चितम्॥ 189॥

इसी प्रकार अपनी जिह्वा और नासिका के अग्रभाग को न देख सके, नासिका के बदले मुँह में से श्वास लेने लगे, आँख और मुँह खुला रहे, चन्द्रमा हो तो सूर्य दीखे, काँख, जीभ और दोनों कान में काक के पद जैसा नीलवर्ण का चिह्न दीखे, दर्पण और जल में अपना चेहरा न दीखे, आँख की कालिमाएँ सम्मुख बैठे हुए को न दीखे, उदर पर शोजिस चढ़े, नाखून पूरी तरह काले पड़ जाए, पसीना और शूल हो, कोई वस्तु निगली न जा सके, चक्कर आएँ, रोमाञ्च हो, दन्त घीसें, ओठ चबाए, मुँह से सीत्कार करे, बारम्बार ताप और मूर्च्छा हो और हुँकार करे, आँखें दिन को सफ़ेद रहे व सन्ध्या को लाल हो जाए और रात को काली पड़ जाएँ– ये सारे लक्षण जिस व्यक्ति के दिखाई दें उसे विषग्रस्त समझना चाहिए, ऐसा व्यक्ति अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त होता है।

दष्टस्य देहे शीताम्बुधारासिक्तेर्भवेद्यदि।
रोमाञ्चः कम्पनाद्यं वा तदा दष्टोऽनुगृह्यते॥ 190॥

विष से पीड़ित व्यक्ति के शरीर पर ठण्डे पानी की धार डालने पर यदि रोमाञ्च हो या हलचल करें तो मन्त्र, औषधी आदि से उपचार आरम्भ करना चाहिए, इससे वह शीघ्र स्वस्थ हो जाएगा।

यो हस्तनखनिर्मुक्तैः पयोबिन्दुभिराहते।
निमीलयति नेत्रे स्वेयमस्तस्मिन्न सोद्यमः॥ 191॥

विष पीड़ित जो मनुष्य अपने ही नाखूनों से पानी के बिन्दु आँखों में छिड़कने पर अपनी आँखें मूँदने का प्रयास करता हो, वह मृत्यु नहीं पाता है।

यस्य पाणिनखासक्त मांसेऽन्यनखपीडिते।
जायते वेदना तस्य नान्तको भजतेऽन्तिकम्॥ 192॥

विष पीड़ित के हाथ के नख को दबाकर देखना चाहिए, यदि दंश पीड़ित वेदना अनुभव करता हो तो वह नहीं मरेगा, ऐसा जानना चाहिए।

अथ दंशस्थानविचारः

इष्टिकाचितिवल्मीकाद्रिद्रुकूपसरित्तटे ।
वृक्षे कुञ्जे श्मशाने च जीर्णशालगृहान्तरे॥ 193॥
पाषाणसञ्चये दिव्यदेवतायतनादिके।
स्थानेष्वेतेषु यो दष्टो यमस्तस्मिन्दढोद्यमः॥ 194॥

ईंटों से बने घर में, वाँबी पर, पर्वत पर, झाड़ के नीचे, कूप या नदी के किनारे, तृण-लता और वृक्षों से ढके हुए प्रदेश में, श्मशान, जीर्ण भवन में, पत्थरों के ढेर में, देवस्थान आदि पर जिसे साँप काट खाता है, वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है।*

अथ सर्पजातिविचारः

विषभेदावबुद्ध्यर्थं ज्ञेयो नागोदयः पुरा।
अज्ञातविषभेदः सन्निर्विषीकुरुते कथम्॥ 195॥

(अब सर्पों की जाति के बारे में कहा जा रहा है**) विष के प्रकार को समझने के लिए प्रथमतः नाग का उदय जानना चाहिए क्योंकि विष के प्रकार को जाने बिना विष किस तरह उतारा जा सकता है।

रविवारे द्विजोऽनन्तो नागः पद्मशिराः सितः।
वायवीयविषो यामार्धमात्रमुदयी भवेत्॥ 196॥

वायुमय विष (विषाक्त फूँकार) को धारण करने वाला, विप्र कुल का 'अनन्त' संज्ञक नाग रविवार को शरीर पर पौने चार घड़ी तक विष निकालता है। उसके सिर पर पद्म होता है और वह शरीर से श्वेत वर्ण का होता है।

वासुकिः सोमवारे तु क्षत्रियः शुभविग्रहः।
नीलोत्पलाङ्क आग्नेय गरलोऽभ्युदयं व्रजेत्॥ 197॥

---

* गरुडपुराण में भी कहा गया है कि श्मशान, बाँबी, पर्वत, कुआं और वृक्ष के कोटर में स्थित सर्प के काटने पर यदि दाँत लगे स्थान पर तीन प्रच्छन्न रेखाएँ बन जाती हैं तो प्राणी जीवित नहीं रह पाता है— चितावल्मीकशैलादौ कूपे च विवरे तरोः। दंशे रेखात्रयं यस्य प्रच्छन्नं स न जीवति॥ (गरुड. पूर्व. 19, 2)
अग्निपुराण में भी आया है—देवालयेशून्यगृहे वल्मीकोद्यानकोटरे॥ रथ्यासन्धौ श्मशाने च नद्यां च सिन्धुसङ्गमे द्वीपे चतुष्पथे सौधे गृहेब्जे पर्वताग्रतः॥ बिलद्वारे जीर्णकूपे जीर्णवेश्मनि कुड्यके। शिग्रुश्लेष्मातकाक्षेषु जम्बूदुम्बर वेणुषु॥ वटे च जीर्णप्राकारे खास्यहृत्कुजक्षत्रुणि। (अग्नि. 294, 21-24)

**शास्त्रों में नौ नागों का उल्लेख आया है— अनन्तं वासुकिं शेषं पद्मनाभं च कम्बलम्। शङ्खपालं धार्तराष्ट्रं तक्षकं कालियं तथा॥ एतानि नवनामानि नागानां च महात्मनाम्। सायंकाले पठेन्नित्यं प्रातःकाले विशेषतः॥ तस्मै विषभयं नास्ति सर्वत्र विजयी भवेत्॥

अग्निमय विष धारण करने वाला 'वासुकी' नामक क्षत्रिय जाति का नाग सोमवार को शरीर पर पौने चार घड़ी तक विषोदय धारण करता है। उसका शरीर सुन्दर होता है और उसके सिर पर नील कमल होता है।

भवत्यभ्युदयी भौभे तक्षकः विश्वरक्षकः।
आरक्तः पार्थिवविषो वैश्यः स्वस्तिकलाञ्छनः॥ 198॥

जगत् रक्षक और पृथ्वीमय विष धारण करने वाला 'तक्षक' संज्ञक वैश्य जाति का नाग मङ्गलवार को पौने चार घड़ी तक शरीर पर विष का उदय धारण करता है। उसका शरीर लाल होता व उसके सिर पर स्वस्तिक का चिह्न होता है।

बुधे लब्धोदयः शूद्रः कर्कोटोऽञ्जनसन्निभः।
स वारुणविषो रेखा त्रियाश्चितमूर्तिमान्॥ 199॥

जलमय विष धारण करने वाला 'कर्कोटक' नामक शूद्र जाति का नाग बुधवार को पौने चार घड़ी तक विष का उदय धारण करता है। उसके शरीर का वर्ण अञ्जन जैसा होता है और उस पर तीन रेखाएँ होती हैं।

गुरुवारोदयी पद्मः स्वर्णवर्णसमद्युतिः।
शूद्रो माहेन्द्रगरलः पञ्चचन्द्राभबिन्दुकः॥ 200॥

महेन्द्रीय विष धारण करने वाला 'पद्म' नामक शूद्र जाति का नाग गुरुवार को पौने चार घड़ी तक विष का उदय धारण करता है। उसके शरीर का वर्ण स्वर्ण जैसा होता है और उस पर चन्द्रमा जैसे श्वेत पाँच बिन्दु होते हैं।

शुक्रवारोदितो वैश्यो महापद्मो घनच्छविः।
लक्षिताङ्गस्त्रिशूलेन दधानो वारुणं विषम्॥ 201॥

जलमय विष का धारक 'महापद्म' नामक शूद्र जाति का नाग शुक्रवार को पौने चार घड़ी तक विष का उदय धारण करता है। उसके शरीर का वर्ण मेघ के समान और उसके मस्तक पर त्रिशूल का चिह्न होता है।

धत्ते शङ्खः शनौ शक्तिमुदेतुमरुणारुणः।
क्षत्रियो गरमाग्नेयं विभ्रद्रेखां सिता गले॥ 102॥

तेजोमय विष धारक 'शङ्ख' संज्ञक क्षत्रिय जाति का नाग शनिवार को पौने चार घड़ी तक विष का उदय धारण करता है। उसके शरीर का वरुण उदित होते सूर्य के समान और उसके गले में श्वेत रेखा होती है।

राहुः स्यात्कुलिकः श्वेतो वायवीयविषो द्विजः।
सर्ववारेषु यामार्धं सन्धिष्वस्योदयो मतः॥ 203॥

वायुमय विषधारक राहु के समान 'कुलिक' नामक विप्र जाति का नाग सभी

वारों को चौघड़िया के सन्धिकाल में विष का उदय धारण करता है। उसके शरीर का वर्ण श्वेत होता है।

अहर्निशमियं वेला ख्याता विषमयी किल।
तदादौ विषमाग्रेयं माहेन्द्रं मध्यमे पुनः॥ 204॥
वारुणं पश्चिमे भागे तत्राद्यमतिदुःखदम्।
कष्टसाध्यं परं साध्यं भवेत्परतरं पुनः॥ 205॥

इस प्रकार यहाँ रात्रि और दिवसगत विषोदय का समय कहा है। उसमें पहले अग्निमय विष, मध्य में महेन्द्र विष और इसके बाद में जलमय विष होता है। पहला अग्निमय विष अति दुःखद, दूसरा माहेन्द्र कष्टसाध्य और तीसरा जलमय विष सुसाध्य कहा जाता है।

विषं साध्यमिति ज्ञातमपि चेन्नैव नश्यति।
तदोपरान्तो विज्ञेयस्तस्य स्थितिमितिस्त्वियम्॥ 206॥

यह ज्ञातव्य है कि साध्य विष जाने हुए भी यदि दूर न हो तो अपरान्त योग जानना चाहिए। अपरान्त की स्थिति का मान आगे कहे अनुसार होता है।

विषस्य मर्यादामाह —

रविरोहिण्यमावास्या चेद्द्वौ यामौ तदा विषम्।
चन्द्राश्लेषाष्टमीयोगे चतुर्यामावधौ विषम्॥ 207॥

रविवार, रोहिणी नक्षत्र और अमावस्या हो तो दो प्रहर तक और सोमवार, आश्लेषा नक्षत्र व अष्टमी तिथि हो तो चार प्रहर तक विष की मर्यादा कही जाती है।

भौमोत्तराफा नवमी यामान् षट् सततं विषम्।
बुधे चतुर्थ्यानुराधा यावद्यामाष्टकं विषम्॥ 208॥

नवमी के दिन मङ्गलवार और उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र हो तो एकसे छह प्रहर तक और चतुर्थी के दिन बुधवार और अनुराधा नक्षत्र हो तो आठ प्रहर तक विष की मर्यादा होती है।

गुरौ च प्रतिपज्ज्येष्ठा षोडश प्रहरान् विषम्।
शुक्रे मघा तृतीयायां द्वात्रिंशत्प्रहरान् विषम्॥ 209॥

यदि प्रतिपदा के दिन गुरुवार और ज्येष्ठा नक्षत्र हो तो सोलह प्रहर और तृतीया के दिन शुक्रवार तथा मघा नक्षत्र हो तो बत्तीस प्रहर तक विष की मर्यादा होती है।

शनीवार्द्राचतुर्दश्योः षड्दिनान्तं महाविषम्।
कैश्चिदित्यपरान्तोऽयं तिथिवारर्क्षतो मतः॥ 210॥

यदि चतुदर्शी के दिन शनिवार तथा आर्द्रा नक्षत्र हो तो छह दिन तक विष की मर्यादा होती है। इस प्रकार कतिपय लोगों ने अपरान्त योग तिथि, वार और नक्षत्र के योग से माना है।*

प्रकारान्तरमाह —

यामार्धमाद्यमन्त्यं च द्युवारस्याह्नि निश्यपि।
तत्तत्षष्ठस्य शेषं स्यान्निशि तत्पञ्चमस्य तु॥ 211॥

(उक्त विषय में अब अन्य मत कहा जा रहा है) प्रहर का प्रथम व अन्तिम अर्द्ध भाग दिन सम्बन्धी वार के दिन व रात्रि को भी जानना चाहिए। दिन को उसका षष्ठमांश और रात्रि को पञ्चमांश शेष होता है।**

सूर्यादौ षड्विवर्ते आशुबुसौशगुमं दिने।
विवर्ते पञ्चमे आबृसोशुमंशबु निश्यपि॥ 212॥

कालगति में सूर्यादि के लिए छठवें विवर्ते (परिवर्तित क्रम) दिन में रवि, शुक्र, बुध, चन्द्र, शनि, गुरु और मङ्गल जानना चाहिए और रात्रि को पाँचवें विवर्ते रवि, गुरु, चन्द्र, शुक्र, मङ्गल और शनि के लिए जाने।

नागार्धयामकाश्चैते तेषु कालो भवेच्छनौ।
अपरान्तो भवेज्जीवो ज्ञेयं युक्त्यानया त्रयम्॥ 213॥

ये विवर्ते नाग के अर्द्ध प्रहर जानने चाहिए। इसमें शनि के प्रसङ्ग में काल, अपरान्त और जीव इस प्रकार तीन बातें जाननी चाहिए।

कालदष्टोऽपि सूर्यस्य दिनेऽष्टाविंशतिं घटीः।
जीवत्यतो मृतो नो चेद्ललितं कालमर्म तत्॥ 214॥

रविवार के दिन यदि काल-सर्प का दंश हो तो भी मनुष्य 28 घड़ी तक

---

* इस प्रकार का वर्णन अग्निपुराण और भविष्यपुराण में भी हुआ है। आयुर्वेदिक ग्रन्थों में गारुडमन्त्राधिकार, भावप्रकाश, सुश्रुतादि में सर्पविष के विषय में विविध मत हैं।

**गरुडपुराण में प्रकारान्तर से कहा गया है कि दिन के प्रथम भाग के पूर्व अर्ध याम का भोग सूर्य करता है। उस दिवाकर-भोग के बाद गणनाक्रम में जो ग्रह आते हैं, उनके द्वारा यथाक्रम शेष यामों का भोग किया जाता है। इस कालगति में हर दिन में छह परिवर्तनों के साथ अन्य शेष ग्रहों का भोग माना गया है। काल चक्र के आधार पर रात्रिकाल में शेषनाग 'सूर्य', वासुकि 'चन्द्र', तक्षक 'मङ्गल', कर्कोटक 'बुध', पद्म 'गुरु', महापद्म 'शुक्र', शङ्ख 'शनि' और कुलिक नाग 'राहु' को माना गया है—पूर्वं दिनपतिभुण्क्ते अर्द्धयामं ततोऽपरे। शेषा ग्रहाः प्रतिदिनं षट्संख्यापरिवर्त्तनैः॥ नागभोगः क्रमाज्ज्ञेयो रात्रौ बाणविवर्त्तनैः॥ शेषोऽर्कः फणिपश्चन्द्रस्तक्षको भौम ईरितः॥ कर्कोटोज्ञो गुरुः पद्मो महापद्मश्च भार्गवः। शङ्खः शनैश्चरो राहुः कुलिकश्चाहयो ग्रहाः॥ रात्रौ दिवा सुरगुरोर्भागे स्यादमरान्तकः। पङ्गोः कालो दिवा राहुः कुलिकेन सह स्थितः॥ यामार्द्धार्द्धसन्धिसंस्थः वेलां कालवतीञ्चरेत्। (गरुड. 19, 3-4)

जीवित रहता है। उसके बाद मृत्यु न हो तो कालमर्म टूट गया है, ऐसा समझना चाहिए।

दिनेऽर्कस्यापरान्तोऽपि स्वास्थ्यकृद्विंशतिं घटीः।
पश्चादष्टादश घटीर्मोहो भवति निश्चितम्॥ 215॥

रविवार का 20 घड़ी तक अपरान्त होता है। यह इतने ही समय तक विष-पीड़ित मनुष्य को स्वस्थ रखता है। इसके उपरान्त 18 घड़ी तक निश्चिय ही मोह (मूर्च्छित) होता है।

सोमादीनां दिनेष्वेवं घटचः कालापरान्तयोः।
कालस्य प्रथमाः पश्चादपरान्तरस्य च क्रमात्॥ 216॥

इसी प्रकार सोमवार आदि दिवसों को भी काल और अपरान्त की घड़ी को समझना चाहिए। इनमें पहले काल और परवर्ती अपरान्त की घड़ी क्रमशः होती है।

सोमस्य दिवसे काल वेधो घट्यो जिनैः समाः।
स्यास्थ्याय षोडश ततो मोहायाष्टादश स्फुटाः॥ 217॥

सोमवार के दिन काल की 24 घड़ी, रोगी को स्वस्थ रखने वाली अपरान्त की 16 और उसके बाद मूर्च्छा की 18 घड़ी कही जाती है।

भौमस्य दिवसे कालो घटिका विंशतिर्भवेत्।
घटिका द्वादश स्वास्थ्यं मोहः षट्त्रिंशदेव च॥ 218॥

मङ्गलवार को पहले काल की 20, इसके उपरान्त रोगी को स्वस्थ रखने वाली अपरान्त की 12 और इसके अनन्तर मूर्च्छा की 36 घड़ी होती है।

बुधस्य दिवसे ज्ञेया घट्यः कालस्य षोडश।
स्वास्थ्यस्य घटिका अष्टौ मोहः सार्धं दिनं ततः॥ 219॥

बुधवार को पहले काल की 16, रोगी को स्वस्थ रखने वाली अपरान्त की 8 और इसके बाद डेढ़ दिवस तक मूर्च्छा की मर्यादा स्वीकारी गई है।

बृहस्पतिदिने कालघटिका द्वाद्वश स्मृताः।
चतस्त्रो घटिकाः स्वास्थ्ये द्व्यहं मोहोऽथ षड्घटीः॥ 220॥

इसी प्रकार से गुरुवार को काल की 12 और अपरान्त की चार घड़ी है जबकि मूर्च्छा की दो दिन और छह घड़ी तक मर्यादा कही गई है।

शुक्रस्य दिवसे कालघटिका अष्ट निश्चिताः।
घट्याऽष्टाविंशति स्वास्थ्यं मोहो दिनचतुष्टयम्॥ 221॥

शुक्रवार को पहले काल की 8 घड़ी के बाद अपरान्त की 28 घड़ी और उसके उपरान्त मूर्च्छा के 4 दिन बताए गए हैं।

शनैश्चरदिने कालो घटिकानां चतुष्टयम्।
घट्यो जिनैः समाः स्वास्थ्यं मोहः षट् सार्धवासराः॥ 222॥

शनिवार के दिन काल की 4 घड़ियाँ, अपरान्त की 24 घड़ी और मूर्च्छा के साढ़े छह दिन बताए गए हैं।

कालोऽन्त्येऽर्धे शनेरन्त्या घटी जीवेऽपरान्तकः।
काल एव भवेन्नित्यं सर्वप्रहरकान्तरे॥ 223॥

यह भी स्मरणीय है कि शनिवार को अन्तिम अर्द्ध भाग काल की और गुरुवार को अन्तिम घड़ी अपरान्त की है जबकि अविराम सब प्रहर के अन्त में काल होता है।

अपरान्तादीनां लक्षणमाह —

नाभिदेशे तले स्पष्टो निर्दग्धस्येव वह्निना।
दष्टस्य जायते स्फोटो ज्ञेयोऽनेनापरान्तकः॥ 224॥

विष से पीड़ित मनुष्य के नाभिप्रदेश के नीचे के भाग में यदि आग से दग्ध जैसा फोड़ा प्रकट हो तो उस लक्षण से अपरान्त का ज्ञान करना चाहिए।

अनन्तो दक्षिणाङ्गेक्षी वासुकिर्व्योमवीक्षकः।
तक्षकःश्रवणस्पर्शी नासां कर्कोटकः स्पृशेत्॥ 225॥

अनन्त नामक नाग दाहिनी ओर देखता है; वासुकी बायीं ओर, तक्षक कान को स्पर्श करता है जबकि कर्कोटक नाक को छूता है।

पद्मः कण्ठतटस्पर्शी महापद्मः श्वसित्यलम्।
शङ्खो हसति भूप्रेक्षी कुलिको वामवेष्टकः॥ 226॥

पद्मनाग कण्ठ को स्पर्श करता है; महापद्म बहुत श्वास छोड़ता है; शङ्ख भूमि की और देखकर मुस्कुराता है जबकि कुलिक बायीं ओर वेष्टन करता है।

विषकालं व्याप्तिश्च लक्षणमाह —

विषं दंशे द्विपञ्चाशन्मात्रा *स्तिष्ठेत्ततोऽलिके।
नेत्रयोर्वदने नाडीष्वथो धातषु सप्तसु॥ 227॥

शरीर में विष सदैव दंशस्थल पर 52 मात्रा तक रहकर फिर कपाल, आँख, मुँह, नाड़ियों और सप्त धातु में व्याप्त होता है।**

---

* मात्रा से आशय सामान्यतया क्षण होता है। छन्दःशास्त्र के अनुसार एक ह्रस्व स्वर को उच्चारण करने में जितना लगने वाले समय को एक मात्रा कहा जाता है।

**अग्निपुराण में आया है— विषरोगाश्च सप्त स्युर्धातोर्धात्वन्तरास्रितः। विषदंशो ललाटं यात्यतो नेत्रं ततो मुखम्॥ आस्याच्च वचनी नाड्यौ धातून्प्राप्नोति हि क्रमात्। (अग्नि. 294, 41)

रसस्थं कुरुते कण्डूं रक्तस्थं बाह्यतापकृत्।
मांसस्थं जनयेच्छर्दि मेदस्थं हन्ति लोचने॥ 228॥

विष रस धातु में हो तो खाज उत्पन्न करता है; रक्त में हो तो शरीर के बाहरी भाग में ताप उत्पन्न करता है; मांस में हो तो वमन और मेद में हो तो दोनों आँखों को हानि पहुँचाता है।

अस्थिस्थं मर्मपीडां च मज्जस्थं दाहमान्तरम्।
शुक्रस्थमानयेन्मृत्युं विषं धातुक्रमादहेः॥ 229॥

इसी प्रकार यदि अस्थि में विष हो तो मर्मस्थान पर पीड़ा करता है; मज्जा में हो तो शरीर में जलन करता है और शुक्र धातु में हो तो मृत्युदायक होता है। इस प्रकार धातु के अनुक्रम से सर्प के विष का परिणाम जानना चाहिए।

निराकर्तुं विषं शक्यं पूर्वे स्थानचतुष्टये।
अतःपरमसाध्यं तु कष्टं कष्टतरं स्मृतम्॥ 230॥

उपर्युक्त स्थानों में पहले चार स्थानस्थ विष हो तो उसका निवारण हो सकता है और शेष स्थानस्थ विष हो तो क्रमशः कष्टसाध्य, अति कष्ट साध्य एवं असाध्य होता है।

आग्नेयादीनां विषस्य लक्षणं —

आग्नेये स्याद्विषे तापो जडता वारुणेऽधिका।
प्रलापो वायवीये तु त्रिविधं$_3$ विषलक्षणम्॥ 231॥

यदि अग्नि विष हो तो ताप बहुत होता है; वरुण का हो तो अति जड़ता होती है; वायु का हो तो रोगी प्रलाप करता है। इस प्रकार से विष के तीन लक्षण कहे गए हैं।

निक्षिप्ते मारिचे चूर्णे दृशोर्यदि पयः क्षरेत्।
तदा जीवति दष्टः सन्नन्यथा तु न जीवति॥ 232॥

जिस व्यक्ति को सर्प ने काटा हो, यदि उसकी आँखों में उसी व्यक्ति के कान का मल चूर्ण की भाँति आँज दिया जाए और पानी टपके तो वह जीवित रहेगा, अन्यथा नहीं।

पीयूषकलावर्णनमाह —

पादाङ्गुष्ठेऽथ तत्पृष्ठे गुल्फे जानुनि लिङ्गके।
नाभौ हृदि कुचे कण्ठे नासादृकश्रुतिषु भ्रुवोः॥ 133॥
शङ्खे मूर्द्धिन् क्रमात्तिष्ठेत्पीयूषस्य कलान्वहम्।
शुक्लप्रतिपदः पूर्वं कृष्णपक्षे विपर्ययात्॥ 234॥

(रात्रि और दिन का मान लगभग तीस-तीस घटी का होता है, इस मान के अनुसार निर्मित कालचक्र में) शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से पूर्णिमा तक अनुक्रम से चन्द्रमा की कलाओं की कायागत स्थिति जाननी चाहिए। क्रम से प्रतिपदा को पादाङ्गुष्ठ, द्वितीया को पैर से ऊपर, तृतीया को गुल्फ, चतुर्थी को जानु, पञ्चमी को लिङ्ग, षष्ठी को नाभि, सप्तमी को हृदय, अष्टमी को स्तन, नवमी को कण्ठ, दशमी को नासिका, एकादशी को नेत्र, द्वादशी को कान, त्रयोदशी को भौंह, चतुर्दशी को शङ्ख अर्थात् कनपटी और पूर्णिमा को मस्तक पर चन्द्रमा की अमृत कला का निवास होता है। इसी प्रकार कृष्णपक्ष में प्रतिपदा में से अमावस्या तक उलटे क्रम से अर्थात् प्रतिपदा के दिन मस्तक पर द्वितीया के दिन शङ्ख में–इस तरह अमृत-कला रहती है।*

सुधाकला स्मरो जीवस्त्रयाणामेकवासिता।
पुंसो दक्षिणभागे स्याद्वामभागे तु योषितः॥ 235॥

पुरुष की काया में दाहिने और स्त्री के अङ्ग के बायें अमृत की कला, काम और जीव– ये तीनों एकमेव होकर निवास करते हैं।

सुधास्थानाद्विषस्थानं सप्तमं ज्ञेयमन्वहम्।
सुधाविषस्थामर्दो विषघ्नो विषवृद्धिकृत्॥ 236॥

अमृत का जो स्थान हो उससे सुधा का स्थान निरन्तर सातवाँ माना गया है। अमृतस्थल पर मर्दन करने से अमृत और विषस्थल पर मर्दन करने से विष की अभिवृद्धि होती है।

स्त्रियोऽप्यवश्यं वश्याः स्युः सुधास्थानविमर्दनात्।
स्पृष्टा विशेषाद्वश्याय गुह्यप्राप्ता सुधाकला॥ 237॥

अमृतस्थल मर्दन करने से स्त्रियाँ भी अवश्य वशीभूत होती हैं। विशेषरूप से गुह्यस्थल पर अमृत कला विद्यमान हो तो उसे मर्दन करने पर स्त्रियाँ शीघ्र वशीभूत होती हैं (जैसी कि वात्स्यायन, कोक्काक, कुम्भा** आदि की मान्यता भी है)।

---

* उक्त श्लोक गरुडपुराण के मत से मिलते हैं— पादाङ्गुष्ठे पादपृष्ठे गुल्फे जानुनि लिङ्गके। नाभौ हृदि स्तनपुटे कण्ठे नासापुटेऽक्षिणि॥ कर्णयोश्च भ्रुवोः शङ्खे मस्तके प्रतिपत्क्रमात्॥ तिष्ठेच्चन्द्रश्च जीवेत्र पुंसो दक्षिणभागके। कायस्य वामभागे तु स्त्रिया वायुवहात्करात्। अमवत्त्वत्कृतो मोहो निर्वत्तेत च मर्दनात्॥ (गरुड. 19, 10-11)

**महाराणा कुम्भा का मत है सामान्यतया स्त्रियों के समस्त अङ्गों में चन्द्रकलामय रूप से कामदेव विद्यमान होता है। जिस-जिस स्थान पर चन्द्रमा की कला या तिथियों के अनुसार कामदेव विराजित होता है, उसके बारे में यहाँ कहा जा रहा है। शुक्लपक्ष में प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा तक प्रत्येक तिथि को स्त्री के अङ्गुष्ठ$_1$ से लेकर चरण$_2$, गुल्फ$_3$, जानु या घुटना$_4$, जङ्घा प्रदेश,$_5$ नाभि$_6$, वक्षस्थल$_7$, स्तन$_8$, कक्ष या बगल$_9$, कण्ठ कन्दल$_{10}$, अधर$_{11}$, कपोल$_{12}$, नेत्र$_{13}$, भाल$_{14}$, मस्तक$_{15}$ तक कामदेव विद्यमान रहता है अर्थात् काम की विद्यमानता आरोह क्रम से इन अङ्गों में रहती है। स्त्रियों में उक्त स्थिति वामाङ्ग क्रम से वाम नेत्रादि में यथाक्रम रहती है जबकि कृष्णपक्ष में प्रतिपदा से अमावस्या

सुधास्थानेषु नैव स्यात्कालदंशोऽपि मृत्यवे।
विषस्थानेषु दंशस्तु प्रशस्तोऽप्याशु मृत्यवे॥ 238॥

अमृत की कला जहाँ विद्यमान हो, वहाँ यदि सर्प का दंश हो तो व्यक्ति की मृत्यु नहीं होती किन्तु विषस्थल पर दंश अच्छा हो तो भी उससे शीघ्र मृत्यु की आशङ्का जाननी चाहिए।

सुधाकलास्थितान् प्राणान् ध्यायन्नात्मनि चात्मना।
निर्विषत्वं वयस्तम्भं कान्तिं प्राप्नोति दष्टकः॥ 239॥

दंशित व्यक्ति अमृत की कला में विद्यमान प्राण का अपनी-अपनी आत्मा में चिन्तन करे तो उससे विष का नाश होता है। इससे तरुणावस्था स्थायी रहे और शरीर पर प्रभविष्णुता आती है।

अथ विषनाशोपाय कथ्यते —

जिह्वायास्तालुना योगा दमतस्त्रवणं च यत्।
विलिप्तस्तेन दंशः स्यान्निर्विषः क्षणमात्रतः॥ 240॥

जीभ को तालू पर लगाने से जो अमृत झरता है,[*] उसका लेप यदि दंशस्थल पर किया जाए तो क्षणभर में विष का विनाश होता है।

अन्यदप्याह —

तक सिर से नीचे के अङ्गुष्ठ तक दक्षिणाङ्ग में कामदेव की स्थिति उतरती हुई होती है— स्त्रीणां सर्वेषु चाङ्गेषु कामः चन्द्रकलामयः। स्थानेषु येषु सन्तिष्ठेत् तत् इदानीं निगद्यते॥ अङ्गुष्ठे चरणे गुल्फै जानौ(नाभौ?) जघन पुष्पके। नाभौ वक्षसि वक्षौजैः कक्षायां कण्ठ कन्दले॥ अधरे च कपोले च नेत्रे भाले च मस्तके। प्रतिपत् पौर्णिमा यावत् कामो तत्र वसते पुनः॥ वामाङ्गे वामनेत्रणां आरोहति यथाक्रमम्। मन्मथः कृष्णपक्षे तु दक्षिणाङ्गे समुत्तरेत्॥ (कामराजरतिसार 2, 53-56)

---

1. खेचरी मुद्रा के अभ्यासी के लिए यह सम्भव है। कपाल कुहर में जिह्वा को लटकाकर लगाने से योगी को इस तरह से अमृत की प्राप्ति होती है, जैसा कि हठयोगप्रदीपिका में आया है— कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा। भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥ छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत्। सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः॥ स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्। समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत्। पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तं समाचरेत्। षण्मासाद्रसनामूलशिलाबन्धः प्रणश्यति॥ कलां पराङ्गमुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्। सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते॥ (हठयोग. 3, 32-37 एवं घेरण्ड. 3, 23-25 तथा शिवपुराणादि)
योगगीता में आया है कि खेचरी मुद्रा के अभ्यास करने से भी नाद श्रवणाभ्यास की भाँति ही पहले तो योगी के सभी अङ्गों में स्फुटन होने लगता है और बाद में सिर काँपने लगता है। कभी-कभी सारी देह भी काँपती प्रतीत होती है। इसके बाद जिह्वा के अग्रभाग में अमृत का-सा स्वाद आने लगता है— खेचर्यभ्यासतोऽप्यादौ गात्राणां भञ्जनं भवेत्। शिरसः कम्पनं पश्चात्सर्वदेहस्य कम्पनम्॥ अमृतास्वादनं पश्चाज्जिह्वाग्रे सम्प्रवर्त्तते। योगनिद्रा भवेत्पश्चादभ्यासेन शनैः शनैः॥ (योगगीता 15, 83-84)

घृताद पेयं दष्टेन भक्ष्यं चिर्भटिकादिकम्।
दंशे कर्णमलो बद्ध्यश्चूर्णं वाभिनवं क्षणात्॥ 241॥

दंशित मनुष्य को घृत पान, चिर्भटिका (चरबोटी) आदि भक्षण करना, दंशस्थल पर कान का मैल या कलई का चूना, अराईश को बाँध देना चाहिए।

अन्यदप्याह —

पुनर्नवायाः श्वेताया गृहीत्वा मूलमम्बुभिः।
पिष्टं पाने प्रदातव्यं विषार्तस्यार्तिनाशनम्॥ 242॥

विष से पीड़ित मनुष्य को सफेद पुनर्नवा के मूल को पानी में घिसकर पिलानी चाहिए, इससे विष की पीड़ा दूर होती है।

अन्यदप्याह —

कन्दः सुदर्शनायाश्च जलैः पिष्टो निपीयते।
अथवा तुलसीमूलं निर्विषत्वविधित्सया॥ 243॥

विष निवारण की इच्छा से सुदर्शन का कन्द अथवा तुलसी की जड़ पानी में घिसकर पिलानी चाहिए।

अन्यदप्याह —

जलपिष्टैरगस्त्यस्य पत्रैर्नस्ये कृते सति।
राक्षसादिकदोषेण विषेण च विमुच्यते॥ 244॥

यदि अगस्त के पत्र को पानी में पीसकर नाक में डालें अर्थात् उसका नस्य प्रयोग करने से राक्षसादि और विष की पीड़ा का निवारण हो जाता है।*

अथ षड्दर्शन विचारक्रमः षण्णां दर्शनानां नामान्याह —

जैनं मैमांसकं बौद्धं साङ्ख्यं शैवं च नास्तिकम्।
स्वस्वतर्कविभेदन जानीयाद्दर्शनानि षट्॥ 245॥

छह दर्शनों की मान्यता है– 1. जैन, 2. मीमांसक, 3. बौद्ध, 4. सांख्य, 5. शैव और 6. नास्तिक या चार्वाक। ये अपने-अपने तर्क के भेद से सिद्ध हुए जानने चाहिए।**

---

* इस सम्बन्ध में कई उपाय गरुडपुराण और अग्निपुराणादि में वर्णित हैं, जिज्ञासु को वहाँ देखना चाहिए।

**यह ग्रन्थकार की मान्यता है। अन्यथा वेदान्त, न्याय, सांख्य, योग, वैशेषिक और मीमाँसा दर्शनों की मान्यता है— बौद्धं नैयायिकं साङ्ख्यं जैनं वैशेषिकं तथा। जैमिनीयं च नामानि दर्शनानामून्यहो॥ (षड्दर्शन. दर्शननाम. 3)
विवेकविलास में शैव के साथ नैयायिक और वैशेषिक का समावेश किया गया है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'षड्दर्शनसमुच्चय' में इन छहों दर्शनों का विवेचन किया है। उस पर गुणरत्नसूरि कृत तर्करहस्यदीपिका, सोमतिलकसूरि कृत लघुवृत्ति और अज्ञातकर्तृक की अवचूर्णि प्राप्त होती है।

अथ जैनमतम् —

बलभोगोपभोगानामुमयोर्दानलाभयोः।
नान्तरायस्तथा निद्राभीरज्ञानं जुगुप्सनम्॥ 246॥
हासो रत्यरती रागद्वेषावविरतिः स्मरः।
शोको मिथ्यात्वमेतेऽष्टादश दोषा न यस्य सः॥ 247॥
जिनो देवो गुरुः सम्यक्तत्वज्ञानोपदेशकः।
ज्ञानदर्शनचारित्राण्यपवर्गस्य वर्तनी॥ 248॥

(इनमें सर्वप्रथम जैनमत के विषय में कहा जा रहा है) इसमें 1. वीर्यान्तराय, 2. भोगान्तराय, 3. उपभोगान्तराय, 4. दानान्तराय और 5. लाभान्तराय– ये पाँच अन्तराय; 6. निद्रा, 7. भय, 8. अज्ञान, 9. घृणा, 10. हास्य, 11. रति, 12. अरति, 13. राग, 14. द्वेष, 15. अविरति, 16. कामविकार, 17. शोक और 18. मिथ्यात्त्व– ये अठारह दोष जिनमें नहीं होते हैं, वे भगवान् श्रीजिनदेव कहलाते हैं।* अच्छी प्रकार से तत्त्वज्ञान का उपदेश करें, वे गुरु कहलाते हैं और सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र–इन तीनों का योग मोक्षमार्ग कहा जाता है।

स्याद्वादश्च प्रमाणे द्वे प्रत्यक्षं च परोक्षकम्।
नित्यानित्यं जगत्सर्वं नव तत्त्वानि सप्त वा॥ 249॥

इसी प्रकार जैनमत में 'स्यादस्ति, स्यान्नास्ति' इत्यादि भङ्ग वाला स्याद्वाद और प्रत्यक्ष एवं परोक्ष– ये दो प्रमाण माने जाते हैं। सब जगत् द्रव्य से नित्य और पर्याय से अनित्य हैं और नौ, व (अपेक्षागत) सात तत्त्व भी हैं।

जीवाजीवौ पुण्यपापे आस्त्रवः संवरोऽपि च।
बन्धो निर्जरणं मुक्तिरेखां व्याख्याधुनोच्यते॥ 250॥

उक्त तत्वों में 1. जीव, 2. अजीव, 3. पुण्य, 4. पाप, 5. आस्त्रव, 6. संवर, 7. बन्ध, 8. निर्जरा और 9. मोक्ष– ये नौ तत्त्व हैं। अब इनके लक्षण कहता हूँ।

चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवस्तदन्यकः।
सत्कर्मपुद्गलाः पुण्यं पापं तस्य विपर्ययः॥ 251॥
आस्त्रवः कर्मसम्बन्धः कर्मरोधस्तु संवरः।
कर्मणां बन्धनाद्बन्धो निर्जरा तद्वियोजनम्॥ 252॥

---

* षड्दर्शनसमुच्चय में आया है— जिनेन्द्रो देवता तत्र रागद्वेषविवर्जितः। हतमोहमहामल्लः केवलज्ञानदर्शनः॥ सुरासुरेन्द्रसम्पूजयः सद्भूतार्थप्रकाशकः। कृत्स्नकर्मसंक्षयं कृत्वा सम्प्राप्तः परमं पदम्॥ (षड्दर्शन. जैन. 45-46)

अष्टकर्मक्षयान्मोक्षो ह्यन्तर्भावश्च कैश्चन।
पुण्यस्य संवरे पापस्यास्रवे क्रियते पुनः॥ 253॥

उक्त तत्त्वान्तर्गत 1. जिसमें चेतना हो वह जीव, 2. जिसमें चेतना नहीं वह अजीव, 3. कर्म के शुभ पुद्गल (भूतद्रव्य) हो तो पुण्य, 4. कर्म के अशुभ पुद्गल हो वह पाप, 5. जीव का कर्मों के साथ सम्बन्ध होना आस्रव, 6. जीव का बन्धन करने वाले कर्मों को रोकना संवर, 7. कर्म का बन्ध होना बन्ध, 8. कर्म का क्षय करना निर्जरा और 9. आठों कर्मों को क्षय कर कर्मों से विमुक्ति को मोक्ष कहा जाता है। कतिपय आचार्य पुण्य और संवर तथा पाप और आस्रव–इन दोनों को पृथक् नहीं मानते हैं, इसी कारण उनके मत से उक्त नौ ही सात तत्त्व के रूप में परिगणित हैं।

लब्धानन्तचतुष्कस्य लोकाग्रस्थस्य चात्मनः।
क्षीणाष्टकर्मणो मुक्तिख्यावृत्तिर्जिनोदिता॥ 254॥

जिनकी ज्ञान, दर्शन, वीर्य, और स्थिति– ये चारों वस्तुएँ अनन्त हैं, ऐसे और आठ कर्मों के क्षय से सिद्ध शिला पर रहे जीव का लौटकर इस संसार में नहीं आना ही मुक्ति है, ऐसा जिनदेव का मत है।

सरजोहरणा भैक्ष्यभुजो लुक्तञ्चितमूर्द्धजाः।
श्वेताम्बराः क्षमाशीला निःसङ्गा जैनसाधवः॥ 255॥

रजोहरण धारण करने वाले, भिक्षा पर अपना निर्वाह करने वाले, केशलोच करने वाले, कहीं पर ममत्व नहीं रखने वाले और क्षमाशील–श्वेताम्बरीय जैन सन्त की ऐसी सामान्य पहचान होती है।

लुञ्चिताः पिच्छिकाहस्ताः पाणिपात्रा दिगम्बराः।
ऊर्ध्वाशनागृहे दातुर्द्वितीयाः स्युर्ज़िनर्षयः॥ 256॥

केशलोच करने वाले, मयूरपिच्छी का रजोहरण धारण करने वाले, निर्वस्त्र रहने वाले और भिक्षा देने वाले के ही घर पर करपात्री होकर वहीं खड़े-खड़े आहार करने वाले दिगम्बरीय जैन साधु होते हैं।

भुण्क्ते न केवली न स्त्रीमोक्षः प्राहुर्दिगम्बराः।
एषामयं महान्भेदः सदा श्वेताम्बरैः सह॥ 257॥

केवली भोजन नहीं करे; स्त्री मोक्षगामी नहीं होती– ऐसा दिगम्बर कहते हैं। दिगम्बर-श्वेताम्बर में ऐसा सर्वदा भेद कहा गया है।

अथ मैमांसकम् —

मीमांसका द्विधा कर्म ब्रह्ममीमांसकत्वतः।
वेदान्ती मन्यते ब्रह्म कर्म भट्टप्रभाकरौ॥ 258॥

(अब मीमांसक मत को कहा जा रहा है) मीमांसकों के दो भेद हैं– कर्म मीमांसक और ब्रह्म मीमांसक। कुमारिल भट्ट और प्रभाकर ये कर्म मीमांसक होने से कर्म मानते हैं और वेदान्ती लोग ब्रह्म मीमांसक होने से ब्रह्म को मानते हैं।

प्रत्यक्षमनुमानं च शब्दश्चोपमया सह।
अर्थापत्तिरभावश्च भट्टानां षट्प्रमाण्यसौ॥ 259॥

भट्ट के मतानुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि– ये छह प्रमाण कहे गए हैं।

प्रभाकरमते पञ्चैवै तान्यभाववर्जनात्।
अद्वैतवादिवेदान्ति प्रमाणं तु यथा तथा॥ 260॥

प्रभाकर के मतानुसार अनुपलब्धि को छोड़ दें तो शेष रहे पाँच ही प्रमाण होते हैं। अद्वैतवादी वेदान्ती भी ऐसा ही मानते हैं।

सर्वमेतदिदं ब्रह्म वेदान्तेऽद्वैतवादिनाम्।
आत्मन्येव सयो मुक्तिर्वेदान्तिकमते मता॥ 261॥

अद्वैतवादी वेदान्ती के मतानुसार यह सर्व जगत् ब्रह्मरूप है और अपने स्वरूप में लय होना, यही उनके मतानुसार मुक्ति है।

अकुकर्मा सषट्कर्मा शूद्रान्नादिविवर्जकः।
ब्रह्मसूत्री द्विजो भट्टो गृहस्थाश्रमसंस्थितः॥ 262॥

पापकर्म को वर्जित करने वाला, अध्यापन इत्यादि छह क्रियाओं का यथाविधि सम्पादन करने वाला, शूद्रान्न आदि न लेने वाला, यज्ञोपवीत धारक विप्र गृहस्थ भट्ट कहा जाता है।

भगवान्नामधेयास्तु द्विजा वेदान्तदर्शने।
विप्रगेहीभुजस्त्यक्तोपवीता ब्रह्मवादिनः॥ 263॥

वेदान्ती मत के विप्र संन्यासी 'भगवन्' नाम से कहे जाते हैं। वे यज्ञोपवीत धारण नहीं करते, विप्र के गृह आहार लेते हैं और एक ब्रह्म को ही सद्वस्तु मानते हैं।

चत्वारो भगवद्भेदाः कुटीचरबहूदकौ।
हंसः परमहंसश्चाधिकोऽमीषु परः परः॥ 264॥

'भगवन्' नामाभिधान वाले संन्यासियों के चार भेद हैं– 1. कुटीचर, 2. बहूदक, 3. हंस और 4. परमहंस। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ स्वीकारे जाते हैं।

अथ बौद्धमतम् —

बौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणभङ्गुरम्।
आर्यसत्ताख्यया तत्त्व चतुष्टयमिदं क्रमात्॥ 265॥

(अब बौद्धमत के विषय में कहा जा रहा है) बौद्ध बुद्धदेव के प्रति आस्थावान होते हैं और जगत् को क्षणभङ्गुर और चार आर्यसत्यों, तत्त्वों को मानते हैं।

दुःखमायतनं चैव ततः समुदयो मतः।
मार्गश्चैतस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामतः॥ 266॥

बौद्धधर्म में स्वीकार्य चार आर्य सत्य हैं—1. दुःख, 2. आयतन, 3. समुदाय, और 4. मार्ग। अब इन तत्त्वों की व्याख्या अनुक्रम से सुनिये॥ 266॥*

दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः।
विज्ञानं वेदना सञ्ज्ञा संस्कारो रूपमेव च॥ 267॥**

बौद्धमतानुसार संसारी स्कन्ध ही दुःख है और ये स्कन्ध पाँच हैं— 1. विज्ञान स्कन्ध, 2. वेदना स्कन्ध, 3. संज्ञा स्कन्ध, 4. संस्कार स्कन्ध और 5. रूप स्कन्ध।

पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम्।
धर्मायतनमेतानि द्वाद्वशायतनानि च॥ 268॥卐

पाँच इन्द्रियाँ, शब्दादि पाँच विषय, चित्त और सुख-दुःखादि धर्मों का आधार शरीर— ये बारह आयतन कहे गए हैं।

रागादीनां गणो यस्मा त्समुदेति नृणां हृदि।
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः स स्यात्समुदयः पुनः॥ 269॥

आत्मात्मीय स्वभाव नाम से प्रसिद्ध जो राग-द्वेषादि विकार मनुष्य के हृदय में एकत्रित होते हैं, वे समुदाय कहलाते हैं।

क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति या वासना स्थिरा।
स मार्ग इति विज्ञेयः स च मोक्षोऽभिधीयते॥ 270॥

समस्त संस्कार क्षणिक हैं—ऐसी जो दृढ़ीभूत वासना, वही मार्ग जानना चाहिए और वही मोक्ष कहलाता है।

बौद्धमतमित्थंमभ्यधायि —

---

* हरिभद्रसूरि का मत है— तत्र बौद्धमते तावद्देवता सुगतः किलः। चतुर्णामार्यसत्यानां दुःखादीनां प्ररूपकः॥ (षड्दर्शन. बौद्ध. 4) चत्वार्यार्यसत्यानि— दुःखं समुदयो निरोधो मार्गश्चेति। (धर्मसं. पृष्ठ 5)

**यह श्लोक षड्दर्शनसमुच्चय (बौद्ध. 5) और आदिपुराण (5, 24) में आया है।

卐 यह श्लोक षड्दर्शनसमुच्चय (बौद्ध. 8) में आया है। विसुद्धमग्ग. में आया है— आयतनानि द्वादशायतनानि चक्खायतनं, रूपायतनं, सोतायतनं, सद्दायतनं, घानायतनं, गन्धायतनं, रसायतनं, कायायतनं, फोट्ठाब्बायतनं, मनायतनं, धम्मायतनं। (वि. म. पृष्ठ 334)

प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणद्वितयं पुनः।*
चतुःप्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः॥ 271॥

बौद्धमत वाले प्रत्यक्ष और अनुमान– ये दो ही प्रमाण मानते हैं। वैभाषिक (आर्यसमितीय), सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक ऐसे बौद्धों के चार भेद हैं।

अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते।
सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्ष ग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः॥ 272॥

वैभाषिक मान्यता वाले ज्ञान और अर्थ को स्वीकारते हैं। सौत्रान्तिक बाह्यवस्तु के इस विस्तार को प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं।

आचारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य सम्मता।
केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते माध्यमाः पुनः॥ 273॥

योगाचार मत वालों को आचार सहित बुद्धि सम्मत है अर्थात् वे साकार बुद्धि को ही परमतत्त्व स्वीकारते हैं। माध्यमिक मत वाले केवल अपने में ही रही हुई संविद् (ज्ञान) मानते हैं अर्थात् वे स्वाकार ज्ञान या निरालम्बन ज्ञान को ही परमतत्त्व मानते हैं।

रागादिज्ञानसन्तान वासनोच्छेदसम्भवा।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता॥ 274॥

रागादि के ज्ञान की सन्तान की वासना का मूलसहित उच्छेदन होने से जीवन से मुक्ति होती है। इस प्रकार चारों प्रकार के बौद्धों को सम्मत है।**

कृत्तिः कमण्डलुर्मौण्ड्यं चीरं पूर्वाह्नभोजनम्।
सङ्घो रक्ताम्बरत्वं च शिश्रिये बौद्धभिक्षुभिः॥ 275॥

बौद्ध मत के भिक्षुओं के द्वारा चर्म का आसन, कमण्डलु, मुण्डन, चीर, दोपहर में जीमना, सङ्घ और रक्ताम्बर वस्तुएँ मानी हुई हैं।

अथ साङ्ख्यमतम् —

साङ्ख्यैर्देवः शिवः कैश्चिन्मतो नारायणः परैः।
उभयोः सर्वमप्यन्यत्तत्त्वप्रभृतिकं समम्॥ 276॥

---

* यह श्लोक षड्दर्शनसमुच्चय (बौद्ध. 9) से तुलनीय है— प्रमाणे द्वे च विज्ञेये तथा सौगतदर्शने। प्रत्यक्षमनुमानं च सम्यग्ज्ञानं द्विधा यतः॥ इसी प्रकार कहा है— प्रत्यक्षानुमानं च प्रमाणं हि द्विलक्षणम्। प्रमेयं तत्प्रयोगार्थं न प्रमाणान्तरं भवेत्॥ (प्रमाणसमुच्चय 1, 2)

**श्लोक 271-274 सर्वदर्शनसंग्रह में पृष्ठ 46 पर भी आए हैं। षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में कहा है— अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणोच्यते प्रत्यक्षो नहि बाह्यवस्तुविसरः सौत्रान्तिकेराश्रितः। योगाचारमतानुगैरभिमता साकारबुद्धिः परा मन्यते बत मध्यमाः कृतधियः स्वस्थां परां संविदम्॥ (षड्दर्शन. पृष्ठ 75)

(अब सांख्य मत के बारे में कहा जा रहा है) कतिपय सांख्य मतावलम्बी शिव को और कतिपय विष्णु को देव मानते हैं किन्तु ये दोनों ही (पच्चीस) तत्त्व की गणनादि एक-सी करते हैं।*

साङ्ख्यानां स्युर्गुणाः सत्त्वं रजस्तम इति त्रयः।
साम्यावस्था भवत्येषां त्रयाणां प्रकृतिः पुनः॥ 277॥

सांख्यमत के अनुसार सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का ही नाम प्रकृतितत्त्व है।

प्रकृत्यात्मसंयोगात्सृष्टिर्जायते। अतः सृष्टिक्रममेवाह —

प्रकृतेः स्यान्महत्तत्त्वमहङ्कारस्ततोऽपि च।
पञ्च बुद्धिन्द्रियाणि स्युश्चक्षुरादीनि पञ्च च॥ 279॥
कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणि चरणोपस्थपायवः।
मनश्च पञ्चतन्मात्राः शब्दो रूपं रसस्तथा॥ 280॥
स्पर्शो गन्धोऽपि तेभ्यः स्यात्पृथ्व्याद्यं भूतपञ्चकम्।
इयं प्रकृतिरेतस्याः परस्तु पुरुषो मतः॥ 281॥

प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहङ्कार, अहङ्कार से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध– ये पाँच तन्मात्र और मन होता है। पाँच तन्मात्र से क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश– ये पाँच महाभूत होते हैं। इन समस्त 24 तत्त्वरूप प्रकृति से बिल्कुल पृथक् पुरुष (25वाँ) हैं।

पञ्चविंशतितत्त्वीयं नित्यं साङ्ख्यमते जगत्।
प्रमाणत्रितयं चात्र प्रत्यक्षमनुमागमः॥ 282॥

इन सब 25 तत्त्वों से से ही जगत् हुआ ऐसा सांख्यमत है।** प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम मिलाकर इसमें तीन प्रकार के प्रमाणों की मान्यता है।

यदैव जायते भेदः प्रकृतेः पुरुषस्य च।
मुक्तिरुक्ता तदा साङ्ख्यैः ख्यातिः सैव च भण्यते॥ 283॥

---

* षड्दर्शनसमुच्चय में कहा गया है— साङ्ख्या निरीश्वराः केचित्केचिदीश्वरदेवताः। सर्वेषामपि तेषां स्यात्तत्त्वानां पञ्चविंशति॥ (षड्दर्शन. 34)

**षड्दर्शनसमुच्चय में कहा गया है— ततः सञ्जायते बुद्धिर्महानिति यकोच्यते। अहङ्कारस्ततोऽपि स्यात्तस्मात्षोडशको गणः॥ स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च पञ्चमम्। पञ्च बुद्धीन्द्रियाण्यत्र तथा कर्मेन्द्रियाणि च। पायूपस्थवचः पाणिदाख्यानि मनस्तथा। अन्यानि पञ्च रूपादितन्मात्राणीति षोडश॥ रूपोत्तेजो रसादापो गन्धाद् भूमिः स्वरात्नभः। स्पर्शाद्वायुस्तथैवं च पञ्चभ्यो भूतपञ्चकम्॥ एवं चतुर्विंशतितत्त्वरूपं निवेदितं सांख्यमते प्रधानम्। अन्यस्त्वकर्ता विगुणश्च भोक्ता तत्त्वं पुमानन्नित्यचिदभ्युपेतः॥ (षड्दर्शन.37-41)

जब प्रकृति और पुरुष पृथक् हो अर्थात् प्रकृति का वियोग हो तब मोक्ष होता है, ऐसा सांख्य कहते हैं और वह मोक्ष ही 'ख्याति' के नाम से पहचाना जाता है।

साङ्ख्यः शिखी जटी मुण्डी कषायाद्यम्बरोऽपि च।
वेषेऽनास्थैव साङ्ख्यस्य पुनस्तत्त्वे महाग्रहः॥ 284॥

सांख्य मतावलम्बी शिखाधारी, जटाधारी और मुण्डी भी होते हैं और कषाय वस्त्र धारण करते हैं। इन्हीं वेश की विशेष कोई अपेक्षा नहीं किन्तु ये उपर्युक्त तत्त्वों के प्रति आग्रह रखते हैं।*

अथ शैवमतम् —

शिवस्य दर्शने तर्कावुभौ न्यायविशेषकौ।
न्याये षोडशतत्त्वी स्यात्षट्तत्त्वी च विशेषके॥ 285॥

शैवदर्शन में 'न्याय' और 'वैशेषिक' नाम के दो तर्क मत हैं। न्याय मत में 16 तत्त्व और वैशेषिक मत में 6 तत्त्व स्वीकारे गए हैं।**

अन्योऽन्यतत्त्वान्तर्भावाद्द्वयोर्भेदोऽस्ति नास्ति वा।
द्वयोरपि शिवो देवो नित्यः सृष्ट्यादिकारकः॥ 286॥

एक मत वाले के 16 और दूसरे के 6 तत्त्व मानने से इनमें परस्पर भेद हैं। तब भी 16 तत्त्वों का 6 तत्त्वों में सम्मिलन कर लिया जाए तो विशेष भेद नहीं हैं। दोनों के मत से देव शिव हैं जो कि नित्य और सृष्टि व स्थिति तथा संहारकर्ता है।

नैयायिकानां चत्वारि प्रमाणानि मतानि च।
प्रत्यक्षमागमोऽन्यच्चानुमानमुषमापि च॥ 287॥

उक्त शैव दर्शन के न्याय मत के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द– ये चार प्रमाण कहे जाते हैं।

प्रमाणं च प्रमेयं च संशयश्च प्रयोजनम्।
दृष्टान्तोऽप्यथ सिद्धान्तावयवौ तर्कनिर्णयौ॥ 288॥
वादो जल्पो वितण्डा च हेत्वाभासाश्छलानि च।
जायतो निग्रहस्थानानीति तत्वानि षोडश॥ 289॥

---

* कहा भी गया है— पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः। शिखी मुण्डी जटी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥ (सांख्यकारिका माठरवृत्ति पृष्ठ 38)

**यह मान्यता षड्दर्शनसमुच्चय की टीका के अनुसार प्रतीत होती हैं जिसमें कहा गया है कि नैयायिक लोग सदा शिव की भक्ति करते हैं अतः शास्त्रों में इन्हें शैव कहा गया है तथा वैशेषिकों को पाशुपत कहते हैं— शास्त्रेषु नैयायिकाः सदा शिवभक्तत्वाच्छैवा इत्युच्यन्ते, वैशेषिकास्तु पाशुपता इति। (षड्दर्शन. पृष्ठ 78) आचार्य हरिभद्रसूरि का भी मत है— अक्ष (आक्ष) पादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छिवः। विभुर्नित्यैकसर्वज्ञो नित्यबुद्धिसमाश्रयः॥ देवताविषयो भेदो नास्ति नैयायिकैः समम्। वैशेषिकाणां तत्त्वे तु विद्यतेऽसौ निदर्श्यते॥ (तत्रैव 13 तथा 5, 59)

इसके अतिरिक्त न्याय मत के 1. प्रमाण, 2. प्रमेय, 3. संशय, 4. प्रयोजन, 5. दृष्टान्त, 6. सिद्धान्त, 7. अवयव, 8. तर्क, 9. निर्णय, 10. वाद, 11. जल्प, 12. वितण्डा, 13. हेत्वाभास, 14. छल, 15. जाति एवं 16. निग्रहस्थल– ये सोलह पदार्थ, तत्त्व कहे गए हैं।

वैशेषिकमते तावत्प्रमाणत्रितयं भवेत्।
प्रत्यक्षमनुमानं च तार्तीयिक्स्तथागमः॥ 290॥

इसी प्रकार से 1. प्रत्यक्ष, 2. अनुमान और 3. शब्द ये ही प्रमाण वैशेषिक के मतानुसार कहे गए हैं।

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम्।
समवायश्च षट्तत्वी तद्व्याख्यानमथोच्यते॥ 291॥

वैशेषिक के मतानुसार 1. द्रव्य, 2. गुण, 3. कर्म, 4. सामान्य, 5. विशेष और 6. समवाय– ये छह तत्त्व कहे गए हैं।

द्रव्यं नवविधं प्रोक्तं पृथिवीजलवह्नयः।
वायुर्दिक्काल आत्मा च गगनं मन एव च॥ 292॥

वैशेषिक के मतानुसार 1. पृथ्वी, 2. जल, 3. अग्नि, 4. वायु, 5. आकाश, 6. काल, 7. दिशा, 8. आत्मा और 9. मन– ये नौ द्रव्य हैं।

नित्यानित्यानि चत्वारि कार्यकारणभावतः।
व्योम दिक्काल आत्मा च मनो नित्यानि पञ्च च॥ 293॥

इनमें कार्य-कारण भाव से पृथ्वी, जल, तेज, और वायु– ये चार द्रव्य कारण रूप से अनित्य और कार्यरूप से अनित्य हैं और आकाश, दिशा, काल, आत्मा, और मन– ये पाँच द्रव्य केवल नित्य ही हैं।

स्पर्शो रूपं रसो गन्धः सङ्ख्याथ परिमाणकम्।
पृथक्त्वमथ संयोगो विभागश्च परत्वकम्॥ 294॥
अपरत्वं बुद्धिसौख्ये दुःखेच्छे द्वेषयत्नकौ।
धर्माधर्मौ च संस्कारो गुरुत्वं द्रवतेत्यपि॥ 295॥
स्नेहः शब्दो गुणा एवं विंशतिश्चतुरन्विता।

वैशेषिक के मतानुसार 1. स्पर्श, 2. रूप, 3. रस, 4. गन्ध, 5. संख्या, 6. परिमाण, 7. पृथक्त्व, 8. संयोग, 9. विभाग, 10. परत्व, 11. अपरत्व, 12. बुद्धि, 13. सौख्य, 14. दुःख, 15. इच्छा, 16. द्वेष, 17. प्रयत्न, 18. धर्म, 19. अधर्म, 20. संस्कार, 21. गुरुत्व, 22. द्रवत्व, 23. स्नेह और 24. शब्द– ये चौबीस गुण हैं।

अथ कर्माणि वक्ष्यामः प्रत्येकमभिधानतः॥ 296॥

उत्क्षेपणापक्षेपणा कुञ्चनं च प्रसारणम्।
गमनानीति कर्माणि पञ्चोक्तानि तदागमे॥ 297॥

अब प्रत्येक के नामानुसार उनके कर्म का भेद कहा जा रहा है– 1. उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना), 2. अपक्षेपण (नीचे फेंकना), 3. आकुञ्चन (खींच लेना), 4. प्रसारण (फैलाना) और 5. गमन– ये पाँच प्रकार के कर्म वैशेषिक मतानुसार कहे हैं।

सामान्यं भवति द्वेधा परं चैवापरं तथा।
परमाणुषु वर्तन्ते विशेषा नित्यवृत्तयः॥ 298॥

पर और अपर– ये दो प्रकार सामान्य के कहे हैं। नित्य द्रव्य पर रहने वाले विशेष परमाणुओं में वे विद्यमान रहते, वर्तते हैं।

भवेदयुतसिद्धानामाधाराधेयवर्तिनाम्।
सम्बन्धः समावायाख्य इह प्रत्ययहेतुकः॥ 299॥

अवयव और अवयवी, गुण और गुणी आदि अयुत सिद्ध वस्तु का पारस्परिक भावरूप सम्बन्ध वैशेषिक मतानुसार समवाय कहलाता है। समवाय से समवेत वस्तु का परिज्ञान होता है।

विषयेन्द्रियबुद्धिनां वपुषः सुखदुःखयोः।
अभावादात्मसंस्थानं मुक्तिर्नैयायिकैर्मता॥ 300॥

नैयायिक मत वाले शब्द, स्पर्श आदि विषय, इन्द्रिय, बुद्धि, शरीर, सुख और दुःख का अत्यन्त अभाव होने पर एक आत्मा का रहना ही मुक्ति कहते हैं।

चतुर्विंशतिवैशेषिकगुणान्तर्गुणा नव।
बुद्ध्यादयस्तदुच्छेदो मुक्तिर्वैशेषिका तु सा॥ 301॥

वैशेषिक मतानुसार पूर्वोक्त 24 गुणों में से 1. बुद्धि, 2. सुख, 3. दुःख, 4. इच्छा, 5. द्वेष, 6. प्रयत्न, 7. धर्म, 8. अधर्म और 9. संस्कार– इन नौ गुणों का मूल सहित उच्छेदन होने से मुक्ति होती है, ऐसा वैशेषिकों का मत है।

शैवादिभेदेन चतुर्धा भवन्ति —

आधारभस्मकौपीन जटायज्ञोपवीतिनः।
स्वस्वा(मन्त्रा!)चारादिभेदेन चतुर्धा स्युस्तपस्विनः॥ 302॥

आधार (रहने के स्थान), भस्म, कौपीन, जटा और यज्ञोपवीत– ये समस्त चीजें धारण करने वाले तापस अपने-अपने आचार, मन्त्र भेद से चार प्रकार के हैं।

शैवाः पाशुपताश्चैव महाव्रतधरास्तथा।
तुर्याः कालमुखो मुख्या भेदा एते तपस्विनाम्॥ 303॥*

तापसों में 1. शैव, 2. पाशुपत, 3. महाव्रतधर और 4. कालमुख– ये चार प्रकार के तपस्वी कहे गए हैं।

अथ नास्तिकमतम् —

पञ्चभूतात्मकं वस्तु प्रत्यक्षं च प्रमाणकम्।
नास्तिकानां मते नान्यदात्मामुत्र शुभाशुभम्॥ 304॥

(अब नास्तिक मत के विषय में कहा जा रहा है) नास्तिक मत के अनुसार संसार की समस्त वस्तुएँ पञ्चभूत से उत्पन्न हैं। एकमात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है और शेष आत्मा, परलोक, पुण्य-पाप इत्यादि की बातें व्यर्थ हैं।**

प्रत्यक्षमविसंवादि ज्ञानमिन्द्रियगोचरः।
लिङ्गतोऽनुमितिर्धूमादिव वह्नेरवस्थितिः॥ 305॥
अनुमानं त्रिधा पूर्वशेषसामान्यतो यथा।
वृष्टेः सस्यं नदीपूराद्वृष्टिरस्ताद्रवेर्गतिः॥ 306॥

उनका मत है कि जो मिथ्या न हो, ऐसा ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। इन्द्रियों को जो अपने विषय का ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष में समाहित है। जैसे धूम्र से अग्नि की कल्पना की जा सकती है, वैसे किसी हेतु पर से कल्पना करना अनुमान कहा जाता है। उनके लिए 1. पूर्वानुमान, 2. शेषानुमान और 3. सामान्य अनुमान– ये तीन प्रकार के अनुमान हैं। इनमें से जैसे वृष्टि पर्याप्त हो तो 'भविष्य में पैदावार अच्छी होगी' इस प्रकार की कल्पना हो तो 'पूर्वानुमान' कहा जाता है। नदी का पूर देखकर वृष्टि की कल्पना करना 'शेषानुमान' कहा जाता है। इसी प्रकार सूर्यास्त देखकर भास्कर की गति की कल्पना करना 'सामान्य अनुमान' कहा जाता है।

ख्यातं सामान्यतः साध्यसाधनं चोपमा यथा।
स्याद्गोवद्गवयः सास्ना दिमत्वमुभयोरपि॥ 307॥

इसी प्रकार सादृश्य से साध्यवस्तु सिद्ध करनी 'उपमिति' कहलाती है। जैसे बैल और गवय (गाय जैसा जङ्गली जानवरी, रोज) दोनों के सास्नादि अवयव

---

* उक्त दोनों ही श्लोक षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में (पृष्ठ 78) उद्धृत है।

** षड्दर्शनसमुच्चय में आया है— लोकायता वदन्त्येवं नास्ति जीवो न निर्वृतिः। धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः॥ एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः। भद्रे वृकपदं पश्य यद्वदन्त्यबहुश्रुताः॥ पिब खाद च चारुलोचने यदतीतं वरगात्रि तन्न ते। न हि भीरु गतं निवर्तते समुदयमात्रमिदं कलेवरम्॥ पृथ्वी जलं तथा तेजो वायुर्भूतचतुष्टयम्। आधारो भूमिरेतेषां मानं त्वक्षजमेव हि॥ पृथ्व्यादिभूतसंहत्या तथा देहपरीणतेः। मदशक्तिः सुराङ्गेभ्यो यद्वत्तद्वच्चिदात्मनि॥ (षड्दर्शन. लोकायतन. 84-84)

लगभग समान होने से बैल जैसा गवय कहा जाता है, यह उपमिति विचार है।

आगमश्चाप्तवचनं स च कस्वापि कोऽपि च।
वाच्याप्रतीतौ तत्सिद्धद्यै प्रोक्तार्थापत्तिरुत्तमैः॥ 308॥

आप्त (राग-द्वेषादि रहित) पुरुष का वचन 'आगम' (शब्द) कहा जाता है। आप्त पुरुष इन मतावलम्बियों के पृथक्-पृथक् हैं। शब्दार्थ की सम्यक् जानकारी नहीं होने पर उनकी बराबरी के लिए जो प्रमाण लिया जाता है, वह 'अर्थापत्ति' है।

बटुः पीनो दिवा नात्ति रात्रावित्यर्थतो यथा।
पञ्चप्रमाणासामर्थ्ये वस्तुंसिद्धिरभावतः॥ 309॥

जिस प्रकार विद्यार्थी दिन में भोजन नहीं करता तब भी पुष्ट है, इस कथन का बराबर अर्थ होने के लिए 'रात को आहार करता है' ऐसी कल्पना की जाती है तो 'अर्थापत्ति' है। उक्त पाँचों प्रमाणों से यदि कोई सिद्धि नहीं हो तो वह 'अभाव' या अनुपलब्धि प्रमाण से सिद्ध हो सकती है यथा– कोठरी में कलश नहीं, कारण? पता नहीं चलता– इस प्रकार से 'अभाव' प्रमाण होता है।

अन्यदप्याह —

स्थापितं वादिभिः स्व स्व मतं तत्वप्रमाणतः।
तत्वं सत्परमार्थेन प्रमाणं तत्वसाधकम्॥ 310॥

इस प्रकार वादियों ने तत्त्वप्रमाण से अपने-अपने मत को इसी प्रकार स्थापित किया है। परमार्थ से जो सत्य है वह तत्त्व और तत्त्व का साधक प्रमाण कहलाता है।

सन्तु शास्त्रणि सर्वाणि सरहस्यानि दूरतः।
एकमप्यक्षरं सम्यक् शिक्षितं निष्फलं नहि॥ 311॥

मान्यता है कि सर्वशास्त्र और उनके रहस्यों से दूर रहो किन्तु यदि एक अक्षर भी सम्यक् प्रकार से सीखा गया हो, तो वह व्यर्थ नहीं जाता है।

इत्यमनन्तर वचनव्यवहारनिर्णयं —

विमर्शपूर्वकं स्वार्थ स्थापकं हेतुसंयुतक्।
स्तोकं कार्यकरं स्वादु निगर्वं निपुणं वदेत्॥ 312॥

बुद्धिमान मनुष्य को प्रयोजन प्रकट करने के अर्थ में थोड़ा, मधुर, अहङ्कार रहित और कार्य का साधन हो जाए, ऐसा वचन सयुक्ति और भलीभाँति विचार कर बोलना चाहिए।

उक्तः सप्रतिभो ब्रूयात्सभायां सूनृतं वचः।
अनुक्लण्ठमदैन्यं च सार्थकं हृदयङ्गमम्॥ 313॥

किसी बैठक, सभा या पञ्चायत में जब कोई परामर्श लें तो सुज्ञ व्यक्ति को

सत्य वचन, मधुर, सीधा व दैन्य रहित सार्थक वचन जो कि लोगों का हृदय आकर्षित करें, बोलना चाहिए।

उदारं विकथोन्मुक्तं गम्भीरमुचितं स्थिरम्।
अपशब्दोज्झितं लोकमर्मास्पर्शि सदा वदेत्॥ 314॥

इसी प्रकार उदार, विकथा रहित, गम्भीर, उचित, स्थिर, अनर्गल प्रलाप रहित और किसी के मर्म को स्पर्श नहीं करे– सदा ऐसा ही कथन कहना चाहिए।

सम्बद्धं शुद्धसंस्कारं सत्यानृतमनाहतम्।
स्पष्टार्थं मार्दवोपेत महसंश्च वदेद्वचः॥ 315॥

ज्ञानी को सम्बन्धों पर विचार कर, व्याकरण के नियमानुसार शुद्ध, किसी प्रकार की आपत्ति न आए और स्पष्टार्थ प्रकट हो– ऐसा कोमल वचन व्यवहार में बिना हंसे ही कहना चाहिए।

प्रस्तावेऽपि कुलीनानां हसनं स्फुरदोष्ठकम्।
अट्टहासोऽतिहासश्च सर्वथानुचितः पुनः॥ 316॥

सम्भ्रान्त लोगों का हंसना इतना ही हो कि हास्यावसर पर केवल ओठ चौड़े हो जाए किन्तु मर्यादा का उल्लङ्घन कर, अकारण अट्टहास करना अनुचित हो सकता है।

आत्मश्लाघा श्रवणान्नगर्वन्निषेधं —

न गर्वः सर्वथा कार्यो भट्टादीनां प्रशंसया।
व्युत्पन्नश्लाघया कार्यः स्वगुणानां तु निश्चयः॥ 317॥

समझदार व्यक्ति को कभी याचकों के मुँह से अपनी प्रशंसा सुनकर गर्व से चूर नहीं हो जाना चाहिए अपितु यदि पण्डितों ने प्रशंसा की हो तो अपने गुणों का निश्चय करना उचित है।

कस्यापि चाग्रतौ नैव प्रकाश्यः स्वगुणः स्वयम्।
अतुच्छत्वेन तुच्छोऽपि वाच्यः परगुणः पुनः॥ 318॥

इसी प्रकार ज्ञानी को किसी के सामने चलकर अपने गुणों को प्रकट नहीं करना चाहिए और दूसरे के गुण स्वल्प भी हों तो बढ़ाकर उनकी प्रशंसा करनी चाहिए।

अन्यदप्याह —

अवधार्या विशेषोक्तिः परवाक्येषु कोविदैः।
नीचेन स्वं प्रति प्रोक्तं यत्तन्नानुवदेत्सुधी॥ 319॥

ज्ञानी को दूसरों के वचनों का गूढ़ अभिप्राय ध्यानपूर्वक समझना चाहिए

और अधम यदि अनुचित कथन करें तो भी अपनी ओर से उसे अनर्गल नहीं कहना चाहिए।

अनुवादादरासूयान्योक्तिसम्भ्रमहेतुषु।
विस्मयस्तुतिवीप्सासु पौनरुक्त्यं स्मृतौ न च॥ 320॥

वचनों में अनुवाद, आदर, अनदेखी, अन्योक्ति, सम्भ्रम, हेतु, आश्चर्य, स्तुति, वीप्सा और स्मरण इनमें से यदि कोई कारण हो तो पुनरुक्ति दोष नहीं जानना चाहिए।

अन्यदपि —

न च प्रकाशयेद्गुह्यां दक्षः स्वस्य परस्य च।
चेत्कर्तुं शक्यते मौनमिहामुत्र च तच्छुभम्॥ 321॥

भले व्यक्ति को अपनी और पराई गुप्त चर्चा कभी प्रकट नहीं करनी चाहिए क्योंकि जो सम्मान रह सकें तो इहलोक और परलोक में प्रशस्त होता है।

सदा मूकत्वमासेव्यं वाच्यमानेऽन्यमर्मणि।
श्रुत्वा तथा स्वमर्माणि बाधिर्यं कार्यमुत्तमैः॥ 322॥

जब कभी परनिन्दा होती हो, वहाँ ज्ञानी को हमेशा मौन साध लेना चाहिए और यदि आलोचनात्मक वचन सुन भी लिए हो तो बधिर हो जाना चाहिए अर्थात् सुना-अनसुना कर देना ही उचित है।

कालन्नयेऽपि यत्किञ्चिदात्मप्रत्ययवर्जितम्।
एवमेतादिति स्पष्टं व नाच्यं चतुरेण तत्॥ 323॥

चतुर व्यक्ति को यदि किसी विषय में सन्तुष्टि नहीं हो तो उस विषय में 'यह ऐसा ही है' इस तरह अपना निश्चय नहीं कहना चाहिए।

परार्थस्वार्थराजार्थ कारकं धर्मसाधकम्।
वाक्यं प्रियं हितं वाच्यं देशकालानुगं बुधैः॥ 324॥

चतुर को मधुर, हितकारी, अपना, पराया और राजा का कार्य सिद्ध हो तथा धर्म की साधना हो, ऐसा वचन देश-काल को ध्यान में रखकर कहना चाहिए।

स्वामिनां स्वगुरुणां च नाधिक्षेप्यं वचो बुधैः।
कदाचिदपि चैतेषां जल्पतां नान्तरा वदेत्॥ 325॥

सज्जनों को अपने स्वामी और गुरु के वचन पर मतभेद नहीं बढ़ाना चाहिए। यदि स्वामी या गुरु बात करते हों तो बीच में किसी भी समय नहीं बोलना चाहिए।

कार्यार्थ कथनोक्तिं —

आरभ्यते नरैर्यच्चाकार्यं कारयितुं परैः।
दृष्टान्तान्योक्तिभिर्वाच्यं तदग्रे पूर्वमेव तत्॥ 326॥

जब भी किसी अन्य से कोई कार्य लेना हो तो पहले ही उस कार्य को किसी अन्योक्ति या दृष्टान्त से उसके सामने कह देना चाहिए।

यदि वान्येन केनापि तत्पूर्वं जल्पितं भवेत्।
प्रमाणमेव तत्कार्यं स्वप्रयोजनसिद्धये॥ 327॥

हर किसी काम में अपने वचन से मिलते दूसरे किसी का वचन हो, तो वह अपने कार्य की सिद्धि के लिए प्रमाण ही करना उचित है।

यस्य कार्यमशक्यं स्यात्तस्य प्रागेव कथ्यते।
नैहिरेयाहिरां कार्यो वचोभिर्वितथैः परः॥ 328॥

जिसका काम अपने से सम्भव न हो सके, तो उसे पहले ही अपनी अशक्तता कह देनी चाहिए। मिथ्या वचन कहकर व्यर्थ ही उसे धक्के नहीं देना चाहिए।

वैभाष्यं नैव कस्यापि वक्तव्यं द्विषतां तु चेत्।
उच्यते तदपि प्राज्ञैरन्योक्तिच्छलभङ्गिभिः॥ 329॥

कभी किसी को कटु नहीं कहें, सुज्ञ मनुष्य को शत्रु को टेढ़े वचन कहने हो तो भी अन्योक्ति से, किसी बहाने से या व्यंग्योक्ति से ही कहने चाहिए।

शिक्षा तस्मै प्रदातव्या यो भवेत्तत्र यत्नवान्।
गुरु साहसमेतद्धि कथ्यते यदपृच्छतः॥ 330॥

जो सीख मानकर उसके अनुसरण में रुचिशील हो, उसी को परामर्श देना चाहिए। बिना पूछे किसी को कुछ कहना यह किसी साहस से कम नहीं है।

कलहनिषेधं —

मातृपित्रातुराचार्या तिथिभर्तृतपोधनैः।
वृद्धबालाबलावैद्यापत्यदायादकिङ्करैः॥ 331॥
श्वशुराश्रितसम्बन्धि वयस्यैः सार्धमन्वहम्।
वाग्विग्रहमकुर्वाणो विजयेत जगत्त्रयम्॥ 332॥

जो व्यक्ति अपने जीवन में माता-पिता, रोगी, आचार्य, अतिथि, स्वामी, तपस्वी, वृद्ध, बालक, दुर्बल, वैद्य, अपने पुत्र, भाई-बन्धु, सेवक, ससुर, आश्रित, सम्बन्धी और मित्र के साथ निरन्तर कलह नहीं करता है, वह तीन लोक को जीत लेता है।

अथ लोक्यानालोक्य प्रक्रमाह —

पश्येदपूर्वतीर्थानि देशान्वस्त्वन्तराणि च।
लोकोत्तरान्नरांश्छायापुरुषं शकुनं तथा॥ 333॥

(अब देखने के योग्य-अयोग्य वस्तु के विषय में कहा जा रहा है) अपूर्व तीर्थ, नाना देश, नाना प्रकार की वस्तुएँ, अलौकिक पुरुष, छाया पुरुष* और शकुन** ये समस्त वस्तुएँ देखनी चाहिए।

न पश्येत्सर्वदादित्यं ग्रहणं चार्कसोमयोः।
नेक्षेताम्भो महाकूपे सन्ध्यायां गगनं तथा॥ 334॥

कभी सूर्य की ओर नहीं देखना चाहिए। सूर्य व चन्द्र ग्रहण, बड़े कूप के अन्दर के जल और सन्ध्याकाल में आकाश दर्शन नहीं करना चाहिए।

मैथुनं मृगयां नग्नां स्त्रियं प्रकटयौवनाम्।
पशुक्रीडा च कन्यायां योनिं नालोकयेन्नरः॥ 335॥

समझदार को स्त्री-पुरुष का सहवास, नग्नावस्था की तरुणी, कन्या का गुप्ताङ्ग और पशु क्रीड़ा को नहीं देखना चाहिए।

न तैले न जले नास्त्रे न मूत्रे रुधिरे न च।
वीक्षेत वदनं विद्वानित्यमायुस्त्रुटिर्भवेत्॥ 336॥

इसी प्रकार सुज्ञ पुरुष को अपने मुँह का प्रतिबिम्ब तेल में, जल में अस्त्र में,

---

* छायापुरुष दर्शन की विधि शिवस्वरोदय में आई है। इसी प्रकार रामचन्द्र सोमयाजी ने भविष्य सूचक छायापुरुष के प्रमाण लिखे हैं— प्रातः पृष्ठगते रवावनिमिषं छायां गले स्वां चिरं दृष्ट्वोर्ध्वं नयनेन यत्सिततरं छायानरं पश्यति। तत्कर्णासकरास्यपार्श्वहृदयाभावेक्षणेऽर्कांश्चदिग्भूरामाक्षिसमाः शिरोविमगतो मासांस्तु षट् जीवति॥ हृद्रंध्रंदृष्ट्या मुनि सङ्ख्यमासान् द्विदेहदृष्टौ तु मृतिस्तदैव। सम्पूर्णदृष्टौ तु न वर्ष मध्ये रोगो मृतिर्नेति वदन्ति सत्यम्॥ स्नातस्य पूर्वं कर्णादिः शोषे प्रागुक्तवत्फलम्। सर्वाङ्गार्द्रस्य हच्छोषे षण्मासाभ्यन्तरे मृतिः॥ हस्ते न्यस्ते यदि न च्छिन्नदण्डोऽस्य दृष्टः षण्मासान्तर्न मरणभयं सम्पुटे हस्तयोस्तु। न्यस्ते शीर्षे यदि च कदलीकोरकाभं तदन्तर्दृष्टं नो भीस्तरति सलिले चेत्स्वशेफो नमृत्युः॥ (समरसार 79-82)

** सामान्यतया जो-जो वस्तु मन के लिए प्रसन्नता की कारक है, उनको शकुन कहा गया है— यद् यद् वस्तु स्वान्तनितान्तोपकरण मनः प्रसन्नकारकं, तत् तत् शुभशकुनं ज्ञेयम्। शकुन के विषय में वराहमिहिर का सिद्धान्त है कि अन्य जन्मान्तरों में किए गए शुभाशुभ कर्मों का फल ही लोगों की यात्रा अथवा आक्रमण के काल में शकुनों द्वारा सामने आता है- अन्यजन्मान्तरकृतं पुंसा कर्म शुभाशुभम्। यत्तस्य शकुनः पाकं निवेदयति गच्छताम्॥ (बृहद्योगयात्रा 23, 1 तथा बृहत्संहिता 86, 5)
श्रीपति के मतानुसार निम्नशकुन है—भृङ्गाराञ्जनवर्द्धमान मुकुराबद्धेकपश्चा मिषोष्णीष क्षीरनृयान-पूर्णकलशच्छत्राणि सिद्धार्थकाः। वीणाकेतनमीनपङ्कज दधिक्षौद्राज्य गोरोचनाः कन्याशङ्खसि-तोक्षवस्तुमनोविप्राश्वरत्नानि च॥ प्रज्वलज्वलन-दन्ति तुरङ्गाभद्रपीड गणिकाङ्कुशमृत्स्नाः। अक्षतेक्षुफल-चामरभक्षाण्यायुधानि च भवन्ति शुभानि॥ भेरिमृदङ्ग मृदुर्मद्दल शङ्खवीणा वेदध्वनिर्मधुरमङ्गलगीतघोषाः। पुत्रान्विता च युवतीः सुरभिः सवत्सा धौताम्बरश्च रजकोऽभिमुखः प्रशस्तः॥ (ज्योतिषरत्नमाला 15, 62-64)

मूत्र में और रक्त में नहीं देखना चाहिए। ऐसा करने से आयुष्य कम होता है।*

अथ निरीक्षणप्रक्रमाह —

ऋजु शुक्लं प्रसन्नस्य रौद्रं तिर्यक् च कोपिनः।
सविकासं सपुण्यस्याधोमुखं पापिनः पुनः॥ 337॥
शून्यं व्यग्रमनस्कस्य वलितं चानुरागिणः।
मध्यस्थं वीतरागस्य सरलं सज्जनस्य च॥ 338॥
असम्मुखं विलक्षस्य सविकारं तु कामिनः।
भ्रूभङ्गवक्रमीर्ष्यालोर्भ्रान्तं मत्तस्य सर्वतः॥ 339॥
जलाविलं च दीनस्य चञ्चलं तस्करस्य च।
अलक्षितार्थं निद्रालो र्वित्रस्यं भीरुकस्य च॥ 340॥
बहवो वीक्षणस्यैवं भेदाः कति तु दर्शिताः।

(अब दृष्टि विचार कहा जा रहा हैं) प्रसन्न व्यक्ति की दृष्टि सदा सरल और उज्वल होती है; क्रोधी मनुष्य की भयोत्पादक और वक्र; पुण्यशाली मनुष्य की प्रफुल्लित; पापी पुरुष की नीची; व्यग्रचित्त वाले की शून्य; रोगी की पीछे घूमने वाली; मध्यस्थ की मध्यप्रदेश में रहने वाली, सज्जन की सरल, विलखे मनुष्य की आड़ी- तिरछी, कामी पुरुष की विकारमय, अनदेखी करने वाले की भ्रमर के मोड़ से टेढ़ी, मदोन्मत्त पुरुष की अश्रु से मलीन, चोर-तस्कर की चञ्चल, निद्रालु-मूर्च्छित और भयभीत की दृष्टि कम्पित होती है। इस प्रकार दृष्टि के बहुत से भेद हैं। इनमें से कतिपय यहाँ कहे गए हैं।

अथ नेत्रस्वरूपम् —

दृक्स्वरूपमथो वक्ष्ये स्वभावोपाधिसम्भवन्॥ 341॥
रक्तत्वं धवलत्वं च श्यामत्वमतिनिर्मलम्।
पर्यन्तपार्श्वतारासु दृशोः शस्यं यथाक्रमम्॥ 342॥

अब स्वभावात् व सकारण उत्पन्न नेत्रों का स्वरूप कहता हूँ। आँखों के किनारे लाल और निर्मल हो तो अच्छे, कीकी के दोनों पर्दे श्वेत और निर्मल हों तो अच्छे और कीकी काली और निर्मल हो तो अच्छी होती है।**

---

* मनुस्मृति में आया है— नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन। नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्॥ (मनु. 4, 37) इसी प्रकार विष्णुस्मृति में आया है— नादित्यमुद्यन्तमीक्षेत। नास्तं यान्तम्। न वाससा तिरोहितम्। न चादर्श जलमध्यगतम्। न मध्याह्ने। (विष्णु. 71) और— अस्तकाले रविं चन्द्रं न पश्येद् व्याधिकारणम्। (ब्रह्मवैवर्त. श्रीकृष्णजन्म. 75, 24)

**यह वर्णन सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार है, अङ्गविद्या विषयक ग्रन्थों में विस्तार से मिलता है।

हरितालप्रभैश्चक्री नेत्रैर्नीलैरहमदः।
रक्तैनृपः सितैर्ज्ञानी मधुपिङ्गैर्मर्महाधनः॥ 343॥

यदि हरताल जैसी आँखे हों तो व्यक्ति चक्रवर्ती होता है; नीलवर्ण हो तो अहङ्कारी; लाल हो तो राजा; सफेद हो तो ज्ञानी और मधु जैसे पिङ्गल वर्ण की हो तो महाधनी होता है।

सेनाध्यक्षो गजाक्षः स्याद्दीर्घाक्षश्चिरजीवितः।
विस्तीर्णाक्षो महाभोगी कामी पारावतेक्षणः॥ 344॥

यदि गज जैसी आँखें हो तो सेनापति; लम्बी हों तो चिरायु; चौड़ी हों तो बहुत सुख भोगने वाला और कबूतर जैसे वर्ण की हो तो व्यक्ति कामी होता है।

नकुलाक्षा मयूराक्षा मध्यमाः पुरुषाः पुनः।
काकाक्षा धूमराक्षाश्च मण्डूकाक्षाश्च तेऽधमाः॥ 345॥

नकुल जैसी; मयूर जैसी आँख वाले पुरुष मध्यम होते हैं। कौआ, मेंढ़क और धूम्र के वर्ण जैसी आँख वाले मनुष्य अधम होते हैं।

दुष्टो दारुणदृष्टिः स्यात्कुक्कुटाक्षः कलिप्रियः।
दृष्टिरागो भुजङ्गाक्षो मार्जाराक्षस्तु पातकी॥ 346॥

क्रूर नेत्र वाला पुरुष दुष्ट; मुर्गे जैसी आँख वाला कलहकारी, सर्प जैसी आँख वाला नेत्ररोगी और बिलाव जैसी आँख वाला पापी होता है।

श्यामदृक्सुभगः स्निग्धलोचनो भोगभाजनम्।
स्थूलदृग्धीधनो दीन दृष्टिः स्यादधनो जनः॥ 347॥

काली आँख वाला मनुष्य भाग्यवान, स्निग्ध आँख वाला भोगी; स्थूल आँख वाला बुद्धिशाली और दीन आँख वाला निर्धन होता है।

निम्नयोः प्रचुरं प्रायः स्तोकमुन्नतयोः पुनः।
वृत्तयोर्नेत्रयोरल्प तरमायुस्तनूभृताम्॥ 348॥

यदि गहरी आँख हो तो बहुत ही आयुष्य; उथली आँख हो तो अल्पायु और गोल आँख हो तो बहुत ही अल्पायुष्य होता है।

विवर्णैः पिङ्गलैर्भ्रान्तैश्चञ्चलैरतिपूर्वकैः।
अधमाः स्युः कृशैरूक्षैः सजलैर्निर्धना पुनः॥ 349॥

जिसकी आँखें विवर्ण; पिङ्गल व घूमती हुई और बहुत चञ्चल हों वह अधम होता है और जिसकी कृशकाय, रूक्ष व सजल आंखें हैं, वह निर्धन होता है।

अचक्षुरेकचक्षुश्च तथाकेकरनेत्रकः।
अथ काकरनेत्रः स्या देषां क्रूरः परः परः॥ 350॥

इसी प्रकार चक्षुहीन, एकाक्षी, केकराक्ष, और काकराक्ष को उत्तरोत्तर अधिकाधिक क्रूर जानना चाहिए।

भूतादिपीडितस्य दृष्टिमाह —

भूताविष्टस्य दृष्टिः स्यात्प्रायेणोर्ध्वविलोकिनी।
मीलिता मुद्गलार्तस्य देवतात्तस्य दुस्सहा॥ 351॥

भूतादि ग्रस्थ मनुष्य की दृष्टि प्रायः ऊँची देखने वाली होती है जबकि मुद्गलार्त मनुष्य की आँखें निमिलित और देव-भावाविष्ट मनुष्य की आँखें बहुत तेज होती हैं।

शाकिनीभिर्गृहीतस्याधोमुखी च भयानका।
रेपर्लातस्य भीरुः स्याच्छून्याधिकतरं चला॥ 352॥

शाकिनी ग्रस्त मनुष्य की दृष्टि नीचे देखने वाली और भयानक होती है। रेपले से पीड़ित मनुष्य की दृष्टि शून्य, बहुत चञ्चल और भीरु होती है।

अरुणा श्यामला वापि जायते वातरोगिणः।
पित्तदोषवतः पीता नीला च शुक्रपिच्छवत्॥ 353॥
श्लेष्मलस्य तथा पाण्डुर्मिश्रदोषस्य मिश्रिता।
दृष्टेः प्रतिदिनं भेदा भवन्त्येवमनेकधा॥ 354॥

जो व्यक्ति वातरोग से पीड़ित हो उसकी दृष्टि लाल और श्याम वर्ण की होती है। पित्तरोग से पीड़ित की पाली और तोते के पक्ष जैसी की होती है। कफ से पीड़ित मनुष्य की दृष्टि मिश्र कही जाती है। इस प्रकार से नित्यप्रति अनेक प्रकार की दृष्टि के भेद देखने में आते हैं।

अथ चङ्क्रमणक्रमः —

उद्यमेऽसत्यपि प्रायो न व्रजेन्निष्फलं क्वचित्।
मुक्त्वा ताम्बूलमेकं च भक्ष्यमन्यन्न गच्छता॥ 355॥

(अब गमनागमन का नियम कहा जा रहा है) समझदार मनुष्य को उद्यम न हो तो भी बिना प्रयोजन के अन्यत्र नहीं जाना जाना चाहिए और मार्ग में आते-आते एक ताम्बूल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं खाना चाहिए।

युगमात्रान्तरन्यस्य दृष्टिः पश्यन्पदं पदम्।
रक्षार्थं स्वशरीरस्य जन्तूनां च सदा व्रजेत्॥ 356॥

व्यक्ति को मार्ग में आते-जाते अपने शरीर और दूसरे प्राणियों की रक्षा के लिए हमेशा गाड़ी के जूए जितनी आगे दृष्टि रखकर पाँव-पाँव देखते हुए चलना चाहिए।

शालूररासभोष्ट्राणां वर्जनीया गतिः सदा।
गजहंसवृषाणां तु सा प्रकामं प्रशस्यते॥ 357॥

कभी मेंढ़क, गधे और ऊँट की चाल नहीं चलना चाहिए किन्तु गज, हंस और वृषभ की चाल चलना बहुत प्रशस्त कही गई है।

गमनावसरे स्वरविचारं —

कार्याय चलितः स्थानाद्वहन्नाडीपदं पुरः।
कुर्वन् वाञ्छितसिद्धीनां जायते भाजनं नरः॥ 358॥

व्यक्ति को किसी कार्यवशात् कहीं जाना हो तो नासिका में जिस ओर का पवन प्रवाह होता हो, उसी ओर का पाँव आगे रखकर गमन करने से फल सिद्धि होती है।

न गन्तव्येकाकिनामाह —

एकाकिना न गन्तव्यं कस्याप्येकाकिनो गृहे।
नैवोपरिपथेनापि विशेत्कस्यापि वेश्मनि॥ 359॥

व्यक्ति को किसी के घर अकेले नहीं जाना चाहिए और किसी के भी घर में ऊपर चढ़कर या अनुचित रास्ते से नहीं जाना चाहिए।

अन्यदप्याह —

रोगिवृद्धाद्विजान्धानां धेनुपूज्यक्षमाभुजाम्।
गर्भिणीभारभुग्नानां दत्त्वा मार्गं व्रजेद्बुधः॥ 360॥

सुज्ञ मनुष्य का रोगी, वृद्ध, विप्र, अन्धा, गाय, पूज्यपुरुष, राजा, गर्भिणी और सिर पर भार के कारण झुके हुए लोगों को पहले मार्ग देकर फिर अपने मार्ग पर जाना चाहिए।

धान्यं पक्वमपक्वं च पूजार्हं मन्त्रमण्डलम्।
न त्यक्तोद्वर्तनं लङ्घ्यं स्नानाम्भोऽसृक्शवानि च॥ 361॥

समझदार को कच्चा या पक्का अनाज, पूजने योग्य मन्त्र मण्डल, डाला हुआ विलेपनीय पदार्थ, नहाने का पानी, रक्त और शव को कभी उल्लङ्घन करके नहीं जाना चाहिए।

निष्ठ्यूतश्लेष्मविण्मूत्रज्वलद्वह्निभुजङ्गमम्।
मनुष्यं सायुधं धीमान् कदाप्युल्लङ्घयेन्न च॥ 362॥

ज्ञानी को कभी पड़े हुए थूँक, कफ, विष्ठा, मूत्र, प्रज्वलित अग्नि, सर्प और आयुधधारी मनुष्य का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए।*

---

* शुक्र का मत है —चैत्यपूज्यध्वजाशस्तच्छायाभस्मतुषाशुचीन्॥ नाक्रामेच्छर्करालोष्टबलिस्नानभुवोऽपि च। (शुक्रनीति 3, 25-26) सुश्रुत का कहना है—न केशास्थितकण्टकाश्मतुषभस्मोत्कर-कपालाङ्गारामेध्यस्नानबलिभूमिषु न विषमेन्द्रकीलचतुष्पथश्वभ्राणामुपरिष्टात्॥ (सूत्र 2, 33-34)

क्षेमार्थी वृक्षमूलं न निशीथिन्यां समाश्रयेत्।
नासमाप्ते नरो दूरं गच्छेदुत्सवसूतके॥ 363॥

कल्याणार्थी पुरुष को निशाकाल में वृक्ष के नीचे नहीं रहना चाहिए और उत्सव तथा सूतक पूरा हुए बिना दूरी की यात्रा नहीं करना चाहिए।

अन्यदप्याह —

क्षीरं भुक्त्वा रतं कृत्वा स्नात्वा हत्त्वा गृहाङ्गनाम्।
वान्त्वा निष्ठीव्य चाक्रोशं श्रुत्वा च प्रचलेन्नहि॥ 364॥

विवेकवान् को दूध का प्रयोग करने के बाद, सहवास के बाद, अपनी भार्या को प्रताड़ित कर, वमन और किसी का रुदन सुनकर तत्काल प्रयाण नहीं करना चाहिए।

कारयित्वा नरः क्षौरंमश्रुमोक्षं विधाय च।
गच्छेद् ग्रामान्तरं नैव शकुनापाटवे न च॥ 365॥

विवेकी पुरुष का क्षौर करवाते ही, अश्रुपातकर और अपशकुन* देखकर परग्राम नहीं जाना चाहिए।

नद्याः परतटाद्गोष्ठात्क्षीरद्रोः सलिलाशयत्।
निवर्तेतात्मनोऽभीष्टा ननुव्रज्य प्रवासिनः॥ 366॥

ज्ञानी को चाहिए कि जब अपने सम्बन्धी परग्राम जाते हों तो उन्हें (तत्कालीन परम्परानुसार) नदी पार तक, गोठां तक, ग्राम सीमा, बरगद आदि दूध वाले वृक्ष तक अथवा जलाशय तक पहुँचाकर पीछे आना चाहिए।

अन्यदप्याह —

नासहायो नचाज्ञातै नैंव दासैः समं तथा।
नातिमध्यंदिने नार्धं रात्रे मार्गे बुधो व्रजेत॥ 367॥

समझदार को सदैव किसी को साथ लिए बिना, अनजान मनुष्य के साथ अथवा दास के साथ बिल्कुल मध्याह्न में अथवा रात को कहीं आना-जाना नहीं चाहिए।

---

* वराहमिहिर का मत है कि यात्रा में कपास, औषध, काला अन्न, नमक, नपुंसक व्यक्ति, अस्थियाँ, ताल-हरताल, अग्नि, साँप, कोयला, विष, कञ्चुली, मल, छुरा, रोगी, वमन करने वाला, पागल, पक्षाघातपीड़ित, अन्धा, तृण, तुस-भूसी, क्षुधापीड़ित, तक्र, शत्रु, मुण्डित सिर, तेल लगाया व्यक्ति, खुले केश वाला, पापी, लाल कपड़े पहने व्यक्ति इत्यादि अशुभ शकुन होते हैं—कार्पासौषधकृष्ण-धान्यलवणक्लीबास्थितानलं सर्पाङ्गारगराहिचर्मशकृतः केशारिसव्याधिताः। वातोन्मत्तजडान्धकतृणतुष क्षुत्क्षामतक्रारयो मुण्डाभ्यक्तविमुक्तकेशपतिताः काषायिणश्चाशुभाः॥ (बृहद्योगयात्रा 27, 6; योगयात्रा 13, 14 एवं लघुटिक्कनिका 9, 15)

नाशम्बलश्चलेन्मार्गे भृशं सुप्यान्नवासके।
सहायानां च विश्वासं विदधीत न धीधनः॥ 368॥

बुद्धिमान् को अल्पाहार किए बिना रास्ते नहीं चलना चाहिए। जहाँ विश्राम किया हो, वहाँ अति निद्रा नहीं ले और जो (अपराचित) सहयात्री हो उनका विश्वास नहीं करना चाहिए।

अन्यदप्याह —

महिषाणां खरोष्ट्राणां धनूनां चाधिरोहणम्।
स्वेदस्पृशापि नो कार्यमिच्छता श्रियमात्मनः॥ 369॥

अपने लिए लक्ष्मी की इच्छा करने वाले पुरुष को थकावट लगे तौ भी भैंसा, गधे, ऊँट और गाय पर नहीं बैठना चाहिए।

गजात्करसहस्त्रेण शकटात्पञ्चभिः करैः।
शृङ्गिणोऽश्वाच्च गन्तव्यं दूरणं दशभिः करै॥ 370॥

रास्ते जाते समय हाथी से हजार हाथ, शकट-गाड़ी से पाँच हाथ और सींगवाले जानवर और घोड़े से दस हाथ दूर चलना चाहिए।*

न जीर्णां नावमारोहेन्नद्यामेको विशेन्नहि।
न चातुच्छमतिर्गच्छेत्सोदर्येण समं पथि॥ 371॥

बुद्धिमान् को कभी पुरानी नौका पर नहीं चढ़ना चाहिए, नदी में एकाएक नहीं उतरना और सहोदर के साथ रास्ते में नहीं जाना चाहिए।

अन्यदप्याह —

न जलस्थलदुर्गाणि विकटामटवीं न च।
न चागाधानि तोयानि विनोपायं विलङ्घयेत्॥ 372॥

जलदुर्ग या स्थलदुर्ग, विकट अरण्य और गहरा जल कभी किसी को बिना साधन के नहीं लांघनी चाहिए।

क्रूरैरासक्षकैः कर्णेजपैः कारुजनैस्तथा।
कुमित्रैश्च समं गोष्ठीं चर्यां चाकालिकीं त्यजेत्॥ 373॥

क्रूर, राक्षस, चुगलखोर, कारु-कर्मन्न लोग और कुमित्र के साथ असमय बातचीत और घूमना-फिरना वर्जित समझना चाहिए।

---

* चाणक्य का मत है कि बैलगाड़ी से पाँच हाथ, घोड़े से दस हाथ, हाथी से सौ हाथ और बैल से दस हाथ दूरी रखनी चाहिए किन्तु यदि कोई दुष्टव्यक्ति हो तो वह स्थान ही छोड़ देना चाहिए— शकटं पञ्चहस्तेन दशस्तेन वाजिनाम्। हस्ती शतहस्तेन देशत्यागेन दुर्जनम्॥ (चाणक्यनीति 7, 7)

धूर्तावासे वने वेश्यामन्दिरे धर्मसद्मनि।
सदा गोष्ठी न कर्तव्या प्राज्ञैरापानकेऽपि च॥ 374॥

जानकार पुरुष को धूर्त के घर में, वन में, गणिका के आवास में, धर्मस्थान में और पानी के पनघट पर नित्यप्रति कोई बात नहीं करना चाहिए।

अन्यदप्याह —

बद्धवध्याश्रये द्यूतस्थाने परिभवास्पदे।
भाण्डागारे न गन्तव्यं परस्यान्तःपुरे न च॥ 375॥

कारागार, वध्यस्थल, द्यूतस्थान, जहाँ अपना पराभव हो ऐसा स्थान, भण्डार, और दूसरे के अन्तःपुर में नहीं जाना चाहिए।

अमनोज्ञे श्मशाने च शून्यस्थाने चतुष्पथे।
तुषशुष्कतृणाकीर्णे विषमावकरोषरे॥ 376॥
वृक्षाग्रे पर्वताग्रे च नदीकूपतटे स्थितिम्।
न कुर्याद्भस्मकेशेषु कपालङ्गारेऽपि वा॥ 377॥

मन न माने वैसे स्थान में, श्मशान में, शून्यस्थान में, चौराहे पर, तूष और सूखी हुई घास जहाँ बिछी हो ऐसे स्थान पर, आते-जाते कष्ट हों ऐसे स्थान में, कूड़े-करकट में, क्षारीय भूमि में, वृक्ष पर, पर्वत शिखर पर, नदी या कूए के किनारे, भस्म, केश, कपाल और अङ्गारे जहाँ हों– ऐसे स्थान में नहीं रहना चाहिए।

अथ विशेषोपदेशक्रमं —

मन्त्रस्थानमनाकाशमेकद्वारमसङ्कटम्।
निःशङ्कादि च कुर्वीत दूरसंस्थे च यामिके॥ 378॥

मन्त्रणा-स्थल वहाँ होना चाहिए जहाँ ऊपर का भाग खुला हुआ न हों, आने-जाने का द्वार एक ही हो, द्वारपाल की बैठक दूर हो, शङ्का जैसा कोई कारण नहीं हो और तङ्ग स्थान नहीं हो।

मन्त्रस्थाने बहुस्तम्भे कदाचिल्लीयतेऽपरः।
सगवाक्षे प्रतिध्वानश्रुतिः सप्रतिभित्तिके॥ 379॥

मन्त्रणा स्थल में जो बहुत स्तम्भ हों तो सम्भवतः वहाँ कोई छिपा रहेगा। यदि गवाक्ष, अवलोकनक या सूक्ष्म भित्ति हो तो सलाह करने वाले का शब्द, मन्तव्य सुन लिया जाता है।

शून्याधोभूमिके स्थाने गत्वा वा काननान्तरे।
मन्त्रयेत्सम्मुखः स्वामी मन्त्रिभिः पञ्चभिस्त्रिभिः॥ 380॥

राजा को शून्य, गुफा-गृह या वन-कानन में जाकर, पाँच या तीन मन्त्रियों के

सम्मुख विचार-विमर्श करना चाहिए।

सालस्यैर्लिङ्गिभिर्दीर्घसूत्रिभिः स्वल्पबुद्धिभिः।
समं न मन्त्रयेन्नैव मन्त्रं कृत्वा विलम्ब्यते॥ 381॥

प्रमादी, वेषधारी, काम निकालने वाला और अल्प बुद्धि के लोगों के साथ कभी गम्भीर मुद्दों पर सलाह नहीं करनी चाहिए। सलाह कर लेने के बाद समय व्यतीत नहीं करना चाहिए।

भूयांसः कोपना यत्र भूयांस सुखलिप्सवः।
भूयांसः कृपणाश्चैव स सार्थः स्वार्थनाशकः॥ 382॥

जिस समुदाय में अति क्रोधी, सुख-लोलुप और कृपण लोग रहते हैं, वह लोक समुदाय में अपना हित खो बैठता है।

सर्वकार्येषु सामर्थ्य माकारस्य च गोपनम्।
धृष्टत्वं च सदाभ्यस्तं कर्तव्यं विजिगीषुणा॥ 383॥

जय के अभिलाषी व्यक्ति को समस्त कार्य में स्वयं सामर्थ्यवान् होना चाहिए। हृदय की बात कभी चेहरे से प्रतीत नहीं हो, ऐसा प्रयास करें और सदैव धृष्टत्व का अभ्यास करना चाहिए।

भवेत्परिभवस्थानं पुमान् प्रायो निराकृतिः।
विशेषाडम्बरस्तेन न मोच्यः सुधिया क्वचित्॥ 384॥

आडम्बर (परिचय-प्रदर्शक) नहीं रखने वाले मनुष्य की प्रायः मानखण्डना होती है। इसलिए समझदार को अपना आडम्बर किसी भी जगह नहीं छोड़ना चाहिए।

अविश्वस्तजनाः —

विश्वासो नैव कस्यापि कार्य एषां विशेषतः।
ज्ञानिप्ररूपिताशेष धर्मविच्छेदमिच्छताम्॥ 385॥
स्वमतारोपणोत्पन्नरौद्रार्तध्यानधारिणाम्।
पाखण्डिनां तथा क्रूरसत्त्वप्रत्यन्तवासिनाम्॥ 386॥
धूर्तानां प्राग्विरुद्धानां बालानां योषितां तथा।
स्वर्णकारजलाग्नीनां प्रभूणां कूटभाषिणाम्॥ 387॥
नीचानामलसानां च पराक्रमवतां तथा।
कृतघ्नानां च चौराणां नास्तिकानां च जातुचित्॥ 388॥

विवेकवान् को किसी का विश्वास नहीं करना चाहिए और विकृत धर्म या धर्म से विच्छेद करने की इच्छा वाले, अपने ही मत का आरोपण करने वाले और

इसी अर्थ में रौद्रध्यान धारण करने वाले, पाखण्डी, निर्दय, विदेशी, धूर्त, एक बार अपने साथ भिड़े हुए, बालक, योषिता, सोने का काम करने वाले, जलाधारित व अग्न्याधारित जीविका वाले, स्वामी, असत्य वक्ता, अधम, प्रमादी, पराक्रमी, कृतघ्न, तस्कर और नास्तिक लोगों का तो किसी भी समय कदापि विश्वास नहीं करना चाहिए।

नित्यविचारणीयप्रश्नाह —

किं कुलं किं श्रुतं किं वा कर्म कौ च व्ययागमौ।
का वाक्शक्तिः कियान् क्लेशः किं च बुद्धिविजम्भितम्॥ 389॥
का शक्तिः के द्विषः कोऽहं कोऽनुबन्धश्च सम्प्रति।
कोऽभ्युपायः सहायाः के कियन्मात्रं फलं तथा॥ 390॥
कौ कालदेशौ का चैव सम्पत्प्रतिहते परैः।
वाक्ये ममोत्तरं सद्यः किञ्च स्यादिति चिन्तयेत्॥ 391॥

समझदार व्यक्ति को सदा ही मेरा कुल कैसा है? मुझे शास्त्र का अभ्यास कितना है? कार्य कैसा है? आय-व्यय कितना है? मेरे वचन की शक्ति कितनी है? कार्य में परेशानी कितनी? अपना बुद्धि-कौशल कितना है? सामर्थ्य कितना है? शत्रु कौन है? मैं कौन हूँ? अभी प्रसङ्ग कैसा है? इसके लिए क्या उपाय है? सामग्री कैसी है? मेरे शत्रु मेरे वचन का खण्डन कर देंगे तो मैं क्या प्रत्युत्तर दूँगा– इस बातों पर विचार करते रहना चाहिए।

यत्पार्श्वे स्थीयते नित्य गम्यते वा प्रयोजनात्।
गुणाः स्थैर्यादयस्तस्य व्यसनानि च चिन्तयेत्॥ 392॥

हम जिसके निकट रहते हैं या कारणवश से जिसके पास हमेशा जाते हैं, उसमें स्थिरादि गुण है या दोष? इस बात पर भी विचार करना अपेक्षित है।

उत्तमैका सदारोप्या प्रसिद्धिः काचिदात्मनि।
अज्ञातानां पुरे वासो युज्यते न कलावताम्॥ 393॥

समझदार पुरुषों को ऐसी कुछ उत्तम कला अपने पास रखना चाहिए कि उसे कलाधीर होकर भी नगर के एक ओर नहीं पड़ा रहना पड़े (क्योंकि ऐसा उपेक्षापूर्ण जीवन उचित नहीं है)।*

---

* क्षेमेन्द्रकृत 'कलाविलास' में ऐसी कई कलाओं का वर्णन आया है। क्षेमेन्द्र की कलाओं की संख्या लगभग डेढ़ हजार है। प्रबन्धकोश, कामशास्त्र, ललितविस्तर आदि ग्रन्थों में भी कलाओं का वर्णन है। वात्सायन के टीकाकार ने चौंसठ कलाओं का नामोल्लेख इस प्रकार किया है— 1. गीतम्, 2. वाद्यम्, 3. नृत्यम्, 4. आलेख्यम्, 5. विशेषकच्छेद्यम्, 6. तण्डुल कुसुमवलि विकारा, 7. पुष्पास्तरणम्, 8. मणिभूमिकाकर्म, 10. शयनरचनम्, 11. उदकवाद्यम्, 12. उदकाघात, 13. चित्रयोगाः, 14. माल्यग्रथनविकल्पाः, 15. शेखरकापीडयोजनम्, 16. नेपथ्य प्रयोगाः, 17. कर्णपत्रभङ्गा, 18.

अन्यदप्याह —

कालकृत्यं न मोक्तव्यमतिखिन्नैपि ध्रुवम्।
नाप्नोति पुरुषार्थानां फलं क्लेशजितः पुमान्॥ 394॥

यदि कभी किसी कारणवश खिन्नता हो भी जाए तो जिस समय जो काम करने का हो उसे कदापि नहीं त्यागना चाहिए, क्योंकि क्लेश के वश हुआ मनुष्य उद्यम का फल कभी प्राप्त नहीं कर पाता।

उच्चैर्मनोरथाः कार्याः सर्वदैव मनस्विना।
विधिस्तदनुमानेन सम्पदे यतते यतः॥ 395॥

विवेकी को हमेशा उच्चाभिलाषा, महत्वाकांक्षा रखनी चाहिए क्योंकि दैव-बल, भाग्य जिसकी जैसी अभिलाषा हो, उसे वैसा ही फल देने में सहायता करता है।

कुर्यानन कर्कशं कर्म क्षमाशलिनि सज्जने।
प्रादुर्भवति सम्पार्चिर्मथिताच्चन्दनादपि॥ 396॥

सज्जन पुरुषों को कभी क्षमाशील के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार नहीं करना चाहिए क्योंकि सुगन्धित चन्दन का मन्थन किया जाए तो उससे भी ज्वाला निकलती है।

दृष्ट्वा चन्दनतां यातान् शाखोटादीनपि द्रुमान्।
मलायाद्रौ ततः कार्या महद्भिः सह सङ्गतिः॥ 397॥

महान चरित्र वालों को मलयागिरि पर के शाक और अन्य वृक्षों को भी चन्दन तुल्य देखकर विशाल हृदय वाले पुरुषों की सङ्गत करनी चाहिए।

शुभोपदेशदातारो वयोवृद्धा बहुश्रुताः।
कुशला धर्मशास्त्रेषु पर्युपास्या मुहुर्मुहुः॥ 398॥

गन्थयुक्तिः, 19. भूषणयोजनम्, 20. ऐन्द्रजालयोगाः, 21. कोचुमारयोगाः, 22. हस्तलाघवम्, 23. विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रियापानकरसरागासवयोजनम्, 24. सूचीवानकर्माणि, 25. सूत्रक्रीड़ा, 26. वीणाडमरुकवाद्यानि, 27. प्रहेलिका, 28. प्रतिमाला, 29. दुर्वाचकयोगाः, 30. पुस्तकवाचनम्, 31. नाटकाख्यायिकादर्शनम्, 32. काव्यसमस्यापूरणम्, 33. पट्टिकावेत्रवानविकल्पा, 34. तर्ककर्माणि, 35. तक्षणम्, 36. वास्तुविद्या, 37. रुप्यरत्नपरीक्षा, 38. धातुवादः, 39. मणिरागाकरज्ञानम्, 40. वृक्षायुर्वेदयोगाः, 41. मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः, 42. शुकसारिका-प्रलापनम्, 43. उत्सादन-संवाहन-केशमर्दन-कौशलम्, 44. अक्षरमुष्टिका कथनम्, 45. म्लेच्छितविकल्पाः, 46. देशभाषाविज्ञानम्, 47. पुष्पशकटिका, 48. निमित्तज्ञानम्, 49. यन्त्रमातृका, 50. धारणमातृकाः, 51. सम्पाठ्यम्, 52. मानसी, 53. काव्यक्रिया, 54. अभिधानकोषः, 55. छन्दोज्ञानम्, 56. क्रियाकल्पः, 57. छलितकयोगाः, 58. वस्त्रगोपनानि, 59. द्यूतविशेषाः, 60. आकर्षकक्रीड़ा, 61. बालक्रीडनकानि, 62. वैनयिकीनां विद्यानां ज्ञानम्, 63. वैजयिकीनां विद्यानां ज्ञानम्, 64. व्यायामिकीनां विद्यानां ज्ञानम्-चेति। (कामसूत्र 1, 3, 16; जयमङ्गला टीका 1, 3, 15)

बहुश्रुत पण्डित, धर्मशास्त्र में निपुण, सदुपदेशक और वयोवृद्ध लोगों की निरन्तर सेवा, सम्मान करना चाहिए।

इहामुत्र विरुद्धं यत्तत्कुर्वाणं नरं त्यजेत्।
आत्मानं यः स्वयं हन्ति त्रायते स कथं परम्॥ 399॥

इहलोक और परलोक विरुद्ध कार्य करने वाले व्यक्ति से सर्वदा दूर रहना ही श्रेयस्कर है क्योंकि जो मनुष्य आपघात करता है, वह दूसरे की रक्षा भला किस प्रकार कर सकता है।

शौर्येण वा तपोभिर्वा विद्यया वा धनेन वा।
अत्यन्तमकुलीनोऽपि कुलीनो भवति क्षणात्॥ 400॥

मनुष्य अत्यन्त हीन कुल में भी हुआ हो किन्तु वह पराक्रम, तपश्चर्या, विद्या या धनबल से शीघ्र ही सम्भ्रान्त लोगों में परिगणित हो जाता है।

कुर्यान्नात्मानमत्युच्चमायासेन गरीयसा।
ततश्चेदवपातः स्याद्दुःखाय महते तदा॥ 401॥

चतुर व्यक्ति को अपने बहुत परिश्रम से (बिना सुदृढ़ आधार बनाए) स्वयं को बहुत ऊँचे पद पर नहीं चढ़ाना चाहिए क्योंकि जो जब वह पुनः उस स्तर से नीचे गिरे जाए तो अपार दुःख होगा।

दैविकैर्मानुषैर्दोषैः प्रायः कार्यं न सिद्ध्यति।
दैविकं वारयेच्छान्त्या मानुषं स्वधिया पुनः॥ 402॥

कभी कोई कार्य देवता अथवा मनुष्य के किए उपद्रव से सिद्ध नहीं होता। अतएव दैविक उपद्रव अपनी बुद्धि से दूर करना चाहिए।

प्रतिपन्नस्य न त्यागः शोकश्च गतवस्तुनः।
निद्राच्छेदश्च कस्यापि न विधेयः कदाचन॥ 403॥

स्वीकार किए गए वचन को तोड़ना, गत वस्तु का शोक मनाना और किसी की निद्रा को तोड़ना– ऐसा किसी भी समय नहीं करना चाहिए।

अकुर्वन् बहुभिर्वैरं दद्याद्बहुमते मतम्।
गतास्वादानि कृत्यानि न कुर्याद्बहुभिः समम्॥ 404॥

हमेशा अपनी सम्मति ऐसी हो जो बहुत जनों के साथ वैर को नहीं बढ़ाए और स्वादरहित कार्य बहुत लोगों के साथ नहीं करना चाहिए।

शुभक्रियासु सर्वासु मुखैर्भाव्यं मनीषिभिः।
नराणां कपटेनापि निःस्पृहत्वं फलप्रदम्॥ 405॥

समझदार व्यक्ति वह है जो कि समस्त शुभ कृत्यों में सदैव अग्रसर होता है।

मनुष्य कपट से निस्पृहता दिखाए तब भी वह उसे फलदायक है।

द्रोहप्रयोजने नैव भाव्यमत्युत्सुकैर्नरैः।
कदाचिदपि कर्तव्यः सुपात्रेषु न मत्सरः॥ 406॥

भले पुरुषों को ऐसे कार्य की सिद्धि के लिए कभी उत्साह नहीं दिखाना चाहिए जो कि मत्सर (ईर्ष्या) से सिद्ध होता हो। फिर, जो सुपात्र हो, उसके साथ किसी भी काल में मत्सर नहीं करना चाहिए अर्थात् प्रतिस्पर्द्धा भी हो तो स्वस्थ होनी चाहिए।

पारस्परिक, जातीयैक्यनिर्देशं —

स्वजातिकष्टं नोपेक्ष्यं तदैक्यं कार्यमादरात्।
मानिनां मानहानिः स्यात्तद्दोषादयशोऽपि च॥ 407॥

सम्मान प्राप्त पुरुष को अपनी जाति के कष्ट की ओर से कभी आँख नहीं मूँदनी चाहिए अपितु हृदय से जातिगत एकता का प्रयास करना चाहिए क्योंकि यदि वह ऐसा नहीं करता है तो उसका सम्मान-खण्डन और अपयश होता है।

नश्यन्ति ज्ञातयः प्रायः कलहादितरेतरम्।
मिलिता एव वर्धन्ते कमलिन्य इवाम्भसि॥ 408॥

जातियाँ एक-दूसरे से कलह करने से प्रायः नष्ट हो जाती हैं और यदि वे परस्पर मिलकर रहें तो जल में जिस प्रकार कमलिनी की अभिवृद्धि होती हैं, वैसे ही अभिवृद्धि को प्राप्त होती हैं।

अन्य कर्तव्यमाह —

दारिद्र्योपद्रुतं मित्रं नरं साधर्मिकं सुधीः।
ज्येष्ठं जातिगुणैर्जाभिमनपत्यां च पूजयेत्॥ 409॥

समझदार मनुष्य को दरिद्रावस्था में आए हुए अपने मित्र व साधर्मी का, अपनी अपेक्षा या जाति से अथवा गुणों से श्रेष्ठ मनुष्य का और अपनी निपूती बहिन का सम्मान, सहयोग करना चाहिए।

सारमिथ्यान्यवस्तूनां विक्रयाय क्रयाय च।
कुलानुचितकार्याय नोद्यच्छेद्गौरवप्रियः॥ 410॥

जिसे अपना गौरव प्रिय लगता हो, ऐसे व्यक्ति को कभी अन्य व्यक्ति की भली-बुरी वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए और अपने कुल के अनुचित कार्य के लिए तत्पर नहीं होना चाहिए।

अकरणीय चेष्टादीनां —

स्वाङ्गवाद्यं तृणच्छेदं व्यर्थं भूमिविलेखनम्।
नैव कुर्यान्नखैर्दन्त नखराणां च घर्षणम्॥ 411॥

कभी अपने ही किसी अङ्ग को बाजे की भाँति नहीं बजाना चाहिए। अकारण घास के टुकड़े नहीं करे, व्यर्थ अपने नाखून से भूमि नहीं खोदे और नख से या दन्त से ही दन्त नहीं घिसने चाहिए।*

स्वात्मोद्धारोपायमाह —

प्रवर्तमानमुन्मार्गे स्वं स्वेनैव निवारयेत्।
किमम्भोनिधिरुद्वेलः स्वस्यादन्येन वार्यते॥ 412॥

यदि अपनी आत्मा कुमार्ग पर जाती हो तो उसे स्वयं ही निरुद्ध करना चाहिए। यह ठीक वैसे ही जाने जैसे कि समुद्र की लहरें यदि मर्यादा से अधिक चढ़ती हो तो उन्हें समुद्र ही रोकता है, अन्य कोई नहीं।

सम्मानसहितं दानमौचित्येनाञ्चितं वचः।
नयेन वर्यं शौर्यं च त्रिगद्वश्यकृत्त्रयम्॥ 413॥

सम्मान सहित दान, अवसरोचित श्रेष्ठ कथन और न्यायपूर्वक शौर्य– इन तीनों चीजों से निखिल संसार को वशीभूत किया जा सकता है।

अथ लोकव्यवहारमाह —

अर्थादधिकनेपथ्यो वेषहीनोऽधिकं धनी।
अशक्तो वैरकृच्छक्तैर्महद्भिरुपहस्यते॥ 414॥

अपने पास जितना धन हो, उससे कहीं महंगा वस्त्र धारण करने वाला, धनवान होकर भी सामान्य वस्त्रादि पहनने वाला तथा असमर्थ होते हुए भी समर्थ लोगों के साथ वैर बढ़ाने वाला– ये लोग जग में उपहास के पात्र होते हैं।

चौर्याद्यैर्बद्धवित्ताशः सदुपायेषु संशयी।
सत्यां शक्तौ निरुद्योगो नरः प्राप्नोति न श्रियम्॥ 415॥

चोरी-तस्करी, भ्रष्टाचार आदि से धन कमाने का अभिलाषी, द्रव्योपार्जन के उत्तम उपायों पर सदा ही सन्देह रखने वाला और सशक्त होने पर भी उद्यम नहीं करने वाला कभी लक्ष्मी को नहीं पाता है।

फलकाले कृतालस्यो निष्फलं विहितोद्यमः।
निःशङ्कः शत्रुसङ्घेऽपि न नरश्चिरमेधते॥ 416॥

---

* तुलनीय— न छिन्द्यान्नखलोमानि दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान्॥ (मनु. 4, 69) और—नोत्पाटयेल्लोमनखं दशनेन कदाचन॥ (स्कन्द. ब्रह्म. धर्मारण्य. 6, 69); न गात्रनखवक्त्रवादित्रं कुर्यात्। (सुश्रुत. चिकित्सा. 24, 95); लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः। स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च॥ (मनु. 4, 71)

जब फल प्राप्ति का काल हो तब प्रमाद करे और असमय व्यर्थ उद्यम करे, शत्रु सम्मुख आया हो तथा वह कोई क्षति नहीं करेगा ऐसा सन्देह नहीं करे तो ऐसा व्यक्ति तो चिरकाल तक उन्नत स्थिति में नहीं रह पाता है।

दम्भसरम्भिभिर्ग्राह्यो दम्भमुक्तेष्वनादरी।
शठस्त्रीवाचि विश्वासी विनश्यति न संशयः॥ 417॥

जो व्यक्ति दम्भी लोगों के षड्यन्त्र में आ जाए, दम्भहीन सज्जनों को धिक्कारे और धूर्तों व मिथ्या स्त्री वचनों पर विश्वास करता हो, वह निःसन्देह नष्ट होता है।

ईर्ष्यालुः कुलटाकामी निर्द्धनो गणिकाप्रियः।
स्थविरश्च विवाहेच्छुरुपहासास्पदं नृणाम्॥ 418॥

स्वयं ईर्ष्यालु होते हुए कुलटा का कामी, निर्धन होकर भी गणिका प्रिय होने का इच्छुक और वृद्ध होकर विवाहैच्छा करने वाले का लोक में उपहास ही होता है।

कामिस्पर्धावितीर्णार्थः कान्ताकोपाद्विवाहकृत्।
व्यक्तदोषप्रियासक्तः पश्चात्तापमुपैत्यलम्॥ 419॥

लम्पट लोगों के साथ प्रतिस्पर्द्धा में धन फूँकने वाला, स्व परिणिता पर कोपकर अन्य का इच्छुक, प्रकट-दोष प्रिया में आसक्त पुरुष कालान्तर में पश्चाताप ही करते हैं।

वैरी वेश्याभुजङ्गेषु वारितार्थी प्रियाभिया।
स्त्रीरन्ता दुर्लभैश्चार्थैर्हीयते सर्वसम्पदा॥ 420॥

वेश्या के जार के साथ वैर करने वाले, स्त्री के भय से याचकों को दान से मना करने वाले च दुर्लभ अर्थ देकर स्त्री-भोगने करने वाले की सर्वसम्पदा नष्ट हो जाती है।

निर्बुद्धिः कार्यसिद्ध्यर्थी दुःखी सुखमनोरथः।
ऋणेन स्थावरक्रेता मूर्खाणामादिमास्त्रयः॥ 421॥

बुद्धि के अभाव में प्रयोजन सिद्ध करना चाहे, दुःख होते हुए भी सुख का मनोराज्य करे और माथे पर ऋण ओढ़कर घर-बार खरीदे तो ऐसे लोगों को मूर्खों के शिरोमणि समझने चाहिए।

सदैन्योऽर्थे सुतायत्ते भार्यायत्ते वनीपकः।
प्रदायानुशयं धत्ते तस्मादन्यो हि कोऽधमाः॥ 422॥

पुत्र को धन-सम्पदा सौंपकर स्वयं दीनता देखने वाला, स्त्री को धन देकर स्वयं भीख मांगने वाला और दान देकर पछताने वाला– ऐसे लोगों से बढ़कर दूसरा कौन अधम होगा?

अहंयुर्मतिमाहात्म्यादूर्वितो मागधोक्तिभिः।
लाभेच्छुर्नायके लुब्धे ज्ञेया दुर्मतयस्त्रयः॥ 423॥

जो व्यक्ति अपनी ही आत्मप्रशंसा से अहङ्कार दिखाता हो, मागधों के चाटु वचनों से गर्वित होता हो और लोभी स्वामी से लाभ की अभिलाषा करता हो– ऐसे तीनों ही विचार वाले व्यक्ति दुर्बुद्धि ही होते हैं।

दुष्टे मन्त्रिणि निर्भीकः कृतघ्नादुपकारधीः।
दुर्नाथान्न्यायमाकाङ्क्षन्नेष्टवृद्धिं लभेत सः॥ 424॥

जो व्यक्ति दुष्ट मन्त्री से निर्भीक रहे, कृतघ्न मनुष्य से प्रत्युपकार की आशा करे और दुष्ट राजा से न्याय प्राप्ति की इच्छा करे, उसकी उन्नति नहीं होती है।

अपथ्यसेवको रोगी सद्वैषो हितवादिषु।
नीरोगोऽप्यौषधप्राशी मुमूर्षुर्नात्र संशयः॥ 425॥

जो रोगी होकर भी आवश्यक परहेज न रखे, हित चिन्तक से द्वेष करे और रोगी न होने पर ही पूर्व आशङ्का में औषधि सेवन कर जाए तो उनकी मृत्यु आई ही जाननी चाहिए, इसमें कोई संशय नहीं है।

शुल्कदोऽपथगामी च भुक्तिकाले प्रकोपवान्।
असेवाकृत्कुलमदात्रयोऽमीमन्दबुद्धयः॥ 426॥

जो कर-शुल्क न देकर गलत रास्ते को चुनता हो, भोजन के समय क्रोध करता हो और जो कुलाभिमान के वश सेवा नहीं करता हो, ये तीनों मन्दबुद्धि ही हैं।

मित्रोद्वेगकरो नित्यं धूर्तैर्विश्वास्य वञ्च्यते।
गुणी च मत्सरग्रस्तो यस्तस्य विफलाः कलाः॥ 427॥

जो नित्य ही अपने मित्र में उद्वेग उत्पन्न करे, जिसे धूर्त्त लोग विश्वास में लेकर ठगते हों, जो स्वयं गुणी होकर भी अन्य गुणियों से ईर्ष्या करता हो– ऐसे तीनों ही लोगों की कला निष्फल ही होती है।

चारुप्रियोऽन्यदारार्थी सिद्धेऽन्ने गमनादिकृत्।
निःस्वो गोष्ठीरतोऽत्यन्तं निर्बुद्धानां शिरोमणिः॥ 428॥

जो अपनी स्त्री के चारु होने पर भी परस्त्री की इच्छा करे, रसोई तैयार होने पर अन्यत्र चला जाए या दूसरे किसी काम में रुके और स्वयं दरिद्री होते हुए भी बातें बनाने में रुचिशील हो, ऐसे पुरुष निर्बुद्धि-शिरोमणि होते हैं।

धातुवादे धनप्लोषी रसिकश्च रसायने।
विषभक्षी परीक्षार्थं त्रयोऽनर्थस्य भाजनम्॥ 429॥

जो कृत्रिम रूप से धातु बनाने की कला (किमियागिरी) में स्वधन खोए, जो

रसायन* पर प्रीति रखे और जो परीक्षण के नाम पर विष सेवन कर ले– ऐसे तीनों पुरुष अनर्थ के पात्र होते हैं।

परवश्यः स्वगुह्योक्ताद् भृत्यभीरुः कुकर्मणा।
घातकः स्वस्य कोपेन पदं दुर्यशसाममी॥ 430॥

ऐसे व्यक्ति जो अपनी गुप्त बातें उगलकर पराधीन हो जाए; जो कुकर्म करके अपने सेवक का भय रखे और जो क्रोध से अपनी हानि करे – तीनों ही अपयश के पात्र होते हैं।

क्षणरागी गुणाभ्यासे दोषेषु रसिकोऽधिकम्।
बहुहन्ताल्परक्षी च संपदामास्पदं नहि॥ 431॥

जो व्यक्ति गुणाभ्यास के प्रति क्षणभर रुचि दर्शाए, जो दोषानुसन्धान में बहुत रुचि रखे और जो बहुत गँवाकर अल्पद्रव्य की रक्षा करे वह लक्ष्मी नहीं पाता है।

नम्रेषु नृपवन्मौनी सोत्साहो दुर्बलार्दने।
स्तब्धश्च बहुमानेन न भवेज्जनवल्लभः॥ 432॥

---

* मानसोल्लास में आया है कि राज्यकोश में विविध प्रकार के धनों के विवर्द्धन के निमित्त धातुवाद (रसायन सिद्धान्त) का प्रयोग किया जाता है। इसके लिए ताम्र से स्वर्ण और वङ्ग (राँगा) से रजत बनाने का साधन होता है— धातुवादप्रयोगैश्च विविधैर्वैर्धयेद् धनम्। ताम्रेण साधयेत् स्वर्णं रौप्यं वङ्गेन साधयेत्॥ (मानसोल्लास 2, 4 377)

दत्तात्रेयतन्त्रम् में धातुवाद-रसायन की विधि प्राप्त होती है। एक विधि के अनुसार गोमूत्र, हरताल, गन्धक, मनशिल को लेकर सूखने तक खरल करे। इस विधि में लाल वर्ण की गाय का मूत्र और लाल वर्ण की गन्धक ले और 11 दिन तक पवित्रतापूर्वक उसकी घुटाई करे। बारहवें दिन गोला बनाकर लाल वस्त्र में लपेटे और उस पर चार अङ्गुल मिट्टी का लेप कर सूखने के लिए रख दे। इसके बाद पाँच हाथ गहरा कुण्ड तैयार करें और उसमें पलाश की लकड़ी को जलाए व बीच में इस गोले को रख दे। जब आग ठण्डी हो जाए तब गोले को निकाले और परितप्त ताम्र के ऊपर गोले की भस्म को डाले। यह क्रिया वन, निर्जन प्रदेश में या किसी शिवालय में करनी चाहिए। इससे घुंघुची के बराबर ताम्रपत्र उसी समय स्वर्ण हो जाता है। शुक्लपक्ष में चन्द्रमा को बली देखकर यह क्रिया करने का निर्देश है। इससे पूर्व त्र्यम्बकम् मन्त्र का 10 हजार बार जाप करना चाहिए। कार्य सिद्धि होने तक 11 विप्रों को भोजन करवाते रहे। रसायन को खरल करते समय मन्त्र का जाप भी करना चाहिए। यह मन्त्र दस हजार बार जपने से सिद्ध होता है—

गोमूत्रं हरितालं च गन्धकं च मनश्शिलाम्। समं समं गृहीत्वा तु यावच्छुष्कं तु कारयेत्॥ गोमूत्रं रक्तवर्णाया गन्धकं रक्तवर्णकम्। एकादशदिनं यावद्रक्ष्यं यत्नेन वै शुचि॥ गोलं कृत्वा द्वादशेऽह्नि रक्तवस्त्रेण वेष्टयेत्। चतुरङ्गुलमानेन मृदं लिप्त्वा विशोषयेत्॥ पञ्चहस्तप्रमाणेन भूमौ गर्तं तु कारयेत्। पलाशकाष्ठलोष्टैस्तु पूरयेद् द्रव्यमध्यगम्॥ अग्निं दद्यात्प्रयत्नेन स्वाङ्गशीतं समुद्धरेत्। ताम्रपत्रे सुसन्तप्ते तद्भस्म तु प्रदापयेत्॥ गुञ्जकं तत्क्षणात्स्वर्णं जायते ताम्रपत्रकम्। अरण्ये निर्जने देशे शिवालयसमीपतः॥ शुक्लपक्षे सुचन्द्रेऽह्नि प्रयोगं साधयेत्सुधीः। त्र्यम्बकेति च मन्त्रस्य जपं दशसहस्रकम्॥ प्रत्यहं कारयेद्विद्वान्भोजयेदुद्रसम्मितान्। यावत्सिद्धिर्न जायते तावदेतत्समाचरेत्॥

द्रव्यमर्द्दनमन्त्रः— 'ॐ नमो भगवते रुद्राय स्वर्णादीनामीशाय रसायनस्य सिद्धिं कुरु कुरु फट् स्वाहा।' प्रतिदिनं मर्द्दनसमये अयुतजपात्सिद्धिः॥ (दत्तात्रेयतन्त्र 13, 2-10)

ऐसा व्यक्ति जो विनम्र मनुष्य के साथ राजा की तरह मौन धारण करे, जो दुर्बल लोगों पर अत्याचारों में उत्साह दिखाए और जो बहुत मान मिलने से अहङ्कार से चूर हो जाए– ये तीनों जनप्रिय नहीं होते हैं।

दुःख दीनमुखोऽत्यन्तं सुखे दुर्गतिनिर्भयः।
कुकर्मण्यपि निर्लज्जो बालकैरपि हस्यते॥ 433॥

जो मनुष्य दुःख आने पर दीन मुँह बनाकर बैठ रहे, जो सुखावस्था में दुर्गति का भय न रखे और जो कुकर्म करने में लज्जा नहीं रखें– ऐसे तीन पुरुषों की बालक भी हँसी उड़ाते हैं।

धूर्तस्तुत्यात्मनि भ्रान्तः कीर्त्यै चापात्रपोषकः।
स्वहितेष्वविमर्शी च क्षयं यात्येव बालिशः॥ 434॥

जो धूर्त लोगों की प्रशंसा करने से स्वयं भ्रमित हो जाता हो, कीर्ति के लिए कुपात्र को प्रोत्साहन देता हो और अपने हित का चिन्तन नहीं करता हो, ऐसे मूर्ख मनुष्य हानि ही उठाते हैं।

विद्वानस्मीति वाचालः सोद्यमोऽमीति चञ्चलः।
शूरोऽस्मीति च निःशङ्कः समज्यायां न राजते॥ 435॥

जो व्यक्ति स्वयं को 'मैं विद्वान हूँ' ऐसा समझकर बहुत प्रलाप करे, 'मैं बड़ा उद्यमी हूँ' ऐसा समझकर बहुत चालाकी प्रदर्शित करे और किसी का भय नहीं रखे, ऐसे व्यक्ति किसी समुदाय में शोभाजनक नहीं होते हैं।

धर्मद्रोहेण सौख्येच्छुरन्यायेन विवर्द्धिषुः।
श्रेयः पाथेयमुक्तोऽन्ते नातिथिः सुगतेर्नरः॥ 436॥

जो व्यक्ति धर्म का द्रोह करके सुखेच्छा करे, स्वयं अन्याय कर उन्नति की आकांक्षा रखे और अन्तसमय आने पर पुण्यरूपेण पाथेय पास नहीं रखे, वह पुरुष सुगति को प्राप्त नहीं होता है।

विकृतः सम्पदां प्राप्त्या ज्ञंमन्यो मुखरत्वतः।
दैवज्ञोक्त्या नृपत्वेच्छुर्धीमद्भिर्न प्रशस्यते॥ 437॥

जो मनुष्य लक्ष्मी मिलने पर विकृत हो जाए, जो बड़बोलेपन से स्वयं को महा-पण्डित कहते हों और जो दैवज्ञ के कहने मात्र से राजपद की प्राप्ति का स्वप्न संजोने लगे, ऐसे लोगों की समझदार लोग प्रशंसा नहीं करते हैं।

क्लिष्टोक्त्यापि कविमन्यः स्वश्लाघी प्राज्ञपर्षदि।
व्याचष्टे चाश्रुतं शास्त्रं यस्तस्य मतये नमः॥ 438॥

जो व्यक्ति कोई भी न समझे जैसे क्लिष्ट वचन बोलकर अपने को कवि

समझता हो, पण्डित पुरुषों की मण्डली में आत्मश्लाघा करे और बिना सुने ही शास्त्र की व्याख्या करे, उस पुरुष की बुद्धि को तो नमस्कार है (अर्थात् ऐसा नहीं करे)।

मनुष्येषु क्रकचक्रौञ्चश्चाह —

उद्वेजकोऽतिचाटूक्त्या मर्मस्पर्शी हसन्नपि।
निर्गुणो गुणिनिन्दाकृत्क्रकचप्रतिमः पुमान्॥ 439॥

जो व्यक्ति बहुत मीठे वचन बोलते हुए त्रास उत्पन्न करे, हँसते-हँसते दूसरे के मर्म को स्पर्श करता हो और स्वयं निर्गुणी होते हुए गुणी पुरुषों की निन्दा करे ऐसे पुरुष को तो केकड़े की प्रतिमा के तुल्य ही जानना चाहिए।

प्रसभं पाठकोऽविद्वानदातुरभिलाषकः।
गातानवसरज्ञश्च कपिकच्छूसमा इमे॥ 440॥

जो स्वयं अविद्वान होते हुए भी दिखावे के नाम पर उच्च स्वर से पढ़ता हो, जो कृपण से धन की अभिलाषा रखता हो और जो अवसर को ज्ञात किए बिना ही जाता हो– ऐसे तीनों पुरुष क्रौञ्च के समान ही कहने चाहिए।

महोद्वेगकरानाह —

दूतो वाचिकविस्मारी गीतकारी खरस्वरः।
गृहोश्रमरतो योगी महोद्वेगकरास्त्रयः॥ 441॥

जो दूत होकर भी स्वामी के संदेश को विस्मृत कर जाए, गायक होकर भी गदर्भ-स्वर में गाए और योगी होकर गृहस्थाश्रम में रहता हो– ऐसे तीनों पुरुषों को महोद्वेगी (अति उद्वेग करने वाले) ही जानने चाहिए।

ज्ञातदोषजनश्लाघी गुणिनां गुणनिन्दकः।
राजाद्यवर्णवादी च सद्योऽनर्थस्य भाजनम्॥ 442॥

जिसके दोष सामने दिखाई देते हों किन्तु उसकी प्रशंसा करने वाला, गुणज्ञ की सामने ही निन्दा करने वाला और राजा इत्यादि का अवर्णवाद उच्चारित करे, ऐसे व्यक्ति तत्काल सङ्कट से घिर जाते हैं।

गृहदुश्चरितं मन्त्रं वित्तायुर्मर्मवञ्चनम्।
अपमानं स्वधर्मं च गोपयेदष्ट सर्वदा॥ 443॥

व्यक्ति को आठ चीजों को सदैव छिपाकर रखना चाहिए–1. घर के छिद्र, 2. मन्त्र, 3. धन, 4. आयु, 5. मर्मवचन (अपनी कमजोरी), 6. ठगाई, 7. अपमान और 8. स्वधर्म।

उपसंहरन्नाह —

इत्येवं कथितमशेषजन्मभाजामाजन्म
प्रतिपदमत्र यद्विधेयम्।
कुर्वन्तः सततमिदं च केऽपि धन्याः
साफल्यं विदधति जन्मनो निजस्य॥ 444॥

मनुष्यों को आजीवन पद-पद पर जिन कृत्यों को करना होता है, उनको मैंने यहाँ कहा है। जो कोई धन्य पुरुष इस रीति से आचरण करेगा वह अपने जन्म को अवश्य ही सफल करेगा।

इति श्रीजिनदत्तसूरि विरचित विवेकविलासे जन्मचर्यायां विशेषोपदेशो नामाष्टम उल्लासः॥ 8॥

इस प्रकार श्रीजिनदत्तसूरि विरचित 'विवेक विलास' में जन्मचर्या अन्तर्गत विशेषोपदेश नामक आठवाँ उल्लास पूर्ण हुआ।

अथ पापोत्पत्तिकारण नामाख्यं नवमोल्लासः ॥ 9 ॥

अथ पापादीनां प्रश्नाह —

प्रत्यक्षमप्यमी लोकाः प्रेक्ष्य पापविजृम्भितम्।
मूढा किं न विरज्यन्ते ग्रहिला इव दुर्ग्रहात्॥ 1॥

(इस उल्लास में पाप, उनकी उत्पत्ति और जीवन साफल्य विषयक कथन हैं, सप्रश्न उल्लास के आरम्भ में कहा है) जब मूढ़ लोग पाप का फल प्रत्यक्ष देखते हैं, तो भी कदाग्रह से पागल तुल्य ही होते हैं, क्या वे संसार से वैराग्य नहीं पाते हैं?

अथ पञ्चपातकं —

वधन प्राणिनां मद्यपानेनानृतजल्पनैः।
चौर्यैः पिशुनभावैः स्यात्पातकं श्वभ्रपातकम्॥ 2॥

जीवहिंसा, मद्यपान, मिथ्याभाषण, चोरी और चुगलखोरी– ये पाँच अशुभ कर्म मनुष्य को नरक में पहुँचाने वाले और बन्धक हैं।

बन्धकपापादीनां —

परवञ्चमहारम्भ परिग्रहकदाग्रहैः।
परदाराभिषङ्गैश्च पापं स्यात्तापवर्द्धनम्॥ 3॥

दूसरे को छलने से, महारम्भ करने से, परिग्रह रखने से, कदाग्रह और परस्त्री के सङ्ग से सन्ताप बढ़ाने वाला पापकर्म बन्धाने वाला होता है।

अभक्ष्यैर्विकथालापैरसन्मार्गप्ररूपणैः।
अनात्मयन्त्रणैश्चापि स्यादेनस्तेन तत्त्यजेत्॥ 4॥

अभक्ष्य भक्षण, विकथा और बुरी प्ररूपणा और अपनी आत्मा को वश में न रखने से पाप बाँधा जाता है। इसलिए इन प्रवृत्तियों का त्याग करना चाहिए।

लेश्याभिः कृष्णकापोत नीलाभिर्दुष्टचिन्तनैः।
ध्यानाभ्यामार्तरौद्राभ्यां दुःखकृत्कलुषं भवेत्॥ 5॥

कृष्ण, कपोत और नील– इन तीन लेश्याओं से, अनुचित अध्यवसाय और आर्त्त-रौद्र ध्यान से दु:खोत्पादक पापकर्म बाँधा जाता है।

क्रोधो विजितदावाग्निः स्वस्यान्यस्य च घातकः।
दुर्गतेः कारणं क्रोधस्तस्माद्वर्ज्यो विवेकिभिः॥ 6॥

क्रोध दावानल से बढ़कर है क्योंकि वह अपना और दूसरे का विनाश करता है तथा दुर्गति का कारण भी है। अतएव विवेकवानों को क्रोध का त्याग करना चाहिए।

कुलजातितपोरूप बललाभ तश्रियाम्।
मदात्प्राप्नोति तान्येव प्राणी हीनानि मूढधीः॥ 7॥

वह मूढ़ मनुष्य है जो 1. कुल, 2. जाति, 3. तपस्या, 4. रूप, 5. बल, 6. लाभ, 7. शास्त्र और 8. वैभव का मद करता है। इस मद के कारण ये ही आठों वस्तुएँ अगले जन्म में वह बहुत हीन रूप में पाता है।

दौर्भाग्यजननी माया माया दुर्गतिवर्तनी।
नृणां स्त्रीत्वप्रदा माया ज्ञानिभिस्त्यज्यते ततः॥ 8॥

माया (कपटजाल) दुर्भाग्य को उत्पन्न करने वाली, दुर्गति में पहुँचाने वाली और पुरुष को स्त्री का जन्म देने वाली है। अतएव ज्ञानी पुरुष माया का त्याग करते हैं।

कज्जलेन सितं वासो दुग्धं सूक्तेन यादृशम्।
क्रियते गुणसङ्घातः पुसां लोभेन तादृशः॥ 9॥

जिस प्रकार श्वेत वस्त्र काजल में डालने से मलीन होते हैं और जैसे दूध फटने से बिगड़ जाता है, वैसे ही पुरुष के सब गुण लोभ के कारण मलीन और विकृत हो जाते हैं।

भवे कारागृहनिभे कषाया यामिका इव।
जीवः किं तेषु जाग्रत्सु मोक्षमाप्नोति बालिशः॥ 10॥

यह जगत् कारागार जैसा है और क्रोधादि चार कषाय यम तुल्य हैं। इसलिए जहाँ तक कषाय यम जाग्रत रहते हों, वहाँ तक जीव संसार रूपी कारागार से कैसे छूट सकता है?

शौर्यं गाम्भीर्यमौदार्यं ध्यानमध्ययनं तपः।
सकलं सफलं पुसां यदि चेन्द्रियनिग्रहः॥ 11॥

जिस व्यक्ति ने अपनी इन्द्रियों का निग्रह कर लिया हो उसका शौर्य, गम्भीरता, उदारता, शुभध्यान, अध्ययन और तपस्या– ये सारी ही बातें सफल कही जाती हैं।

अधुना पापफलमाह —

पापात्पङ्गुः कुणिः पापात्पापद्विषयलोलुपः।
दुर्भगः पुरुषः पापात्पापात्षण्ढश्च दृश्यते॥ 12॥

मनुष्य अपने पूर्वजन्म में किए गए पाप से पङ्गु, टूठ, बहुत विषयी, दुर्भाग्यशाली और नपुंसक होता है।

प्रेष्यः पापान्मली पापात्कुष्ठी पापाज्जनो भवेत्।
पापादस्फुटवाक्पापान्मूकः पापाच्च निर्धनः॥ 13॥

मनुष्य अपने पाप कर्मों से ही दूसरे का दास, मलीन, कुष्ठरोगी, अटककर बोलने वाला, गूँगा और दरिद्री होता है।

जायते नारकस्तिर्यगं कुलीनो विमूढधीः।
चतुर्वर्गफलैर्वन्ध्यो रोगग्रस्तश्च पापतः॥ 14॥

मनुष्य अपने पाप से ही नारकीय, तिर्यक्, हीन कुलगत, मतिमन्द और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष– इन चारों पुरुषार्थ से भ्रष्ट और रोगी होते हैं।

यदन्यदपि संसारे जीवः प्राप्नोत्यसुन्दरम्।
तत्समस्तं मनोदुःख हेतुः पापाविजृम्भितम्॥ 15॥

इस जगत् में अन्य भी जीव को जो बुरा और मन को कष्ट देने वाला होता है, ऐसे में सब पापों को कैसे जाना जा सकता है।

उपसंहरन्नाह —

इति गदितमशेषं कारणं पातकस्य
प्रतिफलमपि तस्य श्वभ्रपातादि दुष्टम्।
सकलसुखसमूहोल्लासकामैर्मनुष्यैर्न
खलु मनसि धार्यः पापहेतूपदेशः॥ 16॥

इस प्रकार से इस उल्लास में पापोत्पत्ति के कारण और उसके नरक में गिरने, दुष्ट फलादि को कहा गया है। जो पुरुष समस्त सुख-समुदायोदय की अभिलाषा करते हैं, उनको पाप के हेतुभूत मन्तव्यों को मन में धारण नहीं करना चाहिए।

इति श्रीजिनदत्तसूरि विरचित विवेकविलासे पापोत्पत्तिकारणं नाम नवमोल्लासः॥ 9॥

इस प्रकार श्रीजिनदत्तसूरि विरचित 'विवेक विलास' में पापोत्पत्तिकारण संज्ञक नवाँ उल्लास पूर्ण हुआ।

अथ धर्मोत्पत्तिप्रकरणं नामाख्यं दशमोल्लासः ॥ 10 ॥

अधुना धर्माचरणार्थोपदेशक्रमाह —

प्रत्यक्षमन्तरं दृष्ट्वा श्रुत्वा वा पापपुण्ययोः।
सदैव युज्यते कर्तुं धर्म एव विपश्चिता ॥ 1 ॥

पाप-पुण्य में विद्यमान अन्तर को प्रत्यक्ष देखकर अथवा गुरु के उपदेश से सुनकर चतुर सुजान को सदैव ही धर्माचरण करना चाहिए।

धिग्मूढान् जन्मिनो जन्म गमयन्ति निरर्थकम्।
धर्मानुष्ठानविकलं सुप्ता इव निशीथिनीम् ॥ 2 ॥

जिस प्रकार सोये-सोये व्यक्ति रात्रि व्यर्थ ही गँवाते हैं, उसी प्रकार जो धर्मानुष्ठान नहीं करते वे मनुष्य जन्म को व्यर्थ ही खो देते हैं, ऐसे मूढ़ लोगों को धिक्कार है।

नृपचित्तधनस्नेहदेहदुष्टजनायुषाम्।
विघ्नो विघटमानानां नास्त्यतो धर्ममाचरेत् ॥ 3 ॥

नृप का चित्त, धन, प्रीति, देह, दुर्जन और आयुष्य– ये वस्तुएँ विघटित नहीं हो, इसलिए धर्माचरण करना चाहिए।

धर्मोऽस्त्येव जगज्जैत्रः परलोकोऽस्ति निश्चितम्।
देवोऽस्ति तत्त्वमस्त्येव सत्त्वं नास्ति तु केवलम् ॥ 4 ॥

इस जग में जयदायी कर्म, परलोक, देव और तत्त्व– ये चारों ही हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है किन्तु पर मनुष्य में सत्त्व मात्र नहीं है।

कुगुरोः कुक्रियातश्च प्रत्यूहात्कालदोषतः।
न सिद्ध्यन्त्याप्तवाचश्चेत्तत्तासां किमु वाच्यते ॥ 5 ॥

बुरा गुरु होने से, कुक्रिया, पूर्वजन्म के प्रत्यूह-अन्तराय और कालदोष से आप्त वचनानुसार सिद्धि न मिले तो उसमें आप्त वचन का क्या दोष कहें?

अनल्पकुविकल्पस्य मनसः स्थिरता नृणाम्।
न जायते ततो देवाः कुतः स्युस्तद्वशंवदाः॥ 6॥

नाना प्रकार के अध्यवसाय से मनुष्यों के मन की स्थिरता नहीं रहती, झंझालों में वह उलझ जाता है। इससे देवता उसके वश कैसे हों?

आगताप्यन्तिकं सिद्धिर्विकल्पैर्नीयतेऽन्यतः।
अनादरवतां पार्श्वे कथं को वावतिष्ठते॥ 7॥

निकटस्थ सिद्धि भी अनुचित अध्यवसाय से अन्यत्र चली जाती है क्योंकि आदर नहीं करने वाले मनुष्य के पास कौन और कैसे ठहर सकता है?

धर्मप्रशंसामाह —

विश्वश्लाघ्यं कुलं धर्माद्धर्माज्जातिर्मनोरमा।
काम्यं रूपं भवेद्धर्माद्धर्मात्सौभाग्यमद्भुतम्॥ 8॥

धर्म से संसार में प्रशंसित कुल, उत्तम जाति, मनोहर रूप और आश्चर्यकारक सौभाग्य की प्राप्ति होती है।

नीरोगत्वं भवेद्धर्माद्धर्माद्दीर्घत्वमायुषः।
धर्मादर्थो भवेद्भोग्यो धर्माज्ज्ञानं वपुष्मताम्॥ 9॥

धर्म से ही मनुष्य को आरोग्य, दीर्घायु, भोगने के योग्य धन-वैभव और ज्ञान की प्राप्ति होती है।

मेघवृष्टिर्भवेद्धर्माद्धर्माद्दिव्येषु शुद्धयः।
धर्मान्मुद्रां समुद्रश्च नोज्झत्येव कदाचन॥ 10॥

धर्म से वृष्टि होती है, धर्म से दिव्य में शुद्धि होती है और धर्म से ही समुद्र कभी अपनी मर्यादा को किसी भी समय नहीं छोड़ता है।

धर्मप्रभावतो याति न रसापि रसातलम्।
धर्मार्थकाममोक्षाणां सिद्धिर्धर्माच्छरीरिणाम्॥ 11॥

धर्म के प्रभाव से पृथ्वी रसातल को नहीं जाती और धर्म से ही मनुष्य को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थ का फल मिलता है।

यदन्यदपि सद्वस्तु प्राप्नोति हृदयेप्सितम्।
जीवः स्वर्गापवर्गादि तत्सर्वं धर्मचेष्टितम्॥ 12॥

स्वर्ग, मोक्ष इत्यादि सहित अन्य कोई भी इच्छित वस्तु जीव को उपलब्ध होती है तो उस सबको धर्म के ही प्रभाव से प्राप्ति हुई, ऐसा जानना चाहिए।

धर्मस्यचतुर्प्रकारमाह —

दानशीलतपोभावैर्भेदौर्भिन्नः स दृश्यते।
कार्यस्ततः स एवहे मुक्तैर्यः कारणं परम्॥ 13॥

उक्त धर्म के दान, शील, तपस्या और भावना– ये चार प्रकार हैं और इनसे मुक्ति होती है। अतएव विवेकी पुरुषों को धर्म ही आचरण करना चाहिए।

श्रेष्ठो मे धर्म इत्युच्चैर्ब्रूते कः कोऽत्र नोद्धतः।
भेदो न ज्ञायते तस्य दूरस्थैराम्रनिम्बवत्॥ 14॥

ऐसा कौन व्यक्ति है जो कि 'मेरा धर्म श्रेष्ठ है' ऐसा नहीं कहता? किन्तु जिस प्रकार दूर खड़े मनुष्य से आम अथवा नीम का भेद नहीं जाना जा सकता, वैसे ही धर्म का भेद उस मनुष्य से नहीं जाना जा सकता।

मायाहङ्कारलज्जाभिः प्रत्युपक्रिययाथवा।
यत्किञ्चिद्दीयते दानं न तद्धर्मस्य साधकम्॥ 15॥

जो दान कपटपूर्वक, अहङ्कार से या उपकार का बदला चुकाने के प्रयोजन से दिया जाता है, उससे धर्म की सिद्धि नहीं होती है अर्थात् दान परोपकार की भावना से ही होना चाहिए।

असद्धयोऽपि च यद्दानं तन्न श्रेयस्करं विदुः।
दुग्धपानं भुजङ्गानां जायते विषवृद्धये॥ 16॥

कुपात्र को दान देना भी कल्याणकारक नहीं है क्योंकि साँप को दूध पिलाने से केवल विष की ही बढ़ोत्तरी होती है।

प्रसिद्धिर्जायते धर्मान्न दानाद्यं प्रसिद्धये।
कैश्चिद्वितीर्यते दानं तज्ज्ञेयं व्यसनं बुधैः॥ 17॥

धर्म से ही प्रसिद्धि होती है। केवल दान से ही प्रसिद्धि नहीं होती। कई लोग केवल प्रसिद्धि के अर्थ से दान देते हैं, इसे उनका एक व्यसन ही जानना चाहिए।

यज्ज्ञानाभययोर्यच्च धर्मोषष्टम्भवस्तुनः।
यच्चानुकम्पया दानं तदेव श्रेयसे भवेत्॥ 18॥

ज्ञान दान, अभय दान, धर्मोपकरण वस्तु का दान और अनुकम्पा दान– इन चारों ही दानों से कल्याण होता है।

स विवेकधुराद्धारधौरयो यः स्वमानसे।
विरक्तहृदयो वेत्ति ललनां शृङ्खलोपमाम्॥ 19॥

हृदय में वैराग्य होने से जो व्यक्ति स्त्री को बान्धने वाली बेड़ी के समान स्वीकारता हो, उस पुरुष को विवेकवान समझना चाहिए।

आस्तां सर्वपरित्यागालङ्कृतस्य महानुनेः।
गृहिणोऽपि हितं ब्रह्म लोकद्वयसुखेषिणः॥ 20॥

सर्वस्व त्यागी महामुनि की बात तो दूर रही परन्तु इस लोक और परलोक में सुख की इच्छा करने वाले गृहस्थों को भी ब्रह्मव्रत का पालन हितकारी है।

तिर्यग्देवासुरस्त्रीश्च परस्त्रीश्चापि यस्त्यजेत्।
सोऽपि धीमान् से तु स्तुत्यो यः स्वदाररतिः सदा॥ 21॥

जो मनुष्य अपनी स्त्री पर इच्छा रखकर तिर्यञ्च की, देवता की और भवनपति की स्त्रियों का और मनुष्य योनि में परस्त्री का त्याग करे वह बुद्धिमान और वही प्रशंसा करने के योग्य समझना चाहिए।

तनौ यदि नितम्बिन्याः प्रमादाद्दक्पतत्यहो।
चिन्तनीया तदैवात्र मलमूत्रादि संस्थितिः॥ 22॥

यदि कभी प्रमाद के कारण किसी स्त्री के शरीर पर दृष्टि चली जाए तो उसी समय उस स्त्री के शरीर में स्थित मल, मूत्र आदि बुरी वस्तुओं पर ध्यान देकर अपना ध्यान उसके सौन्दर्यादि से हटाना चाहिए।

अज्ञातपरमानन्दो लोकोऽयं विषयोन्मुखः।
अदृष्टनगरैर्ग्रामः पामरैरुपसर्प्यते॥ 23॥

परमानन्द स्वरूप को नहीं जानने वाले लोग विषय-सुख में डूबे रहते हैं, यह ठीक वैसे ही समझना चाहिए कि नगर दर्शन से वञ्चित लोग देखे हुए गाँव की ही प्रशंसा करते हैं।

परानन्दसुखास्वादी विषयर्नाभिभूयते।
जाङ्गुलीजयनिष्कम्पः किं सर्पैरुपसर्प्यते॥ 24॥

विषय कभी परमानन्द सुख को चखने वाले मनुष्य को अपने वशीभूत नहीं कर सकते हैं। गारुड़ी विद्या में निपुण मनुष्य के आगे सर्प अपने आप कैसे आएगा?

अथ बहिर्तप —

रसत्यागस्तनुक्लेश औनोदर्यमभोजनम्।
लीनता वृत्तिसङ्क्षेपस्तपः षोढा बहिर्भवम्॥ 25॥

ये छह प्रकार के बाह्य तप के कहे जाते हैं– 1. रसत्याग, 2. कायक्लेश, 3. ऊनोदरी (प्रमाण से अल्पाहार), 4. उपवास, 5. अङ्गोपाङ्ग सङ्कुचित कर बैठना और 6. वृत्तिसंक्षेप।

अन्तःतप —

प्रायश्चितं शुभध्यानं स्वाध्यायो विनयस्तथा।
वैयावृत्त्यमथोत्सर्गस्तपः षोढान्तरं भवेत्॥ 26॥

इसी प्रकार छह प्रकार के आन्तरिक तप कहे हैं—1. प्रायश्चित, 2. शुभध्यान, 3. स्वाध्याय, 4. विनय, 5., वैयावृत्त और 6. काउसग्ग।

दुःखव्यूहावहाराय सर्वेन्द्रियसमाधिका।
आरम्भपरिहारेण तपस्तप्येत शुद्धधीः॥ 27॥

अपने मन के परिणाम को शुद्ध रखने वाला मनुष्य सब इन्द्रियों को समाधि में रखकर सर्वारम्भों को त्यागकर दुःखों का समुदाय टालने के लिए तपस्या करता है।

पूजालाभप्रसिद्धयेथ तपस्तप्येत योऽल्पधीः।
शोष एव शरीरस्य न तस्य तपसः फलम्॥ 28॥

जो अल्प बुद्धि पूजनिक होने के लिए, लाभ के लिए अथवा प्रसिद्धि के लिए तपस्या करता है वह मात्र शरीर को सुखाता है। उसे तपस्या का फल नहीं मिलता है।

विवेकेन विना यच्च तत्तपस्तनुतापकृत्।
अज्ञानकष्टमेवेदं न भूरिफलदायकम्॥ 29॥

विवेक बिना तपस्या से मात्र शरीर का ताप होता है। यह केवल अज्ञान कष्ट ही होता है, इससे बहुफल लब्ध नहीं होता।

दृष्टिहीनस्य पङ्गोश्च संयोग गमनादिकम्।
यथा प्रवर्तते ज्ञानक्रियायोगे शिवं तथा॥ 30॥

अन्धा और विकलाङ्ग यदि मिल जाए वे एक दूसरे की सहायता से कहीं भी आ-जा सकते हैं, वैसे ही ज्ञान और क्रिया का योग होने से शिव या मोक्ष होता है।

शरीरं यौवनं वित्तं संयोगं च स्वभावतः।
इदं नित्यनित्यत्वा घ्रातं जानीहि सर्वतः॥ 31॥

हे जीव! यह सर्वथा जान लेना चाहिए कि शरीर, युवावस्था, धन और सब प्रकार के संयोग ये सब स्वभाव से ही अनित्य है।

शक्रचक्र्यादयोऽप्येते म्रियन्ते कालयोगतः।
तदत्र शरणं यातु कः कस्य मरणागमे॥ 32॥

यह भी निश्चित है कि इन्द्र व चक्रवर्ती भी काल की मर्यादा पूरी होने पर मरण पाते हैं। इसलिए जगत् में मृत्युकाल आने पर कौन किसके शरण जाता है?

अस्यार्थे दृष्टान्तमाह —

संसारनाटके जन्तुरुत्तमो मध्यमोऽधमः।
नटवत्कर्मसंयोगान्नानारूपो भवत्यहो॥ 33॥

संसाररूप नाटक में जीव एक नट के समान कर्मयोग के प्रभाव से उत्तम, मध्यम और अधम प्रकार के वेष को धारण करता रहता है, यह दुःखद स्थिति है।*

एक एव ध्रुवं जन्तुर्जायते म्रियतेऽपि च।
एक एव सुखं दुःखं भुण्क्ते चान्योऽस्ति नो सखा॥ 34॥

यह जीव अकेला ही है जो जन्म लेता है और सुख-दुःख भोगता है। अन्य कोई भी उसका सगा नहीं है।

देहार्थबन्धुमित्रादि सर्वमन्यन्मनस्विनः।
युज्यते नैव कुत्रापि शोकः कर्तुं विवेकिना॥ 35॥

विवेकी पुरुष देह, धन, बान्धव, मित्र आदि सब कुछ पराया समझते हैं। अतएव विवेकी पुरुष को देहादि के लिए शोक करना योग्य नहीं।

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थि मज्जशुक्रमये पुरे।
नवस्त्रोतः परीते च शौचं नास्ति कदाचन॥ 36॥

यह शरीर रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य– इन सात धातुओं से बना हुआ है और नवद्वार से वेष्टित है। ऐसे शरीर में किसी भी काल में पवित्रता नहीं होती है।

कषायैर्विषयैर्योगैः प्रमादैरङ्गिभिर्नवम्।
रौद्रार्त्तानियमाज्ञत्वैश्चात्रकर्मप्रबद्धयते॥ 37॥

जीव इस लोक में कषाय, विषय, योग, प्रमाद, रौद्रध्यान, आर्त्तध्यान, विरति के अभाव से और अज्ञान से सर्वदा नए कर्मों का बन्धन करता रहता है।

कर्मोत्पत्तिविधाताय संवराय नतोऽस्म्यहम्।
यश्छिनत्ति शमास्त्रेण शुभाशुभमयं द्रुमम्॥ 38॥

नए कर्म की उत्पत्ति को रोकने वाले संवर को मैं नमस्कार करता हूँ क्योंकि यह संवर समता रूपेण शस्त्र** से शुभाशुभ कर्म का छेदन कर डालता है।

---

* औपपातिकसूत्र में आया है— अच्छे कर्म के फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा होता है— सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवन्ति। दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवन्ति॥ (औपपातिक सूत्र)

**गीता में भी अद्भुत, अनन्त संसार रूप वृक्ष को विरक्ति के शस्त्र से काटकर ऐसे स्थान की खोज का निर्देश दिया गया है जहाँ जाकर पुनः संसार में लौटना नहीं पड़े—न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा। अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गाता न निर्वतन्ति भूयः। तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ (गीता 15, 3-4)

सुसंयमैर्विवेकाद्यैर कामोग्रतपोऽग्निना।
संसारकारणं कर्म जरणीयं महात्मभिः॥ 39॥

महापुरुषों को सुसंयम, विवेक और निष्काम तपस्या रूप अग्नि से संसार को बढ़ाने वाले कर्म की निर्जरा करनी चाहिए।

शरावसरञ्जनावज्जगत्स्वरूपमाह —

शरावसम्पुटाधस्थाधोमुखैकशरावत्।
पूर्ण चिन्त्यं जगद्द्रव्यैः स्थित्युत्पत्तिलयात्मभिः॥ 40॥

सीधा सकोरा (कुल्लड़) नीचे और औंधा सकोरा ऊपर रखा हो तो वह शराव सम्पुट कहलाता है। उस शराव सम्पुट के नीचे एक औंधा सकोरा रखा हो– इसी आकार में विद्यमान यह जगत्, उत्पत्ति, स्थिति और विलीन होने वाले जीव, अजीव आदि व्यों से परिपूर्ण है, साधक को ऐसा चिन्तन करना चाहिए।

सम्पूर्णेऽपि मनुष्यत्वे प्राप्ते जीवः श्रुतादिभिः।
आसन्नसिद्धिकः कश्चिद्बुद्ध्यते तत्त्वनिश्चयात्॥ 41॥

कोई एक ही आसन्न सिद्धि या जीव सम्पूर्ण इन्द्रिय वाले इस मनुष्य जन्म को पाकर श्रुत, गुरु आदि का योग मिलने पर तत्त्व-निश्चय करता हुआ बोधमय होता है।

श्रेष्ठो धर्मस्तपः क्षान्ति मादवार्जवसूनृतैः।
शौचाकिञ्चन्यकरुणा ब्रह्मत्यागैश्च सम्मतः॥ 42॥

जिसमें 1. तपस्या, 2. क्षमा, 3. कोमलता, 4. सरलता, 5. सत्यभाषण, 6. पवित्रता, 7. परिग्रह का त्याग, 8. दया, 9. ब्रह्मचर्य और दान की प्रवृत्ति ये दस वस्तु हो वह धर्म श्रेष्ठ कहलाता है।

भावनीयोः शुभैर्ध्यानैर्भव्यैर्द्वादश भावनाः।
एता हि भवनाशिन्यो भवन्ति भावनां किल॥ 43॥

भव्य जीवों को अपने जीवन में शुभ ध्यान से बारह भावनाएँ रखनी चाहिए क्योंकि वे भव्यजीव संसार का नाश करने वाले हैं।

गोदुग्धस्यार्कदुग्धस्य यद्वत्स्वादान्तरं महत्।
धर्मस्याप्यन्तरं तद्वत्फलेऽमुष्यापरस्य च॥ 44॥

जिस प्रकार गाय के दूध और मन्दार के दूध के स्वाद में अन्तर है वैसे ही उपर्युक्त धर्म में और अन्य धर्म की अवधारणा में भी अन्तर जानना चाहिए।

उपसंहरन्नाह —

इत्यनेन विधिना करोति यः कर्म धर्ममयमिद्धवासनः।
तस्य सूत्रयति मुक्तिकामिनीकण्ठकन्दलहठग्रहक्रियाम्॥ 45॥

(इस उल्लास के अन्त में युगप्रधान सूरिजी का कहना है) शुद्ध परिणाम वाला जो व्यक्ति उपर्युक्त रीति के अनुसार धर्मकृत्य पर विचार कर उसका सम्पादन करता है, उसके कण्ठ को मुक्ति रूपी रमणी हठात् आलिङ्गन करती है अर्थात् ऐसा साधक मुक्त हो जाता है।

इति श्रीजिनदत्तसूरिविरचिते विवेकविलासे धर्मोत्पत्तिप्रकरणं नाम दशमोल्लासः ॥ 10 ॥

इस प्रकार श्रीजिनदत्तसूरि विरचित 'विवेक विलास' में धर्मोत्पत्तिप्रकरण संज्ञक दसवाँ उल्लास पूर्ण हुआ।

अथ ध्यानस्वरूपनिरूपणं नामाख्यं एकादशोल्लासः ॥ 11 ॥

अधुना कायपञ्जरपालितोपदेशमाह—

पूर्वोक्तयत्नसन्दोहैः पालितं देहपञ्जरम्।
श्लाघ्यं स्याद्ब्रह्महंसस्य यष्ट्याधारो वृथान्यथा ॥ 1 ॥

संसार में जीवरूपी हंस के देहरूपी पिंजड़े का उपर्युक्त सम्पूर्ण यत्नों से पालन करना चाहिए, ऐसा प्रशंसा योग्य है। इसके बिना लकड़ी का आधार लेना निष्फल है।

मुग्धानां वर्द्धते क्षेत्रपात्राद्यैर्भववारिधिः।
धीमतामपि शास्त्रौघैरध्यात्मविकलैर्भृशम् ॥ 2 ॥

अनजान लोगों के प्रसङ्ग में यह संसारक्षेत्र पात्र इत्यादि वस्तुओं से बढ़ता जाता है और पण्डितों का संसार क्षेत्र तो अध्यात्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों से बढ़ता है।

किं रोमन्थनिभैः कार्यं बहुभिर्ग्रन्थगुम्फनैः।
विद्वद्भिस्तत्त्वमालोक्य मन्तर्ज्योतिमयं महत् ॥ 3 ॥

जुगाली करने की भाँति बहुत से ग्रन्थों की रचना से क्या लाभ है? पण्डित लोगों को तो शरीरस्थ दिव्य ज्योतिः रूप बृहद् जीवतत्त्व का विचार करना चाहिए।

जन्मान्तरसुसंस्कारात्प्रसादादथवा गुरोः।
केषां चिज्जायते तत्त्ववासना विशदात्मनाम् ॥ 4 ॥

पूर्वजन्म के शुभ संस्कार या सद्गुरु के प्रसाद से कई शुद्ध मन वाले मनुष्यों को तत्त्व के प्रति जिज्ञासा की वासना उत्पन्न होती है।

अहं बत सुखी दुःखी गौरः श्यामोऽदृढोऽदृढः।
ह्रस्वो दीर्घो युवा वृद्धो दुस्त्यजेयं कुवासना ॥ 5 ॥

मैं सुखी या दुःखी हूँ, गोरा या काला हूँ, सुदृढ़ या निर्बल हूँ, छोटा या लम्बा हूँ, तरुण या वृद्ध– ऐसी दुर्वासना (अध्यवसाय) प्रत्येक मनुष्य में रही हैं। सामान्यतया

उसका परित्याग करना कठिन ही है।

जातिपाखण्डयोर्येषां विकल्पाः सन्ति चेतसि।
वार्ताभिस्तैः श्रुतं तत्त्वं न पुनः परमार्थतः॥ 6॥

जिसके चित्त में जाति और पाखण्ड के विचार बसते हों, उन्होंने तत्त्व सुना हो तो सम्भवतः वार्ता के रूप में ही सुना होगा, परमार्थ के प्रयोजन से नहीं।

तावत्तत्त्वं कुतो यावद्भेदः स्वपरयोर्भवेत्।
नगरारण्ययोर्भेदे कथमेकत्ववासना॥ 7॥

जब तक स्व-पर भेद है, तब तक तत्त्व की बात कहाँ से होगी? जहाँ तक नगर और ग्राम में भेद दीखे, वहाँ तक ऐक्य बुद्धि कैसे कही जाएगी।

धर्मः पिता क्षमा माता कृपा भार्या गुणाः सुताः।
कुटुम्बं सुधियां सत्यमेतदन्ये तु विभ्रमाः॥ 8॥

सत्पुरुषों के लिए तो धर्म ही पिता, क्षमा ही माता, दया ही भार्या और सद्गुण ही पुत्र हैं। सत्पुरुषों का यही कुटुम्ब है। शेष समस्त बातें भ्रम मात्र हैं।

योगीवासस्य देहस्वरूपाह —

पादबन्धदृढं स्थूल कटीभागं भुजार्गलम्।
धातुभित्ति नवद्वारं देहं गेहं सुयोगिनः॥ 9॥

पाँव रूप सुदृढ़ पाये वाला, कटि रूप मध्य भाग वाला, भुजा रूप अर्गल वाला, सात धातु रूप भित्ति वाला और नव द्वार वाला– ऐसा शरीर ही सिद्धात्मा योगी का आवासगृह है।

समाधिस्थानलक्षणं —

कान्तं प्रशान्तमेकान्तं पवित्रं विपुलं समम्।
समाधिस्थानमन्वेष्यं सद्भिः साम्यस्य साधकम्॥ 10॥

मनोहर, शान्त, एकान्तप्रिय, पवित्र, विशाल और सीधा– ऐसा सम-साधक स्थान पुरुषों को समाधि साधना के लिए चयन करना चाहिए।*

---

* लिङ्गपुराण में आया है कि अग्नि के समीप में, जल में, शुष्क पत्तों के ढेर में, जन्तुओं से व्याप्त स्थान में, श्मशान, जीर्ण पशुशालाओं या गोष्ठ और चौराहे में, ध्वनि प्रदूषित स्थान में, भय से युक्त स्थान में, चैत्य और वल्मीक के सञ्चित स्थान में, अशुभ स्थान में, दुष्ट लोगों से घिरे हुए तथा मच्छर आदि से भरे हुए स्थान में कभी योग का अभ्यास नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार जहाँ अभ्यासी के देह में किसी भी प्रकार की बाधा हो, उस दशा में तथा किसी कारण से दुर्मन हो तो भी अभ्यास नहीं करे। (अभ्यास करने की दृष्टि से उपयुक्त स्थान निम्न हैं) किसी अच्छे गोपनीय स्थान, शुभ, रमणीक स्थान, पर्वत की गुफा, सुगुप्त शिव क्षेत्र, शिवोद्यान, वन, गृह, सुशुभ देश, एकान्त जहाँ कि कोई भी मनुष्य न हो, जीव जन्तुओं से रहित स्थान, अत्यन्त निर्मल स्थल, भली-भाँति लिपा-पुता

स्वस्थपुरुषलक्षणं —

समाग्निः समदोषश्च समधातुमलः पुमान्।
सुप्रसन्नेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्याभिधीयते॥ 11॥

जिसकी जठराग्नि, कफादि दोष, रसादि धातु और मल एक-सा हो अर्थात् वैद्यक शास्त्र में जिसका जितना प्रमाण बताया गया है वह उतने ही प्रमाण में हो और जिसकी इन्द्रियाँ और मन सुप्रसन्न हो– ऐसा पुरुष स्वस्थ कहलाता है।

ध्यानयोग्यपुरुषलक्षणं —

स्वस्थः पद्मासनासीनः संयमैकधुरन्धर।
क्रोधादिभिरनाक्रान्तः शीतोष्णाद्यैरनिर्जितः॥ 12॥
भोगेभ्यो विरतः काममात्मदेहेऽपि निःस्पृहः।
भूपतौ दुर्गते वापि सममानसवासनः॥ 13॥
समीरण इवाबाद्धः सानुमानिव निश्चलः।
इन्दुवज्जगदानन्दी शिशुवत्सरलाशयः॥ 14॥
सर्वक्रियासु निर्लेपः स्वस्मिन्नात्मावबोधकृत्।
जगदप्यात्मवज्जानन् कुर्वन्नाग्रमयं मनः॥ 15॥
मुक्तिमार्गरतो नित्यं संसाराच्च विरक्तिभाक्।
गीयते धर्मतत्वज्ञैर्धीमान् ध्यानक्रियोचितः॥ 16॥

धर्मतत्त्व के ज्ञाता पुरुष ऊपर कथनानुसार स्वस्थ, पद्मासनस्थ, इन्द्रियों को वश करने में निपुण, क्रोधादि कषायों के वशीभूत नहीं हुआ, शीतोष्ण आदि परिषह से सर्वथा अपराजित, विषयभोग से वैराग्यवान्, अपनी देह पर बिल्कुल इच्छा नहीं रखने वाला, राजा और रङ्क को समदृष्टि से देखने वाला, वायु के समान किसी जगह प्रतिबन्ध न रखने वाला, पर्वत के समान निश्चल, चन्द्रमा के समान जगत् को आनन्द देने वाला, शिशु के समान सरल स्वभावी, समस्त क्रियाओं में निर्लेप, अपने में अपने को जानने

तथा चित्रामों से मण्डित स्थान जो कि दर्पण के समान प्रतीति देता हो और जहाँ काले अगरु की सुवास हो, विभिन्न भाँति के पुष्पों से समाकीर्ण स्थल जिसमें ऊपर वितान की शोभा हो; फल, पल्लव तथा मूलयुक्त स्थान, कुश-पुष्पों से युक्त स्थान में भली प्रकार आसन पर स्थित होकर स्वयं परम प्रसन्न होते हुए, योग के अङ्गों का अभ्यास करना चाहिए। आरम्भ में, पहले गुरु को प्रणाम करे और बाद में शिव, देवी, तथा विनायक को प्रणाम करना चाहिए— अग्न्यभ्यासे जले वापि शुष्कपर्णचये तथा। जन्तुव्याप्ते श्मशाने च जीर्णगोष्ठे चतुष्पथे॥ सशब्दे सभये वापि चैत्यवल्मीकसङ्कये। अशुभे दुर्जनाक्रान्ते मशकादिसमन्विते॥ नाचरेद्देहबाधायां दौर्मनस्यादिसम्भवे। सुगुप्ते शुभे रम्ये गुहायां पर्वतस्य तु॥ भवक्षेत्रे सुगुप्ते वा भवारामे वनेपि वा। गृहे तु सुशुभे देशे विजने जन्तुवर्जिते॥ अत्यन्तनिर्मले सम्यक् सुप्रलिप्ते विचित्रिते। दर्पणोदरसंकाशे कृष्णागरुसुधूपिते॥ नानापुष्पसमाकीर्णे वितानोपरि शोभिते। फलपल्लवमूलाढ्ये कुशपुष्पसमन्विते॥ समासनस्थो योगाङ्गान्यभ्यसेद्धृषितः स्वयम्। प्रणिपत्य गुरुं पश्चाद्भवं देवीं विनायकम्॥ (लिङ्ग. पूर्व. 8, 79-85)

वाला, जगत् को आत्म तुल्य जानने वाला, मोक्षमार्ग में आसक्त और संसार से सर्वथा वैराग्यवान्—ऐसा बुद्धिमान पुरुष ध्यान करने के योग्य कहलाता है।*

विश्वं पश्यति शुद्धात्मा यद्यप्युन्मत्तसन्निभम्।
तथापि वचनैर्धीरो मर्यादां नैव लङ्घयेत्॥ 17॥

ऐसा साधक जो ध्यान में तल्लीन हुआ यद्यपि जगत् को उन्मत्त के समान जानता हो तब भी वह गम्भीर होने से वचन द्वारा मर्यादा को भङ्ग नहीं करता है।

कुलीनाः सुलभाः प्रायः शास्त्रशालिनः।
सुशीलाश्चापि सुलभा दुर्लभा भुवि तात्त्विकाः॥ 18॥

सम्भ्रान्त, पण्डित और सुशील पुरुष प्रायः सुखपूर्वक प्राप्त हो सकते हैं किन्तु तत्त्ववेत्ता पुरुष जगत् में दुर्लभ ही होते हैं।

अपमानादिकान् दोषान् मन्यते स पुमान् किल।
सविकल्पं मनो यस्य निर्विकल्पस्य ते कुतः॥ 19॥

जिस के हृदय में विकल्प हो ऐसा पुरुष अपमान आदि दोषों की परिगणना करता है किन्तु जिसने विकल्पों का परित्याग कर दिया हो, उसके लिए अपमानादि का कोई अर्थ नहीं है।

'मयि भक्तो जनः सर्व' इति हृष्येन्न साधकः।
'मय्यभक्तो जनः सर्व' इति कुप्येन्न वा पुनः॥ 20॥

साधक पुरुष 'मेरे सब लोग भक्त हैं' ऐसा जानकर कभी प्रमुदित नहीं होता और 'मेरा कोई भक्त नहीं' ऐसा जानकर कुपित भी नहीं होता है।

---

* गीता में ध्यान, योगाभ्यास की विधि इस प्रकार वर्णित है— योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः। एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः। उपविश्यासने यञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्। प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः। मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत मत्परः॥ युञ्जनेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः। शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ (गीता 6, 10-15)

इसी प्रकार योगी होने की पात्रता बताते हुए कहा गया है— नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः। न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन। युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते। निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ यथा दीपो निर्वातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता। योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया। यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्य-मतीन्द्रियम्। वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते। तं विद्याद्दुखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्॥ (तत्रैव 6, 16-23)

अन्तश्चित्तं न चेच्छुद्धं बहिः शौचे न शौचभाक्।
सुपक्वमपि निम्बस्य फलं बीजे कटु स्फुटम्॥ 21॥

यदि हृदय अन्तर से स्वच्छ नहीं हो तो केवल ऊपरी शुद्धता किस कार्य की है, क्योंकि पका हुए नीम के फल का बीज भी कटु ही होता है।

यस्यात्ममनसोर्भिन्नरुच्योर्मैत्री विवर्तते।
योगविघ्नैः समं मित्रैस्तस्येच्छा कौतुकस्य का॥ 22॥

जिस व्यक्ति की न्यारी-न्यारी रुचियों वाली आत्मा व मन के साथ मैत्री हो, उस साधक को योग में बाधक बनने वाले मित्रों के साथ कौतुक करने की अभिलाषा कहाँ से होती है?

योगीजनाः कालेन भक्ष्यते —

कालेन भक्ष्यते सर्वं स केनापि न भक्ष्यते।
अभक्ष्यभक्षको योगी येनासावपि भक्ष्यते॥ 23॥

काल ही समस्त वस्तुओं का भक्षण करता है परन्तु काल का कोई भक्षण करता। योगी तो उस काल का भी भक्षण करते हैं, इसलिए वे (योगी) अभक्ष वस्तु के भक्षक कहे जाते हैं।

या शक्यते न केनापि पातुं किल पराकला।
यस्तां पिबत्यविश्रान्तं स एवापेयपायकः॥ 24॥

जिसका कोई पान नहीं कर सकते, ऐसी पराकला (ब्रह्मामृत, खेचरी आदि मुद्राओं के सिद्ध होने पर कपाल कुहर से निःस्रत होने वाले अमृत) को योगी हमेशा पीते हैं, इसलिए योगी अपेय वस्तु पीने वाले कहे गए हैं।

अगम्यं परमं स्थानं यत्र गन्तुं न पार्यते।
तत्रापि लाघवाद्यच्छन्नगम्यगमो मतः॥ 25॥

जहाँ कोई पहुँच नहीं सकता, ऐसे परमपद रूप अगम्य स्थान को योगी तुरन्त चले जाते हैं, इस अर्थ में वे अगम्यगामी कहलाते हैं।

ब्रह्मात्मा तद्विचारी यो ब्रह्मचारी स उच्यते।
अमैथुनः पुनः स्थूलस्तादृक् षण्ढोऽपि यद्भवेत्॥ 26॥

आत्मा ब्रह्म कहलाता है और ब्रह्म का विचार करने वाला ही सच्चा ब्रह्मचारी* कहा जाता है परन्तु काम-भोग को वर्जित करने वाला मनुष्य मात्र स्थूल ब्रह्मचारी

---

* याज्ञवल्क्य का मत है कि सभी कालों में, सभी अवस्थाओं में और सभी स्थानों में मनसा-वाचा-कर्मणा भोगादि वृत्तियों से सर्वथा दूर रहने में सहायता करना ही ब्रह्मचर्य व्रत का लक्ष्य है—कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा। सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति)

कहा जाता है क्योंकि ऐसे गुण तो नपुंसक में भी होते हैं।

अनेकाकारतां धत्ते प्राणी कर्मवशं गतः।
कर्ममुक्तस्तु नो धत्ते तमेकाकारमादिशेत्॥ 27॥

यह सनातन सत्य है कि जीव कर्म के प्रभाव से ही अनेक आकार धारण करता है मगर मुक्त हुआ जीव ऐसा नहीं करता। अतएव उस मुक्त जीव को 'एकाकार' कहना चाहिए।

मैत्रीभावलक्षणं —

दुःखी किमपि कोऽप्यत्र पापं कोऽपि करोति किम्।
मुक्तिर्भवतु विश्वस्य मतिर्मैत्रीति कथ्यते॥ 28॥

ऐसी मति को 'मैत्री भावना' कहा जाता है जिसमें यह विचार किया जाता है कि 'इस जगत् में कोई भी जीव दुखी क्यों है; कोई भी जीव पाप क्यों करते हैं और सम्पूर्ण जगत् को मोक्षप्राप्ति हो तो अच्छा है।'

प्रमोदभावलक्षणं —

दोषनिर्मुक्तवृत्तानां धर्मसर्वस्वदर्शिनाम्।
योऽनुरागो गुणेषूच्चैः स प्रमोदः प्रकीर्तितः॥ 29॥

निर्दोष आचरण करने वाले और धर्म के सर्व स्वरूप के ज्ञाता सत्पुरुषों को जिस गुण पर राग हो वह 'प्रमोद भावना' कहलाती है।

करुणाभावलक्षणं.—

भीतार्त्तदीनलीनेषु जीवितार्थिषु वाञ्छितम्।
शक्त्या यत्पूर्यते नित्यं करुणा सात्र विश्रुता॥ 30॥

भयभीत, रोगी, दीन और लीन, जीवनार्थी जनोंकी इच्छाओं को यथाशक्ति पूर्ण करना 'करुणा भावना' है, ऐसा शास्त्र प्रसिद्ध है।

मध्यस्थभावलक्षणं —

मोहात्प्रद्विषतां धर्मं निर्भयं कुर्वतामघम्।
स्वश्लाघिनां च योपेक्षा माध्यस्थ्यं तदुदीरितम्॥ 31॥

मोह के कारण धर्म के द्वेषी, निडर होकर पाप करने वाले और अपने मुख से अपनी ही प्रशंसा करने वाले लोगों की उपेक्षा करनी चाहिए अर्थात् उनकी ओर ध्यान नहीं चाहिए– ऐसी 'मध्यस्थ् भावना' कही जाती है।

बहिरात्मान्तरात्माश्राह —

विभवश्च शरीरं च बहिरात्मा निगद्यते।
तदधिष्ठायको जीवस्त्वन्तरात्मा सकर्मकः॥ 32॥

वैभव और शरीर 'बहिरात्मा' कहलाती है और शरीर का अधिष्ठायक जीव 'अन्तरात्मा' है। यह जीव ही कर्म से बन्धा हुआ है।

परमात्मपरिभाषाह —

निरातङ्को निराकाङ्क्षो निर्विकल्पो निरञ्जनः।
परमात्माक्षयोऽत्यक्षो ज्ञेयोऽनन्तगुणोऽव्ययः॥ 33॥

भय, आकांक्षा, विकल्प और कर्म का आलेपन–जिसकी ये चार चीजें चली गईं; जिसके अनन्त गुण हो तथा जिसका क्षय नहीं हो, वह 'परमात्मा' कहलाता है।

यथा लोहं सुवर्णत्वं प्राप्नोत्यौषधयोगतः।
आत्मध्यानात्तथैवात्मा परमात्मत्वमश्नुते॥ 34॥

जिस प्रकार (प्राचीन काल में धातुवाद की मान्यता रही है) औषधीय योग से लोहे का सोना हो जाता है, वैसे ही परमात्मा के ध्यान से जीवात्मा स्वयं परमात्मा हो जाता है।

अध्यात्मवर्जितैर्ध्यानैः शास्त्रस्थैः फलमस्ति न।
भवेन्नहि फलैस्तृप्तिः पानीयप्रतिबिम्बितैः॥ 35॥

आत्म विचार के अभाव में केवल शास्त्र में वर्णित ध्यान से कुछ भी फल नहीं मिलता है, जिस प्रकार कि जल में प्रतिबिम्बित पेड़ के फल कभी तृप्ति नहीं देते।

चतुर्विधध्यानमाह —

रूपस्थं च पदस्थं च पिण्डस्थं रूपवर्जितम्।
ध्यानं चतुर्विधं प्रोक्तं संसारार्णवतारकम्॥ 36॥

ध्यान चार प्रकार का कहा गया है– 1. रूपस्थ, 2. पदस्थ, 3. पिण्डस्थ और 4. रूपातीत। इन चार प्रकार का ध्यान संसार-समुद्र से पार उतारने वाला कहा है।

पश्यति प्रथमं रूपं स्तौति ध्येयं ततः पदैः।
तन्मयः स्यात्ततः पिण्डे रूपातीतः क्रमाद्भवेत्॥ 38॥

साधक पहले ध्येय वस्तु का स्वरूप देखता है, फिर पद से उसकी स्तवना करता है, तदोपरान्त पिण्ड में तन्मय होता है और फिर क्रमशः रूपातीत होता है।

यथावस्थितमालम्ब्य रूपं त्रिजगदीशितुः।
क्रियते यन्मुदा ध्यानं तद्रूपस्थं निगद्यते॥ 38॥

त्रिलोकेश्वर (तीर्थङ्करदेव) का जैसा रूप है, उसी का आलम्बन लेकर हर्षपूर्वक ध्यानस्थ होना 'रूपस्थ' कहलाता है।

विद्यायां यदि वा मन्त्रे गुरुदेवस्तुसावपि।
पदस्थं कथ्यते ध्यानं पवित्रान्यस्तुतावपि॥ 39॥

विद्या में, मन्त्र, गुरु एवं देव की स्तुति में और अन्य किसी भी पवित्र वस्तु की स्तुति में लीन होना 'पदस्थ' ध्यान कहलाता है।

वर्णक्रमे मन्त्राक्षरध्यानफलोच्यते —

स्तम्भे सुवर्णवर्णानि वश्ये रक्तानि तानि च।
क्षोभे विद्रुमवर्णानि कृष्णवर्णानि मारणे॥ 40॥
द्वेषणे धूम्रवर्णानि शीशवर्णानि शान्तिके।
आकर्षेऽरुणवर्णानि स्मरेन्मन्त्राक्षराणि तु॥ 41॥

यदि साधक को स्तम्भन करना हो तो स्वर्ण जैसे पीत वर्ण; वशीकरण करना हो तो लाल; किसी को क्षोभ दिलाना हो तो विद्रुम; मारण का प्रयोजन काले, विद्वेषण करना हो तो धूम्र, शान्ति का प्रयोजन हो तो चन्द्र सम श्वेत-दूधिया और आकर्षण क्रिया करनी हो तो लाल मन्त्राक्षर को चिन्तवन करना चाहिए।*

यत्किञ्चन शरीरस्थं ध्यायते देवतादिकम्।
मन्मयीभावशुद्धं तत् पिण्डस्थं ध्यानमुच्यते॥ 42॥

पूरी तरह तन्मय भाव से शुद्ध ऐसा ध्यान जो शरीर में देवता आदि पर केन्द्रित हो, 'पिण्डस्थ' ध्यान कहलाता है।

आपूर्य वाममार्गेण शरीरं प्राणवायुना।
तेनैव रेचयित्वा च नयेद्ब्रह्मपदं मनः॥ 43॥

बायीं ओर से यदि प्राणवायु को खींचा हो तो पुनः उसी ओर से वायु का रेचन, निष्कास करे और इस विधि से प्रशान्त मन को ब्रह्मपद पर ले जाने का अभ्यास करना चाहिए।

अभ्यासाद्रेचकादीनां विनापीह स्वयं मरुत्।
स्थिरीभवेन्मनः स्थैर्याद्युक्तिर्नोक्ता ततः पृथक्॥ 44॥

यदि मन की स्थिरता हो तो रेचकादि के अभ्यास के बिना ही वायु स्वयं स्थिर होता है। अतएव वायु स्थिर करने की युक्ति पृथक् से नहीं कही गई।**

चञ्चल हि मनः —

---

* नाट्यशास्त्र में रसों के लिए रङ्गों के प्रयोग का निर्देश आया है। श्याम रङ्ग शृङ्गाररस के लिए, श्वेत-हास्य, कपोत-करुण, रक्त-रौद्र, गौर-वीर, कृष्ण-भयानक, नील-वीभत्स और पीत रङ्ग अद्भुत रस के लिए उपयोगी कहा गया है। (भारतीय लोकमाध्यम पृष्ठ 67)

**हठयोग में सामान्यतया आठ कुम्भक प्राणायाम बताए गए हैं— सूर्यभेदन, उज्जयि, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लावनी। लिङ्गपुराण में आया है कि प्राणायाम में पूरक-रेचक सहित सगर्भ, अगर्भ अर्थात् केवल सजप, विजप, इभ अथवा गज, शरभ, दुराधर्ष, केसरी, गृहीत और दम्यमान अपनी स्थिति के अनुसार होता है। उसी प्रकार से वायु अस्वस्थ होता है, तो योगियों को भी यह दुराधर्ष हो जाता है। न्याय के अनुसार जब यह सेव्यमान किया जाता है, तब वह स्वस्यता को प्राप्त है। जैसे दुर्मद मृगराज, नाग अथवा शरभ को रीतिपूर्वक ही अपने वश में किया

निमेषार्धार्धमात्रेण भुवनेषु भ्रमत्यहो।
मनश्चञ्चलसद्भावं युक्त्या भवति निश्चलम्॥ 45॥

चञ्चल स्वभाव का मन आधे निमेष में तीनों लोक में भ्रमण का सामर्थ्य रखता है तथापि वह युक्ति (अभ्यास और वैराग्य) से स्थिर हो जाता है, यह आश्चर्य ही है।

लीयते यत्र कुत्रापि स्वेच्छया चपलं मनः।
निराबाधं तथैवाशु व्यालतुल्यं हि वालितम्॥ 46॥

चञ्चल मन निर्बाध हो तो व्याल की तरह, स्वैच्छा से कहीं भी घुस सकता है और यदि रोका जाए तो उसी तरह से क्षोभित होता है।*

मनश्चक्षुरिदं यावदज्ञानतिमिरावृतम्।
तत्त्वं न वीक्ष्यते तावद्विषयेष्वेव मुह्यते॥ 47॥

यह मन रूपेण नेत्र जब तक अज्ञान रूपेण अन्धकार से लिपटा है, तब तक तत्त्व का दर्शन नहीं करता है, वह विषयों के जाल में ही उलझता रहता है।

जन्म मृत्युर्धनं दौस्थ्यं स्वे स्वे काले प्रवर्त्तते।
तदस्मिन् क्रियते हस्त चेतश्चिन्ता कथं त्वया॥ 48॥

जन्म, मरण, धन और दारिद्र्य– ये अपने-अपने अवसर पर साथ देते चलते हैं, अतएव हे मन! तू व्यर्थ ही इस सम्बन्ध में क्यों चिन्ता करता है।

यथा तिष्ठति निष्कम्पो दीपो निर्वातवेश्मगः।
तथेहापि पुपान्नित्यं क्षीणधिः सिद्धवत्सुधीः॥ 49॥

जिस प्रकार पवन रहित घर में दीपक स्थिर रहता है, वैसे ही पण्डित मन की समस्त वासनाओं का लय कर इस जगत् में सिद्ध की तरह निरन्तर स्थिर रहते हैं।**

जाता है, उसी तरह प्राणायाम के अभ्यास में विधिपूर्वक ही वायु को स्वस्थ दशा में लाया जाता है। किञ्चित् काल पर्यन्त परमादर के साथ योग का अभ्यास करने से इसका दमन सम्भव होता है और फिर सम्यग्ज्ञान होने से यह प्राण वायु स्वस्थता और समत्व को प्राप्त हो जाती है— सगर्भोऽगर्भ इत्युक्तः सजपो विजपः क्रमात्। इभो वा शरभो वापि दुराधर्षोऽथ केसरी॥ गृहीतो दम्यमानस्तु यथास्वस्थस्तु जायते। तथा समीरणोऽस्वस्थो दुराधर्षश्च योगिनाम्॥ न्यायतः सेव्यमानस्तु स एवं स्वस्थतां व्रजेत्। यथैव मृगराड्नागः शरभो वापि दुर्मदः॥ कालान्तरवशाद्योगाद्दम्यते परमादरात्। तथा परिचयात्स्वास्थ्यं समत्वं चाधिगच्छति॥ (लिङ्ग. पूर्व. 8, 51-54)

---

* गीता में भी कहा है—... न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्। चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः। वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ (6, 33-36)

**गीता में भी आया है— यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता। योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ (गीता. 6, 19)

विकल्पविरहादात्मज्योतिरुन्मेषवद्भवेत्।
तरङ्गविगमाद्दूरं स्फुटरत्न इवाम्बुधिः॥ 50॥

जिस प्रकार उछलती उर्मियों के ठहर जाने पर सागर के भीतर विद्यमान रत्नादि दिखाई दे सकते हैं, वैसे ही विकल्प का सर्वथा अभाव हो जाने पर चैतन्य ज्योति प्रकट होती है।

विषयेषु न युञ्जीत तेभ्यो नापि निवारयेत्।
इन्द्रियाणि मनः साम्याच्छाम्यन्ति स्वयमेव हि॥ 51॥

इन्द्रियों को विषयों में कभी जोड़े भी नहीं और रोके भी नहीं, क्योंकि मन में यदि साम्य हुआ तो इन्द्रियों की दौड-भाग स्वतः शान्त हो जाती है।

इन्द्रियाणि निजार्थेषु गच्छन्त्येव स्वभावतः।
स्वान्ते रागो विरागो वा निवार्यस्तत्र धीमता॥ 52॥

इन्द्रियाँ स्वाभाविक रूप से ही अपने-अपने विषय में विचरण करती हैं किन्तु विवेकी पुरुष को विषय के सम्बन्ध से मन में राग-द्वेष नहीं रखना चाहिए।

यातु नामेन्द्रियग्रामः स्वान्तादिष्टो यतस्ततः।
न वालनीयः पञ्चास्य सन्निभो वालितो भवेत्॥ 53॥

साधक के मन के अधिकार में रहा हुआ इन्द्रियों का समूह अपनी इच्छानुसार चाहे जिस विषय में जाए, उसे नहीं रोकना चाहिए। क्योंकि यदि हठात् रोका जाए तो सिंह की भाँति क्षोभ पाता है।

रूपातीत ध्यानमाह —

निर्लेपस्य निरूपस्य सिद्धस्य परमात्मनः।
चिदानन्दमयस्य स्याद्ध्यानं रूपविवर्जितम्॥ 54॥

कर्म लेप रहित, निराकार और चिदानन्दमय ऐसे सिद्ध परमात्मा का ध्यान करना 'रूपातीत' ध्यान कहलाता है।

स्वर्णादिबिम्बनिष्पतौ कृते निर्मदनेऽन्तरा।
ज्योतिःपूर्णे च संस्थान रूपातीतस्य कल्पना॥ 55॥

स्वर्णादि का बिम्ब-स्वरूप बनाया हो, उसके द्वार का अन्तर निकाल डाला हो और बिम्ब का स्थान ज्योतिपूर्ण है– ऐसे स्वरूप में रूपातीत की कल्पना होती है।

तत्त्वमाह —

यदृश्येत न तत्तत्त्वं यत्तत्त्वं तन्न दृश्यते।
देहात्मान्तर्द्वयोर्मध्यभावस्तत्त्वं विधीयते॥ 56॥

जो दिखाई देता है वह तत्त्व नहीं और जो तत्त्व है वह दीखता नहीं। शरीर

और आत्मा इन दोनों का मध्यस्थ भाव ही तत्त्व कहलाता है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञवर्णनं —

अलक्ष्यः पञ्चभिस्तावदिन्द्रियैनिकटैरपि।
स तु लक्षयते तानि क्षेत्रज्ञोऽलक्ष्य इत्यसौ॥ 57॥

निकटस्थ इन्द्रियाँ भी आत्मा को नहीं देख पातीं। परमात्मा इन्द्रियों को देखता है। अतएव आत्मा क्षेत्रज्ञ व अलक्ष (जो दीखता नहीं) कहलाता है।*

आगतं बीजमन्यस्य क्षेत्रेऽन्यस्य निधीयते।
चित्रं क्षेत्रज्ञ एवात्र प्ररोहति यदा तदा॥ 58॥

अन्य क्षेत्र का उगाया गया बीज किसी अन्य क्षेत्र में बोया जाता है और उस क्षेत्र में क्षेत्रज्ञ (क्षेत्र का जानकार, आत्मा) ऊगता है, यह बहुत आश्चर्यकारी है।

परमाणुरतिस्वल्पः खमतिव्यापकं किल।
तौ जितौ येन महात्म्यान्नमस्तस्मै परात्मने॥ 59॥

अति ही सूक्ष्म परमाणु और सर्वव्यापी आकाश– इन दोनों वस्तुओं को अपने माहात्म्य से विजय वाले परमात्मा को नमस्कार है।

आत्मद्रव्ये समीपस्थे योऽपरद्रव्यसम्मुखः।
भ्रान्त्या विलोकयत्यज्ञः कस्तस्माद्वालिशोऽपरः॥ 60॥

जो अनजान जीव आत्मरूप द्रव्य के अपने पास होते हुए भी अन्य द्रव्य (धन) की ओर भ्रान्तिपूर्वक देखता है, उसके जैसा अन्य कौन मूर्ख होगा?

परमात्मागस्त्यस्मृत्या चित्रं संसारसागरः।
असंशयं भवत्येव प्राणिननां चुलुकोपमः॥ 61॥

जो भव्य जीव हैं, उनके लिए परमात्मा रूप अगस्त्य ऋषि** के स्मरण से यह संसाररूप सागर निश्चय ही चुल्लूवत् हो जाता है, निश्चय ही यह बड़ा आश्चर्य है।

संसारमोक्षश्चाह —

आत्मानमेव संसारमाहुः कर्माभिवेष्टितम्।
तमेव कर्मनिर्मुक्तं साक्षान्मोक्षं मनस्विनः॥ 62॥

---

* गीता में भी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का वर्णन हुआ है।

**यह प्रसिद्ध है कि अगस्त्य मुनि के लिए समुद्र एक चुल्लू जितना हो गया था। वराहमिहिर ने कहा है कि अगस्त्य ने सूर्य-पथ को रोकने लिए बढ़ते विन्ध्याचल को रोक दिया, मुनियों का उदर विदीर्ण करने वाले, देवताओं के शत्रु वातापी राक्षस को पचा लिया व समुद्र का पान कर लिया— भानोर्वर्त्मविघातवृद्धशिखरो विन्ध्याचलः स्तम्भितो वातापिर्मुनिकुक्षिभित् सुरसिपुजीर्णश्च येनासुरः। पीतश्चाम्बुनिधिस्तपोम्बुनिधिना याम्या च दिग्भूषिता तस्यागस्त्यमुनेः पयोद्युतिकृतश्चारः समासादयम्॥ (बृहत्संहिता 12, 1 एवं समासंहितोक्त श्लोक, भट्टोत्पलीयविवृति में उद्धृत)

ज्ञानी पुरुष कर्म से परिवेष्टित जीव को ही संसार कहते हैं जबकि कर्म से रहित जीव को साक्षात् मोक्ष कहते हैं।

अयमात्मैव निःकर्मा केवलज्ञानभास्करः।
लोकालोकं यदा वेत्ति प्रोच्यते सर्वगस्तदा॥ 63॥

यह जीव ही कर्म से रहित होकर और केवल ज्ञान से सूर्यवत् होकर इहलोक-परलोक को जब जान लेता है तब वह 'सर्वगामी' कहलाता है।

शुभाशुभैः परिक्षीणैः कर्मभिः केवलो यदा।
एकाकी जायते शून्यः स एवात्मा प्रकीर्तित॥ 64॥

जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के अति ही क्षीण होने पर जब केवल एकाकी होता है तब वह 'शून्य' कहलाता है।

अथ आत्मध्यानमाह—

लिङ्गत्रयविनिर्मुक्तं सिद्धमेकं निरञ्जनम्।
निराश्रयं निराहारमात्मानं चिन्तयेद्बुधः॥ 65॥

सुज्ञ पुरुष को स्त्री-पुरुष-नपुंसक इन तीनों लिङ्गों से रहित, सिद्ध, एकात्म, निरञ्जन, निराश्रय, निराहार—ऐसे आत्मा का ध्यान करना चाहिए।

जितेन्द्रियत्वमारोग्यं गात्रलाघवमार्दवे।
मनोवचनवत्कायप्रसत्तिश्चेतनोदयः॥ 66॥
बुभुक्षामत्सरानङ्गमानमायाभयक्रुधाम्।
निद्रालोभादिकानां च नाशः स्यादात्मचिन्तनात्॥ 67॥

आत्मा का ध्यान करने से इन्द्रियाँ वशीभूत होती हैं; शरीर आरोग्य, हल्का होता है; कोमलता उत्पन्न होती है; मन, वचन और काया प्रसन्न होती है; चेतना का उदय होता है और क्षुधा, मत्सर-काम-विकार, अहङ्कार, कपट, भय, क्रोध, निद्रा और लोभ इत्यादि विकारों का विनाश होता है।

आत्मस्थस्थितिं —

लयस्थो दृश्यतेऽभ्यासाज्जागरूकोऽपि निश्चलः।
प्रसुप्त इव सानन्दो दर्शनात्परमात्मनः॥ 68॥

अभ्यास से ध्यानस्थ हुआ और परमात्म-दर्शन से आनन्दित जीव जागृत हो तो भी शयित की भाँति ही निश्चल रूप में दिखाई देता है।

मनोवचनकायनामारम्भो नैव सर्वथा।
कर्तव्यो निश्चलैर्भाव्यमौदासीन्यपरायणैः॥ 69॥

विवेकी पुरुषों को मन, वचन और काया से सर्वथा सब आरम्भों का वर्जन

करना चाहिए और सर्वत्र उदासीनता रखकर निश्चल रहना चाहिए।

पुण्यार्थमपि नारम्भं कुर्यान्मुक्तिपरायणः।
पुण्यपापक्षयान्मुक्तिः स्यादतः समतापरः॥ 70॥

मुक्ति के लिए प्रयत्न करने वाले पुरुष को पुण्य के लिए भी आरम्भ नहीं करना चाहिए। कारण यह है कि पुण्य और पाप समूल नष्ट हो तभी मुक्ति सम्भव है। अतएव दोनों में समता रखना श्रेयस्कर है।

संसारे यानि सौख्यानि तानि सर्वाणि यत्पुनः।
न किञ्चिदिव दृश्यन्ते तदौदासीन्यमाश्रयेत्॥ 71॥

इस संसार में जो कुछ सुख है, वह नहीं जैसा दिखाई देता है। अतएव जीव को उदासीनता ही अङ्गीकार करनी चाहिए।

वेदा यज्ञाश्च शास्त्राणि तपस्तीर्थानि संयमः।
समतायास्तुलां नैव यान्ति सर्वेऽपि मेलिताः॥ 72॥

यदि वेद, यज्ञ, शास्त्र, तपस्या, संयम– इन सब को एकत्रित करें तो भी वे सब समता की बराबरी नहीं कर सकते हैं।

एकवर्णं यथा दुग्धं बहुवर्णासु धेनुषु।
तथा धर्मस्य वैचित्र्यं तत्त्वमेकं परं पुनः॥ 73॥

जिस प्रकार नाना वर्णों की गायों का दूध एक ही वर्ण का होता है, वैसे ही धर्म के बाह्य स्वरूप अलग-अलग दिखाई देते हैं किन्तु उन सब में परमतत्त्व तो एक ही जानना चाहिए।

अधुना शङ्का —

आत्मानं मन्यते नैकश्चार्वाकस्तस्य वागियम्।
जतुंनीरन्धिते भाण्डे क्षिप्तश्चोरो मृतोऽथ सः॥ 74॥
निर्जगाम कथं तस्य जीवः प्रविविशुः कथम्।
अपरे कृमिरूपाश्च निश्छिद्रे तत्र वस्तुनि॥ 75॥

(यह शङ्का है) एक चार्वाक् (नास्तिक) मात्र जीव को नहीं मानता। उसका मत है कि 'मुखादि छिद्रों पर लाख चस्पाकर सुदृढ़, बन्द की हुई कोठी में चोर को रखा था, वह मर गया तो उस छिद्र रहित कोठी में से उसका जीव बाहर कैसे निकला? इसके अतिरिक्त उसके शरीर में कृमिरूप जीव पड़ गए थे, वे किस तरह भीतर गए?

उत्तरम् —

तथैव मुद्रिते भाण्डे क्षिप्तः शङ्खयुतो नरः।
शङ्खात्तद्वादितान्नादो निष्कामति कथं बहिः॥ 76॥

(उक्त शङ्का का उत्तर) जैसे कोठी में चोर रखा था, उसके बजाए हुए शङ्ख का नाद बाहर किस तरह निकला?

अग्निर्मूर्तः कथं घ्माते लोहगोले विशत्यहो।
अमूर्तस्यात्मनस्तत्किं विहन्येतां गमागमौ॥ 77॥

यह भी आश्चर्य है कि तपे हुए लोह के गोले में साकार अग्नि किस तरह प्रवेश करती है? ऐसे ही साकार वस्तु का प्रवेश-निर्गमन होता है तो फिर निराकार जीव है तो वह क्यों नहीं दिखाई देता?

पुनरपि शङ्का —

दस्योरन्यस्य काये च शतशः शकलीकृते।
न दृष्टः क्वचिदप्यात्मा सोऽस्ति चेत्कि न दृश्यते॥ 78॥

(पुनः शङ्का है) एक तस्कर के सैकड़ों टुकड़े कर डाले, तो भी जीव दिखाई नहीं देता, यदि जीव है तो वह दिखाई क्यों नहीं देता?

उत्तरम् —

खण्डितेऽप्यरणेः काष्ठे मूर्तो वह्निर्वसन्नपिः।
न दृष्टो दृश्यते किं वा जीवो मूर्तिविवर्जितः॥ 79॥

(उक्त शङ्का का उत्तर) अरणि के वृक्ष के काष्ट के टुकड़े कीजिये तो भी उसके भीतर विद्यमान साकार अग्नि नहीं दीखती। फिर, शरीर में रहा हुआ निराकार जीव कैसे दिखाई देगा।

अन्य शङ्का —

जीवन्नन्यतरश्चोरस्तोलितो मारितोऽथच।
श्वासरोधेन किं तस्य तोलने न घनोनता॥ 80॥

(अन्य शङ्का है) एक जीवित चोर का वजन किया और उसको श्वास रोककर मारने के बाद पुनः तौला किन्तु उसका भार कम-ज्यादा क्यों नहीं हुआ?

उत्तरम् —

दृतेः पूर्णस्य वातेन रिक्तस्यापि च तोलने।
तुला समा तथाङ्गस्य सात्मनोऽनात्मनोऽपि च॥ 81॥

(इसका उत्तर है) पानी की मशक वायु से भरी हुई हो या खाली हो उसे तौलिए, तौल में एक-सी होगी। वैसे ही शरीर जीव हो या न हो तो भी तौल में एक सा ही होगा।

अन्य शङ्का —

जलपिष्टादियोगस्य मद्यस्य मदशक्तिवत्।
अचेतनेभ्येश्चैतन्यं भूतेभ्यस्तद्वदेव हि॥ 82॥

(एक और शङ्का है) जिस प्रकार जल, आटा आदि वस्तु आदि के मिश्रण से मद्य में मादक शक्ति आती है, वैसे ही अचेतन पञ्च महाभूतों का मिश्रण होने से चैतन्य उत्पन्न होता है?

उत्तरम् —

शक्तिर्नविद्यते येषां भिन्नभिन्नस्थितिस्पृशाम्।
समुदायेऽपि नो तेषां शक्तिर्भीरुषु शौर्यवत्॥ 83॥

(इसका उत्तर है) वस्तुएँ अलग-अलग होने पर भी यदि उनमें शक्ति नहीं, वह शक्ति उन्हीं वस्तुओं के समुदाय में होती ही नहीं है। जिस प्रकार न्यारे-न्यारे रहनें वाले डरपोक लोगों में शौर्य नहीं पाया जाता, वैसे ही उनके समुदाय में भी शौर्य नहीं होता है।

प्रत्यक्षैकप्रमाणस्य नास्तिकस्य न गोचरः।
आत्मा ज्ञेयोऽनुमानाद्यैर्वायुः कम्पैः पटैरिव॥ 74॥

एक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकारने वाले नास्तिक को जीव का बोध नहीं होता है क्योंकि जैसे हिलने वाले वस्त्र पर से वायु की कल्पना की जा सकती है, वैसे ही जीव भी अनुमान भी करना चाहिए।

अङ्कुरः सुन्दरे बीजे सूर्यकान्ते च पावकः।
सलिलं चन्द्रकान्ते च युक्त्यात्माङ्गेऽपि साध्यते॥ 85॥

जिस प्रकार सुन्दर बीज में अङ्कुर, सूर्यकान्तमणि में अग्नि और चन्द्रकान्तमणि में जल कहा गया है और युक्ति से सिद्ध भी किया जाता है वैसे ही शरीर में जीवात्मा है जिसे भी युक्ति से ही सिद्ध किया जाता है।

प्रत्यक्षेण प्रमाणेन लक्ष्यते न जनैर्यदि।
तन्नास्तिक तवाङ्गे किं नास्ति बुद्धिः कुरूत्तरम्॥ 86॥

यदि तुम यह कहते हो कि 'लोगों को प्रत्यक्ष प्रमाण से जीव का बोध नही होता' तो हम पूछते हैं कि 'हे नास्तिक! तेरे शरीर में बुद्धि है कि नहीं बताओ?'

अप्रत्याक्षा तवाम्बा चेद्दूरदेशान्तरं गता।
जीवन्त्यपि मृता हन्त नास्ति नास्तिक सा कथम्॥ 87॥

हे नास्तिक! दूर देशान्तर में गमन कर चुकी तुम्हारी महतारी नहीं दीखती है तो क्या तुम्हारे मत से वह जीवित होते हुए भी मृत्यु को प्राप्त हो गई?

तिलकाष्ठपयः पुष्पेष्वासते क्रमशो यथा।
तैलाग्निघृतसौरभ्याण्येवमात्मापि विग्रहे॥ 88॥

जिस प्रकार तिल में तेल, काष्ठ में अग्नि, दूध में घृत और फल में सुगन्ध पाई जाती है, वैसे ही देह में जीवात्मा विद्यमान होता है।

जीवस्यलक्षणं —

अस्त्येव नियतो जीवो लक्षणैर्ज्ञायते पुनः।
सञ्ज्ञाविज्ञानचैतन्यचित्तप्रभृतिभिर्मृशम्॥ 89॥

नियमतः प्रत्येक जीवित शरीर में जीव है ही। वह संज्ञा, विज्ञान, चैतन्य, चित्त इत्यादि लक्षणों से ज्ञात होता है।.

पयः पान शिशोर्भीतिः सङ्कोचिन्यां च मैथुनम्।
अशोकेऽर्थग्रहो बिल्वे जीवे सञ्ज्ञाचतुष्टयम्॥ 90॥

शिशु में दूध को चूसने की, सङ्कोचिनी; वनस्पति में भय (लाजवन्ती की तरह); अशोक वृक्ष में (दोहदादि कारण से) मैथुन और बिल्व वृक्ष में (वर्षभर सार संग्रह से) धन संग्रह की प्रवृत्ति की भाँति जीव में भी चार संज्ञाएँ जाननी चाहिए।

इन्द्रियापेक्षया प्रायः स्तोकमस्तोकमेव च।
चराचरेषु जीवेषु चैतन्यमपि निश्चितम्॥ 91॥

स्थावर, जङ्गम जीवों में इन्द्रियों की अपेक्षा से थोड़ा अथवा अधिक चैतन्य प्रायः निश्चय है ही।*

---

* ग्रन्थकार का यह निर्देश वनस्पति में जीव की अवधारणा की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। जैन मत में यह अवधारणा सुदृढ़ता के साथ प्रकट की गई है। इसने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सामने एक आदर्श अनुसन्धान दृष्टि को भी प्रदर्शित किया है। आज का जीवविज्ञान, वनस्पति विज्ञान पौधों और पादपों में जिस श्वसन, जनन, परिवर्तन, परिवर्धन, मुकुलन, पल्लवन, नवीकरण, पोषण और रोग निराकरण की बात करता है, वह समग्र सम्प्रत्यय वृक्षायुर्वेद में सारतः निहित है। भारतीय ग्रन्थों के भुवनकोश और सृष्टि उत्पत्ति सम्बन्धी प्रकरणों में वृक्षोत्पत्ति को 'मुख्यसृष्टि' (मुख्य सर्ग) कहा गया है जिसका अर्थ प्रारम्भिक चैतन्य लिया जा सकता है— सर्वतस्तमसा चैव बीजकुम्भलता वृतः। बहिरन्तश्चाप्रकाशस्तथा निःसञ्ज्ञ एव च॥ यस्मात् तेषां कृताबुद्धिर्दुखानि करणानि च। तस्तात् ते संवृतात्मानो नगा मुख्या प्रकीर्तिता॥ (ब्रह्माण्डपुराण 1, 5, 33-34)

'विष्णुपुराण' में कहा गया है कि उद्भिद् (स्थावर) पाँच भागों में विभक्त है और अप्रतिबोधवान है, अर्थात् पेड़ों को स्वयं के विषय में जानकारी नहीं है। शब्दादि बाह्य विषयों के साथ ही सुख, आनन्द आदि भीतरी विषयों में भी यह प्राणी ज्ञान विहीन है। (विष्णुपुराण 1, 5, 6-7)

महाभारत में भी कहा गया है कि वृक्ष जीव है तथा उसका प्रादुर्भाव आकस्मिक होता है— भित्वा तु पृथिवी यानि जायन्ते कालपर्ययात् उद्भिज्जानि च तान्याहुर्भूतानि द्विजसत्तमा। इसका बोध शाङ्करभाष्य में है जहां वृक्षों को भूमि से उत्पन्न उद्भिद्य कहा गया है- भूमिं उद्भिद्य जायते वृक्षादिकम्। (शाङ्करभाष्य रत्नप्रभा 3, 2, 21)

वृक्षों में जीवन की धारणा यहीं नहीं रही, आगे बढ़ी और विभिन्न प्रकार से वृक्षों में जीवन के अकाट्य तर्क प्रस्तुत किए गए। यह भी कहा गया कि पेड़ कहने को स्थिर लगते हैं किन्तु वे चलिष्णु होते है, वे निरन्तर गतिशील होते हैं। उदयनाचार्य ने वृक्षों को 'अतिमन्द अन्तसंज्ञ' कहा और स्पष्ट किया कि मानव, प्राणियों की तरह ही वृक्ष में गति, जीवन, कर्म होता है। (किरणावली पृष्ठ 57)

अन्तरायत्रुटेर्ज्ञानं कियत्कापि प्रवर्तते।
मतिश्रुतप्रभृतिकं निर्मलं केवलावधि॥ 92॥

1. मति, 2. श्रुत, 3. अवधि, 4. मन:पर्यव और 5. केवल– इन पाँच निर्मल ज्ञानों में से कुछ ज्ञान कई बार किसी ज्ञानान्तराय के टूटने से होता है।

त्रिकालविषयव्यक्ति चिन्तासन्तानधारकम्।
नानाविकल्पसङ्कल्प रूपं चित्तं प्रवर्त्तते॥ 93॥

चित्त ही भूत-भविष्य-वर्तमान इन तीनों कालों, सन्तानादि की चिन्ता को धारण करने वाला और नानाविध सङ्कल्प-विकल्प रूप होता है।

नास्तिकस्यापि नास्त्येव प्रसरः प्रश्नकर्मणि।
नास्तिकत्वाभिमानस्तु केवलं बलवत्तरः॥ 94॥

वैसे नास्तिक को इस सम्बन्ध में प्रश्न करने का अवकाश नहीं ही है किन्तु उसे केवल नास्तिकत्व का अहङ्कार उत्तरोत्तर बलवान होता है।

उपसंहरन्नाह —

ध्यातुर्न प्रभवन्ति दुःखविषमव्याध्यादयः सिद्धिः
पाणितले स्थितेव पुरतः श्रेयांसि सर्वाण्यपि।
त्रुट्यन्ते च मृणालनालमिव वा मर्माणि दुष्कर्मणां
तेन ध्यानसमं न किञ्चन जने कर्तव्यमस्त्यद्भुतम्॥ 95॥

ध्यान करने वाले मनुष्य पर दु:ख, विषम व्याधि और मन के विकार अपना जोर नहीं चला सकते; सिद्धियाँ उनके हस्तामलकवत् होती है; समस्त कल्याण उनके सम्मुख चाकर के समान होते हैं और अनुचित कर्म के मर्म कमलतन्तु की तरह सहज में भग्न हो जाते हैं। अतएव जगत् में ध्यान जैसा आश्चर्यकारक कोई भी कर्त्तव्य नहीं है।

इति श्रीजिनदत्तसूरि विरचिते विवेकविलासे ध्यानस्वरूपनिरूपणं नामैकादशोल्लासः॥ 11॥

इस प्रकार श्रीजिनदत्तसूरि विरचित 'विवेक विलास' में ध्यान स्वरूप निरूपण संज्ञक ग्यारहवाँ उल्लास पूर्ण हुआ।

अथ परमपदनिरूपणं नामाख्यं द्वादशोल्लासः ॥ 12 ॥

अधुना कालादिविचारमाह —

दुःस्वप्नैः प्रकृतित्यागैर्दुर्निमित्तैश्च दुर्ग्रहैः।
हंसप्रचारान्यत्वैश्च ज्ञेयो मृत्युः समीपगः ॥ 1 ॥

बुरे स्वप्न देखकर, अपनी प्रकृति के अचानक बदलने से, बुरे निमित्त से, बुरे ग्रह से और हंसचार (स्वर सञ्चार) के परिवर्तन से आसन्न मृत्यु का लक्षण जानना चाहिए।

अन्त्यकाल कर्तव्यं —

प्रायश्चितं व्रतोच्चारं संन्यासं जन्तुमोचनम्।
गुरुदेवस्मृतिं मृत्यौ स्पृहयन्ति विवेकिनः ॥ 2 ॥

विवेकी पुरुष मृत्य के समीप आने पर प्रायश्चित (आलोचना), व्रताचार, संन्यास, जीवमोचन, और देव-गुरु का स्मरण—इन बातों की पालना अवश्य करते हैं।

अनार्त्तः शान्तिमान् मृत्यौ न तिर्यङ् नापि नारकः।
धर्मध्यानी सुरा मर्त्योऽनशनी त्वमरश्वेरः ॥ 3 ॥

जो व्यक्ति मरण-समय आर्त्त ध्यान नहीं करे और शान्ति में रहे, वह मनुष्य तिर्यञ्च या नरकगति में नहीं जाता; जो धर्म ध्यान करता है और अनशन करता वह देवताओं का स्वामी होता है।

तस्य तपसः सम्यक् पठितस्य श्रुतस्य च।
पालितस्य व्रतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना ॥ 4 ॥

अङ्गीकृत तपस्या, सम्यक् प्रकार से पठित शास्त्र और अच्छी तरह से पालित व्रत— इन तीनों का फल समाधिमरण होता है।

अजडेनापि मर्तव्यं जडेनापि हि सर्वथा।
अवश्यमेव मर्तव्यं किं बिभ्यति विवेकिनः ॥ 5 ॥

विद्वान् हो अथवा मूर्खमति, सभी जीवों का मरना तो निश्चित ही है। इसलिए विवेकी पुरुषों को भय या शोक किसलिए करना।*

सत्पुरुषस्वभावाह —

दित्सा स्वल्पधनस्याथावष्टम्भः कष्टितस्य च।
गतायुषोऽपि धीरत्वं स्वभावोऽयं महात्मनाम्॥ 6॥

अल्प धन होने पर भी दान करने की इच्छा, दुःख आने पर मन की स्थिरता और मृत्यु समीप आने पर भी धीरता रखना– ये सत्पुरुषों ये स्वभाव है।

नास्ति मृत्युसमं दुःखं संसारेऽत्र शरीरिणाम्।
ततः किंमपि तत्कार्यं येनैतन्न भवेत्पुनः॥ 7॥

जीवों को इस संसार में मरण के समान कोई अन्य दुःख नहीं। अतएव जिससे पुनः मरण न हो, ऐसा कुछ-न-कुछ कृत्य अवश्य करना चाहिए।

पुनश्चक्रशोचनीयं —

शुभं सर्वं समागच्छच्छ्लाघनीयं पुनः पुनः।
क्रियासमभिहारेण मरणं तु त्रपाकरम्॥ 8॥

समस्त शुभ प्रसङ्गों की पुनरावृत्ति हो, यह श्लाघनीय है किन्तु अविरत जीव को मरण बारम्बार होता है, यह खेदपूर्ण है।

सर्ववस्तुप्रभावज्ञैः सम्पन्नखिलवस्तुभिः।
आयुः प्रवर्धनोपायो जिनैर्नाज्ञापि तैरपि॥ 9॥

सर्ववस्तु-प्रभावज्ञ, निखिल वस्तु-सम्पन्न जिनदेव की जानकारी में भी आयुष्य बढ़ाने का उपाय नहीं आया, अर्थात् सर्व सम्पन्न भी आयु की मर्यादा का उलङ्घन नहीं करते।

सर्वेषां पूर्वजाः सर्वे नृणां तिष्ठन्तु दूरतः।
एकैकोऽपि स्थिरश्चेत्स्याल्लोकः पूर्येत तैरपि॥ 10॥

सब लोगों के समस्त पूर्वज तो दूर रहें किन्तु प्रत्येक वर्तमान जीव भी यदि जगत् में जीवित रहे (अर्थात् मरे नहीं) तो पूर्ण लोक उनसे भर जाए।

उपसंहरन्नाह —

आबाल्यात्सुकृतैः स्वजन्म सकलं कृत्वा कृतार्थं चिरं
धर्मध्यानविधानलीनमनसो मोहव्यपोहोद्यताः।

---

* कठोपनिषद में आया है— न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (कठ. 1, 2, 18 तुलनीय गीता 2, 20)

पर्यन्त प्रतिभाविशेषवशतो ज्ञात्वा निजस्यायुषः
कायत्यागमुपासते सुकृतिनः पूर्वोक्तया शिक्षया॥ 11॥

बाल्यावस्था से लेकर चिरकाल तक किए गए सुकृत से अपना जीवन सफल करके धर्म-ध्यान में अपना मन लगाए रखने वाले और मोह को नष्ट करने के लिए प्रयत्न करने वाले– ऐसे पुण्यशाली लोग अवसर आने पर अपने आयुष्य का अन्त विशेष ज्ञान से ज्ञातकर उपर्युक्त रीति से ही देह का विसर्जन करते हैं।

स श्रेष्ठः पुरुषाग्रणीः स सुभटोत्तंसः प्रशंसास्पदं
स प्राज्ञः स कलानिधिः स च मुनिः स क्ष्मातले योगवित्।
स ज्ञानी स गुणिव्रजस्य तिलकं जानाति यः स्वां मृतिं
निर्मोहः समुपार्जयत्यथ पदं लोकोत्तरं शाश्वतम्॥ 12॥

जो व्यक्ति अपना मरण जान ले और मोहनीय कर्म का अति क्षय कर लोक के अन्त में शाश्वतपद (मुक्तिपद) को पाते हैं, वे ही जगत् में श्रेष्ठ, मनुष्यों में शिरोमणि, सुभटों के अग्रसर, प्रशंसा के पात्र, पण्डित प्रवर, कला में कुशल, मुनिराज, योगी, ज्ञानी और गुणी लोगों में श्रेष्ठ होते हैं।

इति श्रीजिनदत्तसूरि विरचिते विवेकविलासे परमपदनिरूपणं नाम द्वादशोल्लासः॥ 12॥

इस प्रकार श्री जिनदत्तसूरि कृत 'विवेकविलास' में परमपद निरूपण संज्ञक बारहवाँ उल्लास पूर्ण हुआ।

अथ प्रशस्तिः

आस्ति प्रीतिपदं गच्छो जगतः सहकारवत्।
जनपुंस्कोकिलाकीर्णा वायडस्थानकस्थितिः॥ 1॥

आमवृक्ष के तुल्य इस जगत् में प्रीति प्रदायक और श्रेष्ठ पुरुष कोकिल पक्षी से व्याप्त ऐसा 'वायड' नामक गच्छ है।

अर्हन्मतपुरीवप्रस्तत्र श्रीराशिलः प्रभुः।
अनुल्लङ्घ्यः परैर्वादिवीरैः स्थैर्यगुणैकभूः॥ 2॥

उस वायड गच्छ में, अर्हत्मतरूप नगरी की सुरक्षा के प्रयोजन एक वप्र (परकोटा) तुल्य, वादीरूप शूरवीरों से अपराङ्गमुख रहने वाले और स्थिरतादि सद्गुणों के आश्रयस्थल, ऐसे राशिल प्रभु हुए।

गुणाः श्रीजीवदेवस्य प्रभोरद्भुतकेलयः।
विद्वज्जनशिरोदोलां यन्नोज्झन्ति कदाचन॥ 3॥

श्रीजीवदेव गुरुवर के गुणों की लीला कुछ अद्भुत ही है क्योंकि वे (गुण) विद्वज्जनों के सिर-स्वरूप हिन्दोल को कभी नहीं छोड़ते अर्थात् विद्वज्जन जिनकी सिर धुनकर सर्वदा प्रशंसा करते नहीं थकते हैं।

अस्ति तच्चरणोपास्ति सञ्जातस्वस्तिविस्तरः।
सूरिः श्रीजिनदत्ताख्यः ख्यातः सूरिषु भूरिषु॥ 4॥

(ऐसे विशेषणजयी) जीवदेव गुरुमहाराज के चरण सेवन से कल्याण की परम्परा प्राप्त श्रीजिनदत्तसूरि नामक आचार्य सब आचार्यों में प्रसिद्ध है।

चाहुमान्वयपोथोधि संवधर्नविधौ विधुः।
श्रीमानुदयसिंहोऽस्ति श्रीजाबालिपुराधिपः॥ 5॥

चाहुमान (चौहान) वंशरूप सागर को उल्लास देने के निमित्त चन्द्रमा के समान उदयसिंह नामक जाबालिपुर (जालोर, राजस्थान) का राजा है।

तस्य विश्वाससदनं कोशरक्षाविचक्षणः।
देवपालो माहामात्यः प्रज्ञानन्दनचन्दनः॥ 6॥

उक्त उदयसिंह भूपति का बहुत विश्वासपात्र और उसके भण्डार की रक्षा करने में निपुण 'देवपाल' नामक महामात्य है, जो बुद्धिरूप नन्दनवन में चन्दन जैसा अर्थात् बड़ा बुद्धिशाली है।

आधारः सर्वधर्माणामवधिर्ज्ञानशालिनाम्।
आस्थानं सर्वपुण्यानामाकरः सर्वसम्पदाम्॥ 7॥
प्रतिपन्नात्मजस्तस्य वायडान्वयसम्भवः।
धनपालः शुचिर्धीमान् विवेकोल्लासिमानसः॥ 8॥

सभी धर्मों का आधार, ज्ञानशाली लोगों में अग्रगण्य, समस्त पुण्यों का वासस्थल, समस्त सम्पदाओं का आकरस्थल– ऐसा पवित्र, बुद्धिमान, विवेक से विकास प्राप्त करने वाले मन का धारक और वायड वंश में उत्पन्न हुआ 'धनपाल' नामक देवपाल का प्रसिद्ध पुत्र हुआ।

तन्मनस्तोषपोषाय जिनोद्यैर्दत्तसूरिभिः।
श्रीविवेकविलासाख्यो ग्रन्थोऽयं निर्ममेऽनघः॥ 9॥

उक्त धनपाल के मन को सन्तुष्ट करने के निमित्त श्रीजिनदत्त सूरि ने इस 'विवेकविलास' संज्ञाभिधान वाले पवित्र ग्रन्थ की रचना की है।

देवः श्रीधरणो भुजङ्गमगुरुर्यावद्युगादिप्रभोः
श्रीमद्विश्वविदः प्रविस्फुरकलालङ्कारशृङ्गारिणः।
भक्तिव्यक्तिविशेषमेष कुरुते तावच्चिरं नन्दतात्
ग्रन्थोऽयं भृशमभ्यूहादरपरैः पापठ्यमानो बुधैः॥ 10॥

नागकुमार का स्वामी श्रीधरणेन्द्र देव, स्फुरण प्राप्तिरत सर्व कलाओं को शोभित करने वाली और सर्वज्ञ श्रीयुगादिप्रभु ऋषभ भगवान् की अतिशय भक्ति जहाँ तक प्रकट करता है, वहाँ तक पण्डित प्रवरों द्वारा आदरपूर्वक और बारम्बार पठन योग्य यह (विवेकविलास) ग्रन्थ चिरस्थायी हो।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः। शम्।

प्रमुख उपस्कारक ग्रन्थ सूची

अग्निपुराण : वेदव्यास कृत, सम्पादक व अनुवादक - तारिणीश झा एवं घनश्याम त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 1998 ई.

अद्भुतसागर : श्रीमद्बल्लालसेन विरचित, प्रभाकरी यन्त्रालय, काशी 1905 ई.; पुनर्सम्पादन एवं अनुवाद - डॉ. शिवाकान्त झा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी 2006 ई.

अपराजितपृच्छा : भुवनदेवाचार्यकृत, सम्पादक - पीए मनकड, बड़ौदा ऑरियण्टल इंस्टीट्यूट, बडोदरा, 1950 ई., पुनर्सम्पादन एवं हिन्दी अनुवाद - डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू' एवं प्रो. बीएल शर्मा, प्रकाशनाधीन.

आचारदिनकर : आचार्यवर्धमान सूरि कृत, अनुवादिका - साध्वी मोक्षरत्ना, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर, 2005-06 ई.

कामशास्त्र : यशोधरकृत जयमङ्गलाटीका सहित, सम्पादक - दुर्गाप्रसाद शर्मा, निर्णयसागर यन्त्रालय, मुम्बई 1900 ई.

कृत्यकल्पतरु : भट्ट श्रीलक्ष्मीधर विरचित, नवम भाग - प्रतिष्ठाकाण्ड, सम्पादक-के.वी. रङ्गास्वामी आयङ्गार, ऑरियण्टल इन्स्टिट्यूट, बडोदरा, 1997 ई.

काश्यपसंहिता : मुनि काश्यप कृत, भट्टोत्पल कृत बृहत्संहिता की विवृत्ति में उद्धृत एवं अन्य स्फुट श्लोकों की उपलब्धता.

क्षीरार्णव : विश्वकर्माकृत, सम्पादक - प्रभाशङ्कर ओघड़भाई सोमपुरा, गोरावाड़ी पालीताणा, 1967 ई.

गरुडपुराण : वेदव्यास प्रणीत, सम्पादक - आर. एन. शर्मा, नाग पब्लिकेशन, दिल्ली, 1996 ई., रामतेज पाण्डेय सम्पादित पाठ, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रण 1986 ई. एवं गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित संक्षिप्त अनुवाद 2000 ई.

गीता (श्रीमद्भगवद्गीता) : गीताप्रेस गोरखपुर संस्करण 1991 ई.

ग्रहलाघव : गणेशदैवज्ञ कृत, टीका - पण्डित रामस्वरूप, खेमराज श्रीकृष्णदास, मुम्बई, संस्करण 2001 ई.

ज्ञानप्रकाशदीपार्णव वास्तुशास्त्रम् : विश्वकर्मा भाषित, सम्पादक - प्रभाशङ्कर ओघड़भाई सोमपुरा, पालीताणा, संस्करण 1964 ई.

ज्योतिर्निबन्ध : शूरमहाठ श्रीशिवराज विनिर्मित, काशी से शिला मुद्रणविधि

से मुद्रित प्रकाशक - वे.शा. सं. रा. रा. विनायक शास्त्री शेवगाँवकर आदि, विक्रम संवत् 1834 तथा आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, पूना (क्रम 85), संशोधक - रङ्गनाथ शास्त्री व प्रकाशक - विनायक गणेश आपटे, संस्करण 1919 ई.

ज्योतिषरत्नमाला : श्रीपतिभट्टाचार्य प्रणीत, सम्पादक एवं व्याख्याकार - डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू', परिमल पब्लिकेशंस, शक्तिनगर, दिल्ली 2004 ई.

देवतामूर्तिप्रकरणम् : सूत्रधारमण्डन कृत, सम्पादक व अनुवादक - श्रीकृष्ण 'जुगनू', न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, जवाहरनगर, दिल्ली, 2003 ई.

नरपतिजयचर्यास्वरोदय : नरपति विरचित, व्याख्याकार - पण्डित गणेशदत्त पाठक, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, संस्करण 1999 ई.

नारदपुराण : वेदव्यास प्रणीत, कल्याण का विशेषाङ्क, सम्पादक - हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1954 ई. एवं मूलपाठ सहित अनुवाद - तारिणीश झा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 1989 ई.

नारदसंहिता : नारद प्रणीत, व्याख्याकार - पण्डित रामजन्म मिश्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, संस्करण 2001 ई. एवं पण्डित वसतीराम ज्योतिर्विद कृत भाषा टीका, खेमराज श्रीकृष्णदास, मुम्बई, संस्करण 1999 ई.

बृहज्जातकम् : वराहमिहिर विरचित, भाषाटीका - पण्डित महीधर, खेमराज श्रीकृष्णदास, मुम्बई, संस्करण 1999 ई.

बृहत्संहिता : वराहमिहिर विरचित तथा भट्टोत्पल विवृत्ति (भाग 1 एवं 2), महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी सम्पादित, पुनर्सम्पादन - डॉ. कृष्णचन्द्र द्विवेदी : सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, द्वितीय संस्करण 1997 ई.

बृहत्संहिता : वराहमिहिर विरचित, हिन्दी टीका - पण्डित अच्युतानन्द झा शर्मा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण 1997 ई.; दुर्गाप्रसाद द्वारा अनूदित संस्करण, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ 1884 ई.

बृहद्दैवज्ञरञ्जनम् : श्रीमद्रामदीनदैवज्ञकृत, खेमराज श्रीकृष्णदास, मुम्बई 1990 तथा डॉ. मुरलीधर चतुर्वेदी कृत श्रीधरी व्याख्या भाग 1-2, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, संस्करण 2001 ई.

बृहद्यात्रा (यक्ष्येश्वमेधीययात्रापरनाम्नी) : वराहमिहिरकृत, सम्पादक - डेविड् पिंगरी, बुलेटिन ऑफ द गवर्नमेंट ओरियण्टल मैन्यूस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास, वॉल्यूम 20, भाग 1-2 में प्रकाशित 1972 ई., पुनर्सम्पादन एवं हिन्दी टीका डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू', शीघ्र प्रकाशनाधीन.

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त : ब्रह्मगुप्त, सम्पादक एवं व्याख्याकार : सुधाकर द्विवेदी, हिन्दी अनुवाद : रामस्वरूप शर्मा, नईदिल्ली 1966 ई.

भागवतमहापुराण : वेदव्यास कृत, सम्पादक - हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस गोरखपुर, 1999 ई.

मत्स्यपुराण : वेदव्यास विरचित, गीताप्रेस गोरखपुर, कल्याण का सम्पूर्ण पाठ सहित विशेषाङ्क 1985 ई.; पुनर्प्रकाशन 2005 ई.

मनुस्मृति : मनु प्रणीत, जीवानन्द विद्यासागर, कोलकता, 1874 ई., हिन्दी अनुवादक-गणेशदत्त पाठक, ठाकुर प्रसाद एण्ड संस, वाराणसी, संस्करण 1991 ई.

मयूरचित्रम् : नारद मुनि प्रणीत, सम्पादक एवं अनुवादक - अनुभूति चौहान, परिमल पब्लिकेशंस, दिल्ली 2005 ई.

मानसोल्लास : भूलोकमल्ल सोमेश्वर विरचित तथा जी. के. श्रीगोण्डेकर सम्पादित, भाग 1, ऑरियण्टल इंस्टीट्यूट, बडोदरा, 1967 ई.

मार्कण्डेयपुराण : वेदव्यास प्रणीत, अनुवादक - धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ 1983 ई.

मुहूर्तकल्पद्रुम : विट्ठलदीक्षित कृत, सम्पादक व अनुवादक - डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू', चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2007 ई.

मुहूर्तगणपति : गणपति दैवज्ञकृत, सम्पादक - डॉ. मुरलीधर चतुर्वेदी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, संस्करण 1996 ई.

मुहूर्तचिन्तामणि : रामदैवज्ञ कृत तथा प्रमिताक्षरा टीका, सम्पादक - अनूप मिश्र, गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास, मुम्बई, संस्करण 1928 ई. गोविन्द दैवज्ञ कृत पीयूषधारा टीका सम्पादक - केदारदत्त जोशी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पुनर्मुद्रित संस्करण 1995 ई. तथा पीयूषधाराटीका, व्याख्याकार - पण्डित विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी, सम्पादक डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2000 ई.

यजुर्वेदसंहिता : सम्पादक - श्रीराम शर्मा आचार्य व भगवतीदेवी शर्मा, ब्रह्मवर्चस, शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार, षष्ठ आवृत्ति वि. सं. 2057.

युक्तिकल्पतरु : भोजदेवकृत, सम्पादक - ईश्वरचन्द्र शास्त्री, कोलकता संस्कृत सीरीज, क्रमाङ्क 1, कोलकाता, 1917 ई.

योगयात्रा : वराहमिहिर कृत, हरिनन्दन मिश्र कृत प्रकाशिका टीका, सम्पादक एवं अनुवादक-डॉ. सत्येन्द्र मिश्र, कृष्णदास अकादमी, बनारस, संस्करण 1999 ई.

राजमार्तण्ड : धाराधिप भोजराज कृत, द्रोणाग्रस्य अधःपुरे निवसतो चन्द्रावतौ तारावल्लभशर्मणा व्यलिलिखज्जैदेवशर्मा सम्पादित, खेमराज श्रीकृष्णदास, वेङ्कटेश्वर छापाखाना, मुम्बई, वि. सं. 1953 (1896 ई.) हिन्दी अनुवाद- श्रीकृष्ण 'जुगनू', प्रकाशनाधीन.

राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् : सूत्रधार मण्डन विरचित, सम्पादक - डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू', परिमल पब्लिकेशंस, शक्तिनगर, दिल्ली 2005 ई.

लीलावती : भास्कराचार्य कृत, अनुवादक - रामचन्द्र पाण्डेय, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1993 ई.

वशिष्ठसंहिता : वृद्धवशिष्ठ विरचित, खेमराज श्रीकृष्णदास, मुम्बई 1915 ई.

वायुपुराण : महर्षि वेदव्यास प्रणीत व अनुवादक - रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संस्करण 1987 ई.

वास्तुसौख्यम् : (टोडरानन्द अन्तर्गत), नीलकण्ठदैवज्ञ कृत, अनुवाद - पण्डित कमलकान्त शुक्ल, सम्पूर्णानन्द संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी, संस्करण 1995 ई.

विवाहवृन्दावनम् : औदिच्य केशवार्कदैवज्ञ विरचित तथा गणेशदैवज्ञकृत विवाहदीपिका व्याख्या, खेमराज श्रीकृष्णदास, मुम्बई, संस्करण 1909 ई. तथा हिन्दी व्याख्या डॉ. रामचन्द्र पाठक, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1992 ई.

विश्वकर्माप्रकाश : विश्वकर्मा कृत, अनुवाद - मिहिरचन्द्र, खेमराज कृष्णदास, मुम्बई, संस्करण 1998 ई.

विष्णुधर्मोत्तरपुराण : कृष्णद्वैपायनव्यास प्रणीत, सम्पादक - मधुसूदन माधव प्रसाद शर्मा, खेमराज श्रीकृष्णदास, प्रथम प्रकाशन 1912 ई. तथा नागशरणसिंह कृत भूमिका सहित संस्करण, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, पुनर्प्रकाशन 1997 ई.

वृक्षायुर्वेद : सुरपाल कृत, सम्पादक अनुवादक - श्रीकृष्ण 'जुगनू', चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, बनारस, 2004 ई.

शिल्पदीपक : सूत्रधार गङ्गाधर प्रणीत, सम्पादक - डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू', चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, बनारस, 2005 ई.

शिल्परत्नम् : श्रीकुमारविरचित, उत्तरभाग - सम्पादक टी. साम्बशिव शास्त्री, अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थमाला, क्रमाङ्क-75, राजकीय मुद्रणालय, त्रिवेन्द्रम्, 1925 ई.

षड्दर्शनसमुच्चय : गुणरत्नसूरिकृत तर्करत्नदीपिका, सोमतिलकसूरिकृत लघुवृत्ति व अज्ञातकर्तृक अवचूर्णि सहित, सम्पादक - डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, कॅनॉट प्लेस, नई दिल्ली, 1981 ई.

समरसार : रामचन्द्र सोमयाजी, भरत संस्कृत टीका, सम्पादक - विहारीलाल शर्मा 'वासिष्ठ', श्रीरणवीरकेन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू, संस्करण 1982 ई.

सिद्धान्तशिरोमणि : भास्कराचार्य, नरसिंह दैवज्ञ की विवृत्ति सहित, बनारस, 1981 ई. एवं डॉ. धूलिपाल अर्कसोमयाजी कृत आधुनिक खगोल शास्त्रानुसार

अंग्रेजी व्याख्या, राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, मानित विश्वविद्यालय, तिरुपति, 2000 ई.

सूर्यसिद्धान्त : परमेश्वरकृत व्याख्या, सम्पादक - के. एस. शुक्ला, लखनऊ, 1957 ई.; सटिप्पण अंग्रेजी अनुवाद - रेक्स ईबेंजर बर्जेस, सम्पादक - फणिन्द्रलाल गाङ्गुली, प्रथम प्रकाशन 1860, पुनर्मुद्रण इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, दिल्ली, 1977 ई.; वेङ्कटेश्वर प्रेस, मुम्बई, वि. सं. 1953; महावीरप्रसाद श्रीवास्तव कृत विज्ञानभाष्य, विज्ञान परिषद, इलाहाबाद, 1940 ई.; रङ्गनाथ विरचित गूढ़ार्थ प्रकाशिका व्याख्या, सम्पादक एवं टीकाकार - रामचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, बनारस 2000 ई. एवं ए. के. चक्रवर्ती सम्पादित संस्करण, एशियाटिक सोसायटी, पार्क स्ट्रीट कोलकाता, 2001 ई. (प्राचीन सूर्यसिद्धान्त पञ्चसिद्धान्तिका एवं अद्भुतसागर में स्फुटतः उद्धृत)

●●●

...पिछले फ्लैप का शेष

इस लक्षण-ज्ञानात्मक ग्रन्थ के श्लोकों की प्रामाणिकता का ही यह परिणाम है कि इसके श्लोक सायण माधवाचार्यकृत सर्वदर्शनसंग्रह (13-14वीं सदी), सूत्रधारमण्डन कृत वास्तुमण्डन (15वीं सदी, वर्धमानसूरी कृत आचारदिनकर (15वीं सदी), वासुदेवदैवज्ञ कृत वास्तुप्रदीप (16वीं सदी), सूत्रधार गोविन्दकृत उद्धारधोरणी (16वीं सदी), टोडरमल्ल के निर्देश पर नीलकण्ड द्वारा लिखित टोडरानन्द (16वीं सदी), मित्र मिश्र कृत वीर मित्रोदय के लक्षणप्रकाश (17वीं सदी) आदि में उद्धृत किए गए हैं। इसी प्रकार वास्तु, प्रतिमा सम्बन्धी कई मत चन्द्राङ्गज ठक्कर फेरु (14वीं सदी) के लिए निर्देशक बने हैं।

इस ग्रन्थ में तत्कालीन जीवन व संस्कृति की अच्छी झलक है। इसके सारे ही विषय रचनाकाल में तो उपयोगी थे ही आज भी इनका उपयोग किसी भी दृष्टि से कम नहीं है। प्रसङ्गतः सभी विषय जीवनोपयोगी हैं और सभी के लिए बहुत महत्व के हैं। ग्रन्थकार का यह मत वर्तमान में धार्मिक-साम्प्रदायिक एकता का महत्व प्रतिपादित करता है–ऐसा कौन व्यक्ति है जो कि 'मेरा धर्म श्रेष्ठ है' ऐसा नहीं कहता?किन्तु जिस प्रकार दूर खड़े मनुष्य से आम अथवा नीम का भेद नहीं जाना जा सकता, वैसे ही धर्म का भेद उस मनुष्य से नहीं जाना जा सकता–श्रेष्ठो मे धर्म इत्युच्चैर्ब्रूते कः कोऽत्र नोद्धतः। भेदो न ज्ञायते तस्य दूरस्थैराम्रनिम्बवत्॥ (10, 14)

श्रीकृष्ण 'जुगनू'

राजस्थान के चित्तौड़गढ़ जिले के आकोला गांव में 2 अक्टूबर, 1964 को संत-कवि मोहनलाल जी चौहान के घर जन्म। हिन्दी, अंग्रेजी और इतिहास में स्नातकोत्तर। राजस्थान की हीड़ गाथाओं पर पीएच.डी., पत्रकारिता में पी.जी. डिप्लोमा, बी.एड. और श्रव्य-दृश्य मीडिया दक्ष। सारी शिक्षा स्वयंपाठी स्तर पर। इतिहास-पुरातत्त्व, शिल्प-स्थापत्य, कला, शिक्षा, धर्म और संस्कृति जैसे विषयों के अध्ययन-अध्यापन, अनुसंधान और लेखन में गहरी रुचि। इन विषयों पर 1978 ई. से लेकर आज तक सात हजार से अधिक लेखों, शोधलेखों का देश-विदेश की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन। कई शिलालेखों का संपादन और अनुवाद। देश-विदेश के ग्रंथ भंडारों में मौजूद शताधिक भारतीय ज्ञान-विज्ञान की संस्कृत पांडुलिपियों का पाठ संपादन और अनुवाद। कई पुस्तकों पर विश्व विद्यालयों में शोधकार्य संपन्न। काव्यपाठ आदि का आकाशवाणी और दूरदर्शन से प्रसारण।

प्रकाशित पुस्तकें (मौलिक) : भलाभाई-बुराभाई, लिछमी पण म्हारी लिछमण कार (राजस्थानी काव्य संग्रह), कला की कालकथा, मन्दिर श्रीअंबामाताजी उदयपुर, मेवाड़ का प्रारंभिक इतिहास, वास्तु एवं शिला चयन, महाराणा प्रताप का युग, राजस्थान की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, राजस्थान के प्राचीन अभिलेख इत्यादि।

संपादन और अनुवाद : महाराणा प्रताप का दरबारी पंडित चक्रपाणि मिश्र और उसका साहित्य, ज्योतिष रत्नमाला, वृक्षायुर्वेद, मनुष्यालय चन्द्रिका वास्तुसार मण्डनम्, आयतत्त्वम्, चित्रलक्षणम्, राजवल्लभ वास्तुशास्त्रम्, प्रासाद मण्डनम्, देवता मूर्ति प्रकरणम्-रूप मण्डनम्, वास्तु मण्डनम्, वास्तु मंजरी, कलानिधिण वास्तुद्वार धोरणी मुहूर्त कल्पद्रुम, मुहूर्त दीपक, शिल्प शास्तम्, वास्तु विद्या, प्रणाम मंजरी, मयमतम्, शिल्पशास्त्रे आयुर्वेद, ज्योतिष वृत्तशतम्, श्रीमद्योगगीता, कलाविलास, विवेकविलास, वास्तु रत्नावली, एकलिंग पुराण, अपराजित पृच्छा, राजमार्तण्ड, राजमृगांक, समराङ्गण सूत्रधार, बृहत्संहिता, आत्रेय तिलक इत्यादि 80 पुस्तकें प्रकाशित।

सम्मान : राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर से नवोदित प्रतिभा प्रोत्साहन पुरस्कार (1982 ई.); साहित्य मंडल नाथद्वारा से हिंदी सेवी सम्मान (2003 ई.); महाराणा मेवाड़ फाउंडेशन, उदयपुर से महाराणा कुंभा सम्मान (2008 ई.); त्रिवेदी ब्राह्मण मेवाड़ समाज संस्थान, बड़ौदा (2011 ई.); भारतीय भाषा संसद, कोलकाता और जय स्मिता वास्तु प्रतिष्ठान, गोवा (2012 ई.); राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर से पं. जगन्नाथ सम्राट सम्मान (2013 ई.); राजस्थान के राज्यपाल द्वारा राज्य स्तरीय शिक्षक सम्मान (2013 ई.); राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नयी दिल्ली द्वारा विशिष्ट संस्कृत सेवाव्रती सम्मान (2014 ई.); राष्ट्रपति महोदय द्वारा राष्ट्रीय शिक्षक सम्मान, (2014 ई.) इत्यादि अन्य कई सम्मान।

निवास : 40 राजश्री कॉलोनी, विनायक नगर, उदयपुर-313001 skjugnu@gmail.com

ISBN : 81-903483-8-6

आर्यावर्त्त संस्कृति संस्थान

दिल्ली-110094 मो. : 09868584456